।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।
संजीवनी-सुधा
मामेकं शरणं व्रज
परमश्रद्धेय
स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज
द्वारा रचित 'साधक संजीवनी' पर आधारित

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

संजीवनी-सुधा

(संजीवनी-कोशसहित)

(परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीताकी टीका 'साधक-संजीवनी' पर आधारित)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

संकलनकर्ता—
राजेन्द्र कुमार धवन

प्रकाशक—गीता प्रकाशन,
गीता-सत्संग-मण्डल,
कसौधन पंचायती मन्दिर (हरिवंश गली),
गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)
सम्पर्क-सूत्र—093 895 93 845; radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

विषय-सूची

❋❋❋

संजीवनी-कोश

***

संकेत-सूची—

अव.—अवतरणिका

अ.सा.—अध्यायका सार

टि.—टिप्पणी

दे.—देखें

न.नि.—साधक-संजीवनी परिशिष्टका नम्र निवेदन

परि.—परिशिष्ट

पु.—पुष्पिका

प्रा.—प्राक्कथन

मा.—मार्मिक बात

वि.—विशेष बात

सं.—सम्बन्ध

आवश्यक निर्देश—

१. 'साधक-संजीवनी' में गीताके जिस अध्याय तथा श्लोककी व्याख्यासे विषय लिया गया है, उस अध्याय तथा श्लोक-संख्याको विषयके अन्तमें कोष्ठकके अन्तर्गत दिया गया है। उदाहरणार्थ, (१०।२)-का तात्पर्य है—गीताके दसवें अध्यायके दूसरे श्लोककी व्याख्या।

२. जिस वाक्यमें अपनी ओरसे स्पष्टीकरणके लिये कुछ जोड़ा गया है, उसे सर्पाकार कोष्ठक के भीतर लिखा गया है।

३. 'विषयानुक्रमणिका' में जहाँ केवल श्लोक-संख्या दी गयी है, वहाँ परिशिष्टको भी उसके अन्तर्गत समझना चाहिये।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्राक्कथन

साधक-संजीवनि सुखद, सज्जन जीवन प्रान।
गरल-जलधि कलिकाल महुँ, निकसै अमिय महान॥
अनुभवसिद्ध सरल अमल, समन सकल भवरोग।
बरनहिं साधन-मरमु सब, सहज सधत सब जोग॥
साधन-पथ बाधा समन, बढ़हिं विवेक बिचार।
भव परिहरि हरि सुलभ करि, साधक रुचि अनुसार॥
प्रगट भयहु जग जीव हित, मधुर सजीवनि मूर।
नासहिं अघ तम बिबिधि बिधि, सोभहिं जिमि नभ सूर॥

तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त तथा भगवत्प्रेमी महापुरुष परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज इस युगके एक महान् संत हुए हैं। कम-से-कम समयमें तथा सुगम-से-सुगम उपायसे मनुष्यमात्रका कैसे कल्याण हो—यही उनका एकमात्र लक्ष्य था और इसीकी खोजमें वे जीवनभर लगे रहे। इस विषयमें उन्होंने नये-नये अनेक क्रान्तिकारी विलक्षण उपायोंकी खोज की और उन्हें अपने प्रवचनों एवं लेखोंके द्वारा जन-जनतक पहुँचाया। जैसे भौतिक जगत्‌में नित्य नये-नये आविष्कार होते रहते हैं, ऐसे ही उन्होंने आध्यात्मिक जगत्‌में भी नये-नये आविष्कार किये। किसी मत, वाद, सम्प्रदाय आदिका आग्रह न रखते हुए उन्होंने जैसा अनुभव किया, उसीका प्रचार किया। आध्यात्मिक मार्गके गूढ़, जटिल तथा ऊँचे-से-ऊँचे विषयोंका उन्होंने जनसाधारणके सामने बड़ी सरल रीतिसे विवेचन किया, जिससे साधारण पढ़ा-लिखा मनुष्य भी उन्हें सुगमतासे समझ सके और अपने जीवनमें उतार सके। उन्होंने साधनकी 'करणनिरपेक्ष शैली' का तथा '**वासुदेवः सर्वम्**' का उपदेश देकर मानवमात्रके कल्याणका जो सुगम मार्ग अनावृत किया है, उसके लिये विश्व युग-युगान्तरतक उनका ऋणी रहेगा। उनका सम्पूर्ण जीवन श्रीमद्भगवद्गीताके अध्ययन-मननमें ही बीता। गीता उनके रोम-रोममें बसी हुई थी। वे साक्षात् गीताकी मूर्ति थे। सम्पूर्ण मनुष्योंके कल्याणार्थ उन्होंने गीतापर जो '**साधक-संजीवनी**' टीका लिखी है, वह अभूतपूर्व तथा अद्वितीय है और उनके द्वारा विश्वको दी गयी एक अनूठी देन है।

फारसी भाषाके प्रसिद्ध कवि फिरदौसीद्वारा रचित महाकाव्य 'शाहनामा' में एक ऐतिहासिक घटनाका विवरण आता है। छठी शताब्दीमें फारस (ईरान) के एक बादशाह हुए—नौशेरवाँ। उनके मुख्य हकीमका नाम बरजोई था। एक दिन बरजोईने बादशाहसे कहा कि मुझे भारतके हिमालय पर्वतपर पायी जानेवाली

'संजीवनी' नामकी एक ऐसी आश्चर्यजनक बूटीके बारेमें पता चला है जो मुर्देको भी जीवित कर सकती है! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं खुद वहाँ जाऊँ और उस बूटीको अपने मुल्कमें लेकर आऊँ। बादशाहने तत्काल आज्ञा दे दी और उसकी यात्राकी पूरी व्यवस्था कर दी। इसके साथ ही बादशाहने अपने एक मित्र भारतीय राजाको भी बरजोईकी आवश्यक सहायता करनेके लिये पत्र लिख दिया। बरजोईके भारत पहुँचनेपर उस भारतीय राजाने उसकी हिमालय-यात्राकी पूरी व्यवस्था कर दी और कुछ व्यक्तियोंको भी उसके साथ भेज दिया। बरजोई हिमालयमें जाकर कई दिनोंतक संजीवनी बूटीकी खोज करता रहा, पर उसे कहीं मिली नहीं। बरजोई निराश होकर लौट आया। उसे यह चिंता सताने लगी कि अपने मुल्क जाकर मैं बादशाहको क्या जवाब दूँगा? इस समस्याके समाधानके लिये उसने अपने भारतीय मित्रोंसे सलाह की। एक भारतीयने उससे कहा कि हमारे नगरमें एक बड़े वृद्ध ज्ञानी महापुरुष रहते हैं। हम उनके पास चलते हैं। शायद उनके पास जानेसे हमारी समस्या हल हो जाय। वे दोनों उस महापुरुषकी कुटियामें पहुँचे। बरजोईने उस महापुरुषको अपने भारत आनेकी सारी बात सुनायी और उनके सामने अपनी समस्या रखी। वे महापुरुष बोले कि बेटा, तुमने समझनेमें भूल की! वास्तवमें तत्त्वज्ञ महापुरुष ही 'हिमालय' है और उनसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही 'संजीवनी बूटी' है, जिससे अज्ञानमें पड़ा मृतप्राय जीव भी जीवित, प्रबुद्ध हो जाता है। यदि तुम्हें वास्तवमें 'संजीवनी बूटी' प्राप्त करनी हो तो तुम उस ज्ञानको प्राप्त करो।

उपर्युक्त इतिहास देनेका प्रयोजन इतना ही है कि वर्तमान युगमें श्रीस्वामीजी महाराजने विश्वको 'साधक-संजीवनी' के रूपमें ऐसी अद्भुत संजीवनी बूटी प्रदान की है, जो युग-युगान्तरतक अज्ञानमें पड़े मृतप्राय जीवोंको जीवन-दान देती रहेगी।

बाल्यावस्थासे ही श्रीस्वामीजी महाराजकी गीतामें विशेष रुचि रही। लगभग बारह वर्षकी अवस्थामें (वि०सं० १९७२ में) जब श्रीस्वामीजी महाराजने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया, तब गुरुजनोंने भी सर्वप्रथम गीताका '**न तद्भासयते सूर्यो.....**' (१५।६)—यह श्लोक सिखाया। वि० सं० १९७४ में पं० जीवनराम हर्षने 'जीवनराम प्रेस' खोली, तो श्रीस्वामीजी महाराजके मनमें आया कि मेरा वश चले तो मैं भी 'गीताप्रेस' नामसे एक प्रेस खोलूँ। आश्चर्यकी बात है कि गीतागायक प्रभुने श्रीस्वामीजी महाराजका वह संकल्प पूरा कर दिया और आगे चलकर वि०सं० १९८० (सन् १९२३)-में परमश्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने 'गीताप्रेस' की स्थापना कर दी! श्रीस्वामीजी महाराजका गीता-विषयक अभ्यास इतना विशेष था कि वि० सं० १९८४ में जब उन्होंने गीताको कण्ठस्थ करनेका विचार किया तो उन्हें गीता स्वत: कण्ठस्थ मिली। वि० सं० १९८४ में ही श्रीस्वामीजी महाराजने गीतापर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया।

श्रीस्वामीजी महाराजका गीता-विषयक ज्ञान अगाध था। परन्तु गीतापर टीका लिखनेका उनका कोई विचार नहीं था। साधकोंके विशेष आग्रहसे ही वे टीका लिखवानेके लिये तैयार हुए। सर्वप्रथम कलकत्तेके उद्योगपति श्रीरामप्रसादजी मूँधड़ाने हठ करके श्रीस्वामीजी महाराजसे गीताके बारहवें अध्यायकी टीका लिखवायी। उन्होंने एक सत्संगी भाईको कलम-कागज देकर श्रीस्वामीजी महाराजके पास बैठा दिया और व्याख्या लिखवानेके लिये कहकर दरवाजा बन्द कर दिया और बाहरसे कुण्डी लगा दी! यह व्याख्या संवत् २०३० में 'गीताका भक्तियोग' नामसे प्रकाशित हुई। उसके बाद सं० २०३५ से अन्य अध्यायोंकी टीका लिखवानेका कार्य आरम्भ हुआ। पहले गीताकी टीका अलग-अलग नामोंसे विभिन्न खण्डोंमें प्रकाशित हुई। इसका सविस्तर वर्णन 'साधक-संजीवनी' के प्राक्कथन में किया गया है। फिर विचार हुआ कि सम्पूर्ण अध्यायोंकी टीका एक ही ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित की जाय। अत:

आश्विन शुक्ल १०, सं० २०४२ (४ अक्टूबर १९८४)-को विजयादशमीके शुभ अवसरपर श्रीस्वामीजी महाराजके द्वारा 'साधक-संजीवनी' के रूपमें गीताकी टीकाके कार्यका श्रीगणेश किया गया। पूर्वप्रकाशित 'गीताका भक्तियोग' (बारहवें अध्यायकी व्याख्या) और 'गीताका ज्ञानयोग' (तेरहवें-चौदहवें अध्यायकी व्याख्या)—इन दोनोंकी व्याख्या पुनः लिखी गयी। अन्य अध्यायोंकी व्याख्यामें भी पर्याप्त संशोधन-संवर्धन किया गया। इस कार्यके पूर्ण होनेमें लगभग पाँच महीने लगे। भाद्रपद कृष्ण ३, वि०सं० २०४२ (२ सितम्बर, १९८५) को 'साधक-संजीवनी' गीताप्रेससे मुद्रित होकर आयी। उस समय श्रीस्वामीजी महाराज श्रीमुरलीमनोहर धोरा, भीनासर (बीकानेर)-में विराज रहे थे। 'साधक-संजीवनी' प्राप्त होनेपर सब सन्तोंने मिलकर उनकी आरती उतारी। यह 'साधक-संजीवनी' का इस धरातलपर प्राकट्य-दिवस था!

जब 'साधक-संजीवनी' की भूमिका (प्राक्कथन) लिखने बैठे, तो लिखते-लिखते वह भूमिका इतनी बढ़ गयी कि उसने एक स्वतन्त्र ग्रन्थका रूप धारण कर लिया! अन्ततः उसे 'गीता-दर्पण' नामसे अलग प्रकाशित किया गया, और 'साधक-संजीवनी' के लिये नया प्राक्कथन लिखा गया।

श्रीस्वामीजी महाराज कहते थे कि अन्य टीकाओंको देखनेसे उन टीकाओंके भावोंका अपनेपर असर पड़ जाता है, जिससे अपने भावोंके प्रकट होनेमें बाधा लग जाती है। इसलिये 'साधक-संजीवनी' लिखते समय श्रीस्वामीजी महाराज गीताकी अन्य कोई टीका नहीं देखते थे। यदि कोई विवादास्पद स्थल आता तो उसपर खुद ही विचार करते थे, भले ही उसमें कई दिन क्यों न लग जायँ।

'साधक-संजीवनी' व्याख्या लिखनेमें ब्रह्मचारी श्रीविनायकजी महाराजका विशेष योगदान रहा। वे प्रतिदिन प्रातः तीन बजे श्रीस्वामीजी महाराजके पास जाकर उनसे गीताके भाव लिखवाया करते थे। श्रीस्वामीजी महाराजके भावोंको लिपिबद्ध करनेमें उन्होंने बहुत परिश्रम किया। तत्पश्चात् उन भावोंको मैं भाषाबद्ध करके लिख दिया करता था। दूसरे दिन जब श्रीस्वामीजी महाराजको वह लिखित सामग्री सुनायी जाती थी, तब वे उसमें संशोधन-परिवर्धन करते हुए और नयी व्याख्या लिखवा देते थे। उसे पुनः लिखनेके बाद दूसरे दिन जब उन्हें वह सुनाया जाता था, तब वे पुनः और नयी-नयी बातें लिखवा देते थे। दस-पन्द्रह दिन ऐसा ही क्रम चलनेके बाद वह सामग्री उन्हें सुनाये बिना ही यह सोचकर छपनेके लिये प्रेसमें भेज दी जाती थी कि यदि इसी तरह सुनाते रहे तो कभी व्याख्या पूरी होगी ही नहीं! ऐसा प्रतीत होता था कि गीताके विषयमें श्रीस्वामीजी महाराजका ज्ञान समुद्रके समान अगाध है, जिसकी जितनी क्षमता हो, उतना ले- ले। 'साधक-संजीवनी' छपनेके बाद भी 'साधक-संजीवनी परिशिष्ट' लिखा गया। उसके बाद 'गीता-प्रबोधनी' लिखी गयी। इतना लिखवानेपर भी श्रीस्वामीजी महाराजको सन्तोष नहीं हुआ। श्रीस्वामीजी महाराज कहते थे कि अभीतक मैं गीतापर धापकर (जी भरकर) नहीं बोला हूँ; मन में आती है, एक नयी 'साधक-संजीवनी' टीका और लिखवाऊँ, पर उम्र अधिक होनेसे शरीर काम नहीं देता, यन्त्र कमजोर हो गया है! कारण यह था गीतापर इतना लिखवानेके बाद भी श्रीस्वामीजी महाराजका गीतापर विचार करना, गीताके भावोंकी खोज करना बन्द नहीं हुआ था।

श्रीस्वामीजी महाराज किसी विषयको बोलकर नहीं लिखवाते थे, प्रत्युत वे विषयको भलीभाँति समझा देते थे, जिससे दूसरा स्वयं ही उसे अपने ढंगसे लिखे। फिर लिखे हुए विषयको वे सुन लेते थे तथा उसमें आवश्यक संशोधन करवा देते थे। इसलिये 'साधक-संजीवनी' लिखनेसे पूर्व मैंने श्रीस्वामीजी महाराजसे इसकी भाषा-शैलीपर विस्तृत विचार-विमर्श किया। उसमें यह निर्णय लिया गया कि श्रीस्वामीजी महाराजकी जो भाषा-शैली है, वे जिन शब्दोंका प्रयोग करते हैं, यथासम्भव उन्हींका

प्रयोग किया जाय। इसका कारण यह था कि संत के मुखसे निकले हुए शब्दोंमें विशेष शक्ति होती है, भले ही वे व्याकरण-सम्मत हों या न हों। गोस्वामी श्रीतुलसीदास महाराजके विषयमें कहा जाता है कि वे भाषाके पीछे नहीं चलते थे, अपितु भाषा ही उनके पीछे चलती थी! एक बार किसी पत्रिकामें श्रीस्वामीजी महाराजके लेखको कुछ संशोधन करके छापा गया। उस लेखको सुननेपर श्रीस्वामीजी महाराजको लगा कि इसमें किसीने संशोधन किया है, जिससे इसका जैसा असर होना चाहिये, वैसा असर दीख नहीं रहा है! तब श्रीस्वामीजी महाराजने एक पत्र लिखवाकर भेजा, जिसमें लिखा था कि 'आप हमारे लेखोंमें शब्दोंको बदलकर बड़ा भारी अनर्थ कर रहे हो; क्योंकि शब्दोंको बदलनेसे हमारे भावोंका नाश हो जाता है! इस विषयमें आपको अपने धर्मकी, अपने इष्टकी सौगन्ध है!' आदि।

'साधक-संजीवनी' लिखते समय श्रीस्वामीजी महाराज कहते थे कि इसे इस तरह लिखना है कि पढ़नेवालेको तत्त्वज्ञान हो जाय, वह मुक्त हो जाय! उन्होंने 'साधक-संजीवनी' के प्राक्कथनमें लिखा भी है—*'साधकोंको शीघ्रतासे और सुगमतापूर्वक कल्याण कैसे हो—इस बातको सामने रखते हुए ही यह टीका लिखी गयी है।'* इससे सिद्ध होता है कि 'साधक-संजीवनी' एक आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है!

'साधक-संजीवनी' कैसा ग्रन्थ है, यह तो उसे पढ़नेवाले साधक ही जान सकते हैं। श्रीस्वामीजी महाराज कहा करते थे कि साधक पहले अपने हृदयके भावोंको देखे, फिर 'साधक-संजीवनी' पढ़े, उसके बाद वह पुनः अपने भावोंको देखे तो उनमें बड़ा अन्तर दीखेगा। एक परिवारके दो पक्षोंमें परस्पर बड़ा मन-मुटाव चल रहा था। एक पक्षके व्यक्तिने 'साधक-संजीवनी' पढ़ी तो उसके भाव बदल गये। उसने दूसरे पक्षवाले व्यक्तियोंको अपने घर आमन्त्रित करके भोजन कराया। इस प्रकार उनका आपसमें मन-मुटाव मिट गया। इससे सिद्ध होता है कि 'साधक-संजीवनी' पढ़नेसे हृदयके भावोंमें परिवर्तन होता है, भाव शुद्ध होते हैं।

श्रीस्वामीजी महाराज कहते थे कि जैसे श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके समय उनकी रामायणका अधिक प्रचार नहीं था, पर अब घर-घर उनकी रामायण पढ़ी जाती है, ऐसे ही चार-साढ़े चार सौ वर्षोंके बाद 'साधक-संजीवनी' का प्रचार होगा!

'साधक-संजीवनी' केवल वर्तमानके साधकोंको ही दृष्टिमें रखते हुए नहीं, प्रत्युत भविष्यमें होनेवाले सभी साधकोंको भी दृष्टिमें रखते हुए लिखी गयी है। दिनांक ३ दिसम्बर १९७९ बीकानेरकी बात है। 'श्रीमुरलीमनोहर धोरा' में श्रीस्वामीजी महाराज सन्ध्या (नित्यकर्म) कर रहे थे। सन्ध्या करते समय उनके मनमें कर्मयोगसे सम्बन्धित कुछ भाव आये। मौन रहनेके कारण उन्होंने वे भाव एक कागजपर लिखकर रख लिये। सन्ध्या पूर्ण होते ही उन्होंने मुझे बुलाया और वह कागज देते हुए कहा कि साढ़े चार सौ, पाँच सौ वर्षोंके बाद 'साधक-संजीवनी' का बहुत प्रचार होगा; गीताके सम्बन्धमें मेरे विचार मुख्य माने जायँगे और लोग खोज करेंगे कि किस विषयमें स्वामीजीने क्या कहा है; अतः उस समय कर्मयोगके विषयमें उन्हें यह बात मिलनी चाहिये। अतः इस (कागजपर लिखी) बातको तुम जहाँ ठीक बैठे, वहाँ लिख दो। वह बात 'साधक-संजीवनी' में पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोककी व्याख्यामें इस प्रकार जोड़ी गयी—

'कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं, क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं, इसलिये कर्मोंकी अभिव्यक्ति कर्तासे ही होती है। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम-कर्म होते हैं, जिसे 'कर्मयोग' कहते हैं। अतः चाहे 'कर्मयोग'

कहें या 'निष्काम-कर्म'—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं।'

—इससे सिद्ध होता है कि श्रीस्वामीजी महाराजने 'साधक-संजीवनी' की रचना करते समय भविष्यमें होनेवाले साधकोंके हितको भी दृष्टिमें रखा है।

श्रीस्वामीजी महाराज चाहते थे कि 'साधक-संजीवनी' पढ़नेवालेको पारमार्थिक विषयोंके साथ-साथ लौकिक विषयोंका भी ज्ञान हो जाय। इसलिये इसमें पारमार्थिक विषयोंके साथ-साथ लौकिक विषयोंका भी समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—जब नवें अध्यायके बीसवें श्लोककी व्याख्या करते समय 'सोमरस' का प्रसंग आया, तब सोमरसका परिचय देनेके लिये कोलकाताकी 'नेशनल लाइब्रेरी' में 'रसेन्द्रचूड़ामणि' नामक एक दुर्लभ ग्रन्थकी खोज करके उसका अवलोकन किया गया और उसमें सोमरसका परिचय प्राप्त करके व्याख्यामें दिया गया।

एक बार ऋषिकेशके एक साधुने आक्षेपपूर्वक श्रीस्वामीजी महाराजसे कहा कि आपकी 'साधक-संजीवनी' टीका विद्वानोंके कामकी नहीं है, विद्वान्‌लोग इसे पसन्द नहीं करेंगे। श्रीस्वामीजी महाराजने पूछा कि साधकोंके कामकी है या नहीं? वह साधु बोला कि हाँ, साधकोंके कामकी तो है। तब श्रीस्वामीजी महाराज बोले कि फिर तो हमारा काम हो गया; क्योंकि हमने यह टीका साधकोंके लिये ही लिखी है, विद्वानोंके लिये लिखी ही नहीं! इसीलिये इसका नाम 'साधक-संजीवनी' है।

एक बार मैंने श्रीस्वामीजी महाराजसे कहा कि 'साधक-संजीवनी' का कलेवर बहुत बड़ा होनेके कारण कई लोग चाहते हैं कि एक छोटे आकारकी 'संक्षिप्त साधक-संजीवनी' निकाली जाय। इसपर श्रीस्वामीजी महाराज बोले कि 'ऐसा करना मुझे ठीक नहीं जँचता। कारण कि व्याकरणके एक ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' का संक्षिप्त रूप 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' निकाला गया तो परिणाम यह हुआ कि 'सिद्धान्तकौमुदी' का प्रचार रुक गया और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का प्रचार हो गया!'

'साधक-संजीवनी' वास्तवमें श्रीस्वामीजी महाराजका ही स्वरूप है। एक बार मुम्बईमें सत्संग-कार्यक्रम पूरा होनेपर श्रीस्वामीजी महाराज वहाँसे प्रस्थान कर रहे थे तो एक बहन रोने लगी कि आप हमें छोड़कर जा रहे हो। श्रीस्वामीजी महाराजने उससे पूछा कि तेरे पास 'साधक-संजीवनी' है कि नहीं? उसने कहा कि हाँ, है, तो श्रीस्वामीजी महाराज बोले कि यदि 'साधक-संजीवनी' तेरे पास है तो समझ ले कि मैं तेरे पास हूँ। इस घटनासे यह तो सिद्ध हो ही गया कि श्रीस्वामीजी महाराज वर्तमानमें भी 'साधक-संजीवनी' के रूपमें हमारे साथ हैं!

जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, 'साधक-संजीवनी' लिखनेके बाद भी श्रीस्वामीजी महाराजका गीतापर विचार करना, उसके नये-नये भावोंकी खोज करना बन्द नहीं हुआ था। जब सं० २०४९ (सन् १९९२)-में 'मथानिया' (राजस्थान)-में चातुर्मास्य सत्संग चल रहा था, तब एक दिन गीताका अध्ययन करते समय श्रीस्वामीजी महाराजको भक्तिविषयक विशेष भावकी जागृति हुई तथा गीतामें सगुणकी मुख्यता दिखायी दी, जिससे गीताकी अनेक बातोंका ठीक-ठीक समाधान हो गया। यद्यपि सगुण-निर्गुणमें कोई भेद नहीं है तथापि समग्ररूप (गीता ७।२९-३०) सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। अत: गीताकी 'साधक-संजीवनी' टीकापर पुन: विचार करके उसका 'परिशिष्ट' लिखा गया। दोनोंमें अन्तर यह था कि 'साधक-संजीवनी' में ज्ञानकी मुख्यता थी और 'परिशिष्ट' में भक्तिकी मुख्यता। 'साधक-संजीवनी-परिशिष्ट' के नम्र-निवेदनमें श्रीस्वामीजी महाराजने लिखा है कि 'केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई

सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान्‌ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७।१)।' एक बार श्रीस्वामीजी महाराजने मुझसे कहा कि 'गीताका मुख्य विषय प्रेम अर्थात् भगवान्‌से अभिन्नता है। अभिन्न होनेसे ही '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होगा। इसलिये 'साधक-संजीवनी-परिशिष्ट' प्रेम-प्राप्तिके लिये ही लिखी है। यद्यपि 'साधक-संजीवनी' में प्रेमकी बात आयी है, तथापि मुख्यता ज्ञानकी है।'

श्रीस्वामीजी महाराजने 'प्राक्कथन' में लिखा है कि *'पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे पहले लिखे गये विषयकी अपेक्षा बादमें लिखे गये विषयको ही महत्त्व दें और उसीको स्वीकार करें।'* इसलिये प्रबुद्ध पाठकोंसे निवेदन है कि जहाँ 'साधक-संजीवनी' की पूर्वप्रकाशित व्याख्या और 'परिशिष्ट' में परस्पर विरोध दीखे, वहाँ वे 'परिशिष्ट' में लिखी बातको ही प्रमुखता दें। 'परिशिष्ट' लिखनेके बाद जो नये भाव आये, उन्हें 'गीता-प्रबोधिनी' में लिखा गया; क्योंकि 'साधक-संजीवनी' में बार-बार परिवर्तन करना श्रीस्वामीजी महाराजको उचित नहीं लगा। इसलिये जहाँ 'परिशिष्ट' और 'गीता-प्रबोधिनी' में परस्पर विरोध दीखे, वहाँ वे 'गीता-प्रबोधिनी' में लिखी बातको ही प्रमुखता दें। श्रीस्वामीजी महाराजने 'प्राक्कथन' में यह बात स्पष्ट कर दी है कि *'इस टीकाको एक जगह बैठकर नहीं लिखवाया गया है और इसको पहले अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्यायतक क्रमसे भी नहीं लिखवाया गया है। इसलिये इसमें पूर्वापरकी दृष्टिसे कई विरोध आ सकते हैं। परन्तु इससे साधकोंको कहीं भी बाधा नहीं लगेगी'* आदि।

प्रस्तुत पुस्तकके अंतमें दिये 'संजीवनी-कोश' का कार्य श्रीस्वामीजी महाराजकी इच्छासे उनके सशरीर विद्यमान रहते ही आरम्भ किया जा चुका था; परन्तु अन्य पुस्तकोंका लेखन-कार्य चलते रहनेसे इसका कार्य समयपर पूरा नहीं हो पाया। अत्यन्त प्रसन्नताकी बात है कि श्रीस्वामीजी महाराजका संकल्प अब उन्हींकी कृपाशक्तिसे पूरा हो रहा है!

प्रस्तुत पुस्तक जिज्ञासु साधकों तथा शोधकर्ताओंके लिये विशेष उपयोगी है। इस पुस्तकके अध्ययनसे पाठक श्रीस्वामीजी महाराजके विभिन्न विषयोंसे सम्बन्धित क्रान्तिकारी विचारोंसे भलीभाँति परिचित हो सकेंगे। परन्तु पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकमें ही सन्तोष न कर लें, प्रत्युत विषयको और अधिक स्पष्टरूपसे समझनेके लिये मूल ग्रन्थ 'साधक-संजीवनी' का भी अवश्य अवलोकन करें।

इस पुस्तकमें जो अनमोल मार्मिक वचन संकलित किये गये हैं, वे केवल पढ़नेके लिये ही नहीं हैं, प्रत्युत पढ़कर उसपर गम्भीरतापूर्वक मनन-विचार करनेके लिये हैं। सत्यकी खोजमें रत जिज्ञासु साधकोंको इस पुस्तकका अध्ययन-मनन करके लाभ उठाना चाहिये।

वि०सं० २०६७

गीता-जयन्ती

निवेदक—

राजेन्द्र कुमार धवन

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

पारमार्थिक रुचि रखनेवाले, साधन-भजन करनेवाले हम सभीके प्रात:स्मरणीय, वन्दनीय एवं पूजनीय परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजने श्रीमद्‌भगवद्‌गीतापर **'साधक-संजीवनी'** टीका लिखकर गीताके गहरे, सूक्ष्म भावोंको खोज-खोजकर तथा अपने अनुभवरूपी अमूल्य रत्नोंका खजाना खोलकर साधक-जगत्‌पर बड़ा भारी उपकार किया है। इसको साधक-जगत् कभी भूल नहीं सकता।

'साधक-संजीवनी' टीका संसारमें रचे-पचे मानवोंके लिये प्रबोधनकारिणी, साधन-भजनसे भटके हुए व्यक्तियोंके लिये पथ-प्रदर्शनी, साधन-पथमें उलझे हुए साधकोंकी उलझनें, शंकाएँ दूर करके साधन-मार्गमें अग्रसरकारिणी, परमात्मप्राप्तिसे हताश साधकोंकी उत्साहवर्धिनी और श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका पठन-पाठन-मनन करनेवाले सज्जनोंको अमूल्य भावरत्न-प्रदायिनी है।

गीताकी **'साधक-संजीवनी'** टीकाके पन्ने-पन्नेपर साधनरूपी अमूल्य रत्न बिखरे हुए हैं। उन सबको अलग-अलग विषयोंमें इकट्‌ठा करना सामान्य व्यक्तिके अधिकारकी बात नहीं है। यह कार्य मननशील व्यक्ति ही कर सकता है। मेरे मित्र श्रीराजेन्द्रबाबूने अथक प्रयास करके साधनरूपी उन अमूल्य रत्नोंको अलग-अलग विषयोंमें इकट्ठा करके परमार्थ-पथिकोंको साधन-भजन एवं मनन करनेमें अद्वितीय सुविधा उपलब्ध करा दी है।

जैसे अखिलब्रह्माण्डनायक गोलोकवासी भगवान् श्रीकृष्ण ही व्रजांगनाओंके प्रेम-पुंजरूपमें, श्रुतियोंके एकीभूत गुप्त-वित्तरूपमें और यदुवंशियोंके भाग्य मूर्तिरूपमें प्रकट हुए हैं, वैसे ही श्रीरामसुखदासजीके **'साधक-संजीवनी'**-रूपी भावरत्नोंका महासागर ही हमारे सामने **'संजीवनी-सुधा'**-रूसे प्रकट हुआ है। श्रीराजेन्द्रबाबूने **'साधक-संजीवनी'**-रूपी महासागरमें आये हुए सभी भावों एवं मार्मिक बातोंका मन्थन करके साधकोपयोगी विषयोंके रूपमें ताजा सार मक्खन निकालकर हमारे सामने रख दिया है। अब हमें **'साधक-संजीवनी'** का सार मक्खन पानेमें न देरी करनी चाहिये और न अनुत्साह ही। सार मक्खन खाकर हमें अपने साधनको हृष्ट-पुष्ट बना लेना चाहिये।

गीता-प्रेमी एवं साधन-प्रेमी सज्जनवृन्दसे मेरी यही करबद्ध प्रार्थना है कि वे **'संजीवनी-सुधा'** का विचारदृष्टिसे अवलोकन पठन-पाठन-मनन करके, अपने जीवनमें उतार करके श्रीराजेन्द्रबाबूके परिश्रमको और अपने जीवनको सार्थक एवं सफल बनायें।

भवदीय,

विनायक

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
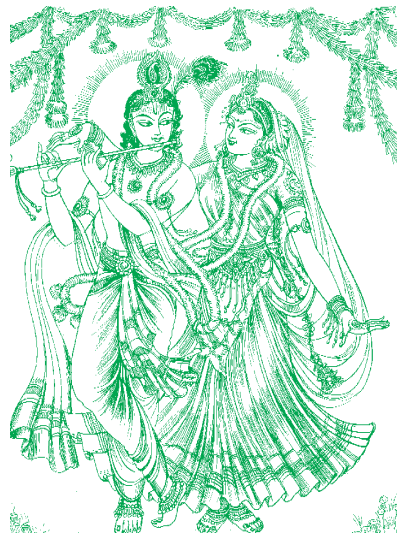
संजीवनी-सुधा

(‘साधक-संजीवनी’ से संकलित मार्मिक वचन)

अज्ञान

१. शास्त्रोंके ज्ञाता होनेपर भी केवल कामनाके कारण ऐसे मनुष्य अविद्वान् (अज्ञानी) कहे गये हैं। (३।२५)

२. अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है। अधूरे ज्ञानको पूरा ज्ञान मान लेना ही अज्ञान है। कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें ज्ञानका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता, केवल नाशवान् असत्‌की सत्ता मानकर उसे महत्त्व दे देता है, असत्‌को असत् मानकर भी असत्‌से विमुख नहीं होता—यही अज्ञान है। इसलिये मनुष्यमें जितना ज्ञान है, यदि उस ज्ञानके अनुसार वह अपना जीवन बना ले, तो अज्ञान सर्वथा मिट जायगा और ज्ञान प्रकट हो जायगा। कारण कि अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। (४।४० टि.)

३. क्रियाओं और पदार्थोंको अपना और अपने लिये मानना ही अज्ञान है। (४।४२)

४. शास्त्रीय दृष्टिसे ‘अज्ञान’ जन्म-मरणका हेतु होते हुए भी साधनकी दृष्टिसे ‘राग’ ही जन्म-मरणका मुख्य हेतु है—‘**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**’ (गीता १३।२१)। रागपर ही अज्ञान टिका हुआ है, इसलिये राग मिटनेपर अज्ञान भी मिट जाता है। (५।१०)

५. ज्ञानका अभाव कभी होता ही नहीं, चाहे उसका अनुभव हो या न हो। इसलिये अधूरे ज्ञानको ही अज्ञान कहा जाता है। इन्द्रियोंका और बुद्धिका ज्ञान ही अधूरा ज्ञान है। (५।१५)

६. जैसे अन्धकारमें सूर्यको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे ही अज्ञानमें ज्ञानको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है। अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया—यही अज्ञान है, जिससे मनुष्य मोहित हो जाता है। (५।१५ परि.)

७. जो हमसे घुला-मिला हुआ है, उस परमात्माको तो अपनेसे अलग मान लिया और जो हमसे अलग है, उस शरीरको अपनेसे घुला-मिला मान लिया—यह अज्ञान है। (५।१५ परि.)

८. अज्ञानका नाश विवेकसे ही होता है, उद्योगसे नहीं—‘**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**’ (गीता १५।११)। कारण कि अज्ञानका नाश क्रियासाध्य, परिश्रमसाध्य नहीं है। परिश्रम करनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि शरीरसे सम्बन्ध जोड़े बिना परिश्रम नहीं होता। दूसरी बात, अज्ञान हटानेका उद्योग करनेसे अज्ञान दृढ़ होता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर ही उसको हटानेका उद्योग करते हैं। (५।१६ परि.)

९. संसारको मिला हुआ मानना और परमात्माको अलग मानना—यही अज्ञान है, यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। (६।२३ परि.)

१०. स्वयंमें शरीरका अभिमान नहीं होता। जहाँ स्वयंमें शरीरका अभिमान होता है, वहाँ ‘मैं शरीरसे अलग हूँ’ यह विवेक नहीं होता, प्रत्युत वह हाड़-मांसका, मल-मूत्र पैदा करनेवाली मशीनका ही दास (गुलाम) बना रहता है। यही अविवेक है, अज्ञान है। इस तरह अविवेककी प्रधानता

होनेसे मनुष्य न तो भक्तिमार्गमें चल सकता है और न ज्ञानमार्गमें ही चल सकता है। (९।३२ मा.)

११. जहाँ प्रकृति और पुरुष—दोनोंका भेद (विवेक) है, वहाँ ही प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेका, सम्बन्ध जोड़नेका अज्ञान है। इस अज्ञानसे ही यह पुरुष स्वयं प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है। (१३।२१)

१२. इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान करणसापेक्ष और अल्प होता है। अल्प ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है। (१५।१५)

***

अभिमान

१. जब साधक इन्द्रियोंको वशमें करता है, तब उसमें अपने बलका अभिमान रहता है कि मैंने इन्द्रियोंको अपने वशमें किया है। यह अभिमान साधकको उन्नत नहीं होने देता और उसे भगवान्‌से विमुख करा देता है। (२।६१)

२. गलती यही होती है कि मनुष्य जितना जान लेता है, उसीको पूरा समझकर अभिमान कर लेता है कि मैं ठीक जानता हूँ। यह अभिमान महान् पतन करनेवाला हो जाता है। (४।४० वि.)

३. यदि भीतरसे बुरा भाव दूर न हुआ हो और बाहरसे भलाई करें तो इससे अभिमान पैदा होगा, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है। भलाई करनेका अभिमान तभी पैदा होता है, जब भीतर कुछ-न-कुछ बुराई हो। (५।३ मा.)

४. जहाँ अपूर्णता (कमी) होती है, वहीं अभिमान पैदा होता है। परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ अभिमानका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। (५।३ मा.)

५. मैंने भलाई की—यह अभिमान बुराईसे भी अधिक भयंकर है; क्योंकि यह भाव मैं-पनमें बैठ जाता है। (५।३ मा.)

६. बुराईको तो हम बुराईरूपसे जानते ही हैं, पर भलाईको बुराईरूपसे नहीं जानते। इसलिये भलाईके अभिमानका त्याग करना बहुत कठिन है; जैसे—लोहेकी हथकड़ीका तो त्याग कर सकते हैं, पर सोनेकी हथकड़ीका त्याग नहीं कर सकते; क्योंकि वह गहनारूपसे दीखती है। (५।३ मा.)

७. आंशिक अच्छाईसे अच्छाईका अभिमान होता है और जितनी बुराई है, वह सब-की-सब अच्छाईके अभिमानपर ही अवलम्बित है। पूर्ण अच्छाई होनेपर अच्छाईका अभिमान नहीं होता और बुराई भी उत्पन्न नहीं होती। (६।९)

८. अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका आधार और सम्पूर्ण दुःखों एवं पापोंका कारण है। (७।१५)

९. दैवी सम्पत्तिके अधूरेपनमें ही अभिमान पैदा होता है। दैवी सम्पत्तिके (अपनेमें) पूर्ण होनेपर अभिमान पैदा नहीं होता। जैसे, किसीको 'मैं सत्यवादी हूँ'—इसका अभिमान होता है, तो उसमें सत्यभाषणके साथ-साथ आंशिक असत्यभाषण भी है। (९।१३)

१०. अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका जनक है। (१०।३४)

११. गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं। अपनेमें किसी गुणके आनेपर अभिमानरूप दुर्गुण उत्पन्न हो जाय तो उस गुणको गुण कैसे माना जा सकता है?..........अभिमानसे दुर्गुणोंकी

वृद्धि होती है; क्योंकि सभी दुर्गुण-दुराचार अभिमानके ही आश्रित रहते हैं। (१२।१५)

१२. जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधकमें अपने साधन अथवा गुणों का अभिमान रहता है, जो आसुरी सम्पत्तिका आधार है। (१२।२०)

१३. अपनेमें श्रेष्ठताकी भावनासे ही अभिमान पैदा होता है। अभिमान तभी होता है, जब मनुष्य दूसरोंकी तरफ देखकर यह सोचता है कि वे मेरी अपेक्षा तुच्छ हैं।........अभिमानरूप दोषको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह दूसरोंकी कमीकी तरफ कभी न देखे, प्रत्युत अपनी कमियोंको देखकर उनको दूर करे। (१३।८)

१४. 'मैं दूसरोंकी अपेक्षा अधिक (विशेष) जानता हूँ'—यह अभिमान भी बाँधनेवाला होता है। (१४।६)

१५. मनुष्यमें जिस बातका अभिमान हो, उस बातकी उसमें कमी होती है। उस कमीको वह दूसरोंमें देखने लगता है। अपनेमें अच्छाईका अभिमान होनेसे दूसरोंमें बुराई दीखती है; और दूसरोंमें बुराई देखनेसे ही अपनेमें अच्छाईका अभिमान आता है। (१५।२०)

१६. दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपना माननेसे एवं गुणोंके साथ अवगुण रहनेसे ही अभिमान आता है। सर्वथा गुण आनेपर गुणोंका अभिमान हो ही नहीं सकता। (१६।३)

१७. अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर अपनेमें जो बड़प्पनका अनुभव होता है, उसका नाम अभिमान है। (१६।४)

१८. जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं और अभिमानसे ही पुष्ट होते हैं। (१६।५ मा.)

१९. जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है। कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता।.........अभिमान होनेके कारण दैवी-सम्पत्ति भी आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। (१६।५ परि.)

२०. दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे 'अभिमान' होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे 'स्वाभिमान' होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ! 'अभिमान' होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर 'स्वाभिमान' होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। (१७।३ परि.)

२१. शरीरकी अशुद्धि, मलिनताका ज्ञान होनेपर मनुष्य शरीरसे ऊँचा उठ जाता है। शरीरसे ऊँचा उठनेपर उसको वर्ण, आश्रम, अवस्था आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अभिमान नहीं होता। (१७।१४)

२२. 'कर्म'में वर्णकी मुख्यता है और 'भाव' में दैवी अथवा आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता है।........अगर ब्राह्मणमें भी अभिमान हो तो वह आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा। (१८।४५ परि.)

***

अहम्

१. एक अहम्के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्ने ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है। (गीता ७।५)। (२।४० परि.)

२. अहंता अपने स्वरूपमें मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। अगर यह वास्तवमें होती तो हम कभी

निरहंकार नहीं हो सकते थे और भगवान् भी निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। (२।७१ परि.)

३. सुषुप्तिमें अहम्‌के अभावका अनुभव तो सबको होता है,पर अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। (२।७१ परि.)

४. निरहंकार होनेपर अपरा प्रकृतिका निषेध (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है और जीव जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है। (२।७१ परि.)

५. जीवने अहम्‌के कारण ही जगत्‌को धारण किया है—**'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३।२७), **'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। यदि वह अहम्‌का त्याग कर दे तो फिर जगत् नहीं रहेगा। (२।७२ परि.)

६. 'मैं त्यागी हूँ', 'मैं वैरागी हूँ', 'मैं सेवक हूँ', 'मैं भक्त हूँ' आदि भाव भी व्यक्तित्वको पुष्ट करनेवाले होनेके कारण तत्त्वप्राप्तिमें बाधक होते हैं। (३।२१)

७. प्रकृति (जड़)-से माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है। (३।२७)

८. माना हुआ अहंकार उद्योग करनेसे नहीं मिटता; क्योंकि उद्योग करनेमें भी अहंकार रहता है। माना हुआ अहंकार मिटता है—अस्वीकृतिसे अर्थात् 'न मानने' से। (३।२७)

९. अहंकारके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिमें 'मैं'-पन कर लेता है और उन (शरीरादि)-की क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है। (३।२७)

१०. अहंकारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहंकारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। (३।२७)

११. जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन)-के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता।......इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहंकाररहित हो ही नहीं सकता। (३।२७)

१२. यह नियम है कि अपने लिये कुछ भी पाने या करनेकी इच्छा न रहनेपर 'अहम्' (व्यक्तित्व) स्वतः नष्ट हो जाता है। (३।३० वि.)

१३. जड़-चेतनके तादात्म्यमें जड़का आकर्षण जड़-अंशमें ही होता है, पर तादात्म्यके कारण वह चेतनमें दीखता है। (३।३४)

१४. अहम् अर्थात् 'मैं'-पन केवल माना हुआ है। मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदायवाला हूँ—यह केवल मान्यता है। मान्यताके सिवाय इसका दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। (३।४०)

१५. अहम्‌में रहनेवाली चीजको मनुष्य अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अहम् माना हुआ है और उस अहम्‌में 'काम' रहता है। अतः जबतक अहम् है, तबतक अहम्‌की जातिका आकर्षण अर्थात् 'काम' होता है और जब अहम् नहीं रहता, तब स्वयंकी जातिका आकर्षण अर्थात् 'प्रेम' होता है। (३।४३ परि.)

१६. 'मैं हूँ'—ऐसे अपनी सत्ता (होनेपन)-का अनुभव स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको है। वृक्ष, पर्वत आदिको भी इसका अनुभव है, पर वे इसे व्यक्त नहीं कर सकते। (४।३ वि.)

१७. कर्म करना और न करना—ये दोनों प्राकृत अवस्थाएँ हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें अहंता रहती है। कर्म करनेमें 'कार्य'-रूपसे, और कर्म न करनेमें 'कारण'-रूपसे। जबतक अहंता है, तबतक

संसारसे सम्बन्ध है और जबतक संसारसे सम्बन्ध है, तबतक अहंता है। (४।१६ मा.)

१८. 'मैं करता हूँ'—इसमें जैसी अहंता है, ऐसी ही अहंता 'मैं नहीं करता हूँ'—इसमें भी है। अपने लिये कुछ न करनेसे अर्थात् कर्ममात्र संसारके हितके लिये करनेसे अहंता संसारमें विलीन हो जाती है। (४।१६ मा.)

१९. सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार समग्रका ज्ञान 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रह जाती है, जिससे दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अगर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध न हो तो फिर मतभेद कहाँसे आया? परन्तु परमात्मज्ञानसे सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध भी नहीं रहती और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। (४।३५ परि.)

२०. जड़-चेतनका तादात्म्य होनेसे 'मैं' का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्)-के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप)-के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। (५।९ परि.)

२१. भोगोंसे विरक्ति होकर सात्त्विक सुख मिलनेके बाद 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ', 'मैं निर्विकार हूँ', 'मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार 'अहम्' का सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उसकी निवृत्तिके लिये एकमात्र परमात्मतत्त्वसे अभिन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। कारण कि परमात्मतत्त्वसे सर्वथा एक हुए बिना अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व (परिच्छिन्नता या एकदेशीयता)-का सर्वथा अभाव नहीं होता। (५।२१)

२२. शरीरमें मैं-मेरापन न रहे तो आप ही अपना मित्र है और शरीरको मैं-मेरा माने तो आप ही अपने शत्रुकी तरह है। (६।६ परि.)

२३. यह अहंकार कारणशरीरमें तादात्म्यरूपसे रहता है। इस तादात्म्यमें एक जड़-अंश है और एक चेतन-अंश है। इसमें जो जड़-अंश है, वह कारणशरीर है और उसमें जो अभिमान करता है, वह चेतन-अंश है। जबतक बोध नहीं होता, तबतक यह जड़-चेतनके तादात्म्यवाला कारणशरीरका 'अहम्' कर्तारूपसे निरन्तर बना रहता है। (७।४)

२४. अहंतामें भोगेच्छा और जिज्ञासा—ये दोनों रहती हैं। इनमेंसे भोगेच्छाको कर्मयोगके द्वारा मिटाया जाता है और जिज्ञासाको ज्ञानयोगके द्वारा पूरा किया जाता है।........भोगेच्छाकी निवृत्ति होनेपर जिज्ञासाकी भी पूर्ति हो जाती है और जिज्ञासाकी पूर्ति होनेपर भोगेच्छाकी भी निवृत्ति हो जाती है। (७।५)

२५. साक्षात् परमात्माके अंश जीवने शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। इस सम्बन्धके कारण एक तीसरी सत्ता प्रतीत होने लग जाती है, जिसको 'मैं'-पन कहते हैं। सम्बन्धकी यह सत्ता ('मैं'-पन) केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। (७।५ वि.)

२६. 'मैं'-पनको मिटानेके लिये साधक प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको न तो अपना स्वरूप समझे, न उससे कुछ मिलनेकी इच्छा रखे और न ही अपने लिये कुछ करे। जो कुछ करे, वह सब केवल संसारकी सेवाके लिये ही करता रहे। (७।५ वि.)

२७. 'अहम्' (मैं)-से इधर जगत् (अपरा प्रकृति) है और उधर परमात्मा हैं। (७।५ परि.)

२८. भगवान्‌ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़)

प्रकृति कहा है। अतः जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल आदि आठों एक ही जातिके हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् भी है अर्थात् अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ और दृश्य है। (७।५ परि.)

२९. धातुरूप अहंकार तो अपरा प्रकृतिका (जड़) है, पर 'मैं हूँ'—यह ग्रन्थिरूप अहंकार केवल अपरा प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत इसमें परा प्रकृति (चेतन) भी मिली हुई है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह जन्म-मरण देनेवाला ग्रन्थिरूप अहंकार तो नहीं रहता, पर अपरा प्रकृतिका धातुरूप अहंकार रहता है। (७।५ परि.)

३०. जीव परमात्माका अंश है। अतः वह परमात्मासे जितना-जितना दूर जाता है, उतना-उतना अहंकार दृढ़ होता जाता है और वह ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ आता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहम्की गन्ध रह सकती है। परन्तु प्रेममें परमात्माके साथ अभिन्नता (आत्मीयता) होनेपर जीवका अपरा प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अहंकार सर्वथा मिट जाता है; क्योंकि अहंकार अपरा प्रकृतिका ही कार्य है। (७।१८ परि.)

३१. जीवने ही अहम्के कारण (अज्ञानसे) जगत्को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।७)। अतः बन्धन और मोक्ष जीवके ही बनाये हुए हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष; किन्तु केवल परमात्मा ही हैं। (७।२६ परि.)

३२. जब यह जीव परमात्मासे विमुख होकर शरीरके साथ अपनी एकता मान लेता है, तब इसे 'मैं'-पनकी स्वतन्त्र सत्ताका भान होने लगता है कि 'मैं शरीर हूँ।' इस 'मैं'-पनमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है—यह जीवका स्वरूप हुआ। (९।६ वि.)

३३. अहंता-परिवर्तनसे जितनी जल्दी शुद्धि आती है, जप, तप, यज्ञ, दान आदि क्रियाओंसे उतनी जल्दी शुद्धि नहीं आती। (९।३०)

३४. 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' इस प्रकार वह भीतरसे ही भगवान्का हो गया, उसने भीतरसे ही अपनी अहंता बदल दी। इसलिये अब उसके आचरण सुधरते देरी नहीं लगेगी; क्योंकि अहंताके अनुसार ही सब आचरण होते हैं। (९।३०)

३५. दुराचारी-से-दुराचारी भी 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसे अपनी अहंताको बदल देता है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है, साधु हो जाता है, भक्त हो जाता है। (९।३१ मा.)

३६. साधारण दृष्टिसे लोग यही समझते हैं कि मनुष्य सत्य बोलनेसे सत्यवादी होता है और चोरी करनेसे चोर होता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जब स्वयं सत्यवादी होता है अर्थात् 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ' ऐसी अहंताको अपनेमें पकड़ लेता है, तब वह सत्य बोलता है और सत्य बोलनेसे उसकी सत्यवादिता दृढ़ हो जाती है।.........तात्पर्य यह हुआ कि अहंताके परिवर्तनसे क्रियाओंका परिवर्तन हो जाता है। (९।३१ मा.)

३७. वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव दृढ़ होता है अर्थात् मिटता नहीं। (१२।३४)

३८. सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे 'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। वास्तवमें कल्याण 'अहम्'के मिटनेपर ही होता है। (१२।३-४)

३९. शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थोंको अपना स्वरूप माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है। (१२।१३)

४०. जैसे प्रत्येक व्यक्तिके शरीरादि 'अहम्'के अन्तर्गत दृश्य हैं, ऐसे ही 'अहम्' भी (मैं, तू, यह और वहके रूपमें) एक ज्ञानके अन्तर्गत दृश्य है। उस ज्ञान (चेतन)-में निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे परमात्मतत्त्वमें स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर अहंकार नहीं रहता। (१३।८)

४१. प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमें 'मैं हूँ'—इस प्रकारकी एक वृत्ति होती है। यह वृत्ति ही शरीरके साथ मिलकर 'मैं शरीर हूँ'—इस प्रकार एकदेशीयता अर्थात् अहंकार उत्पन्न कर देती है। इसीके कारण शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है (गीता १३।२१)। (१३।८)

४२. प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके वह (चेतन) 'प्रकृतिस्थ पुरुष' रूपमें अपनी एक स्वतन्त्र सत्ताका निर्माण कर लेता है (गीता १३।२१), जिसको 'अहम्' कहते हैं। इस 'अहम्' में जड़ और चेतन दोनों हैं। (१३।२०)

४३. 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। (१४।२३ परि.)

४४. मनुष्यकी जैसी अहंता होती है, उसकी स्थिति वहाँ ही होती है। (१५।५)

४५. साधनावस्थामें जो गति होती है, उसमें अहम्का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर मुक्त होनेके बाद प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी तरफ जो गति होती है, उसमें अहम्का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता अर्थात् अहम्का अत्यन्त अभाव हो जाता है। (१५।६ परि.)

४६. जबतक अपनेमें व्यक्तित्व (एकदेशीयता, परिछिन्नता) रहता है, तभीतक अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दिखायी दिया करती है। परन्तु ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व मिटता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों साधकका दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषताका भाव मिटता चला जाता है। (१६।३)

४७. अहंता (मैं-पन)-में संसारके संस्काररूपी बीज रखते हुए जिस शुभ-कर्मको करेंगे, वह शुभ-कर्म उन बीजोंको ही पुष्ट करेगा और उन बीजोंके अनुसार ही फल देगा। तात्पर्य यह है कि सकाम मनुष्यकी अहंताके भीतर संसारके जो संस्कार पड़े हैं, उन संस्कारोंके अनुसार उसकी सकाम साधनामें अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ आयेंगी। (१६।५)

४८. सत् (चेतन) और असत् (जड़)-के तादात्म्यसे 'अहम्'-भाव पैदा होता है। मनुष्य शुभ या अशुभ, कोई भी काम करता है, तो अपने अहंकारको लेकर करता है। जब वह परमात्माकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें सत्-अंशकी मुख्यता होती है और जब संसारकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें नाशवान् असत्-अंशकी मुख्यता होती है। (१६। ५ मा.)

४९. अहंताके अनुरूप प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्तिके अनुसार अहंताकी दृढ़ता होती है। (१६। ६)

५०. वास्तवमें यह अहंभाव (व्यक्तित्व) ही मनुष्यमें भिन्नता करनेवाला है। अहंभाव न रहनेसे परमात्माके साथ भिन्नताका कोई कारण ही नहीं है। फिर तो केवल सबका आश्रय, प्रकाशक सामान्य चेतन

रहता है। (१८। १७)

५१. अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है—**'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।'** भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है। (१८। १७ परि.)

५२. परमात्माकी तरफ आकृष्ट होनेसे, पराभक्ति होनेसे ही यह अहंभाव मिटता है। इस अहंभावके सर्वथा मिटनेसे ही तत्त्वका वास्तविक बोध होता है। (१८। ५५ वि.)

५३. जबतक लेशमात्र भी अहंकार रहता है, तबतक परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव नहीं होता। (१८। ५५ वि.)

५४. प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अहंकारका ही एक विकृत अंश है—'मैं शरीर हूँ।' (१८। ५९)

***

उद्देश्य

१. मनुष्य जिस स्थितिमें स्थित है, उसी स्थितिमें वह सन्तोष करता रहता है तो उसके भीतर अपने असली उद्देश्यकी जागृति नहीं होती। वास्तविक उद्देश्य-कल्याणकी जागृति तभी होती है, जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तुष्ट हो जाय, उस स्थितिमें रह न सके। (२। ७)

२. वास्तविक उद्देश्य एक ही होता है। (२। ४१ परि.)

३. साधकको असंगताका अनुभव न हुआ हो, उसमें समता न आयी हो, तो भी उसका उद्देश्य असंग होनेका, सम होनेका ही हो। जो बात उद्देश्यमें आ जाती है, वही अन्तमें सिद्ध हो जाती है। (२। ४८)

४. अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्तिमें केवल लक्ष्यकी अवश्यकता है। वह लक्ष्य चाहे पहलेके अभ्याससे हो जाय, चाहे किसी शुभ संस्कारसे हो जाय, चाहे भगवान् या सन्तकी अहैतुकी कृपासे हो जाय, लक्ष्य होनेपर उसकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। (२। ७२)

५. प्राप्तव्य तत्त्व वही हो सकता है, जिसकी प्राप्तिमें विकल्प, सन्देह और निराशा न हो तथा जो सदा हो, सब देशमें हो, सब कालमें हो, सभीके लिये हो, सबका अपना हो और जिस तत्त्वसे कोई कभी किसी अवस्थामें किंचिन्मात्र भी अलग न हो सके अर्थात् जो सबको सदा अभिन्नरूपसे स्वतः प्राप्त हो। (३। १९)

६. मनुष्यजीवनका उद्देश्य कर्म करना और उसका फल भोगना नहीं है।...... वास्तवमें परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त मनुष्यजीवनका अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं। जरूरत केवल इस प्रयोजन या उद्देश्यको पहचानकर इसे पूरा करनेकी ही है। (३। २० मा.)

७. फलेच्छाका त्याग करनेपर सभी कर्म उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाले हो जाते हैं। (३। २०)

८. किसी भी मार्गका साधक हो, उसका उद्देश्य आध्यात्मिक होना चाहिये, लौकिक नहीं। वास्तवमें उद्देश्य या आवश्यकता सदैव नित्यतत्त्वकी (आध्यात्मिक) होती है और कामना सदैव अनित्यतत्त्व (उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु)-की होती है। साधकमें उद्देश्य होना चाहिये, कामना नहीं। उद्देश्यवाला अन्तःकरण विवेक-विचारयुक्त ही रहता है। (३।३०)

९. मनुष्यशरीर उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही मिला है। उद्देश्यकी पूर्ति होनेपर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। (३। ३० वि.)

१०. छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक लौकिक या पारमार्थिक क्रिया करनेमें 'मैं क्यों करता हूँ और कैसे करता हूँ?'—ऐसी सावधानी हो जाय तो उद्देश्यकी जागृति हो जाती है। (३। ३८ वि.)

११. उद्देश्य या लक्ष्य सदैव अविनाशी (चेतन तत्त्व—परमात्मा)-का ही होता है, नाशवान् (संसार)-का नहीं। नाशवान्‌की कामनाएँ ही होती हैं, उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य वह होता है, जिसे मनुष्य निरन्तर चाहता है। चाहे शरीरके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर दिये जायँ, तो भी वह उद्देश्यको ही चाहता है। उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, पर कामनाओंकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत नाश होता है। उद्देश्य सदा एक ही रहता है, पर कामनाएँ बदलती रहती हैं। (३। ४३ टि.)

१२. जिसका एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, वह साधु है और जिसका नाशवान् संसारका उद्देश्य है, वह असाधु है। (४। ८)

१३. उद्देश्यकी दृढ़ताके लिये साधकको यह पक्का विचार करना चाहिये कि कितना ही सुख, आराम, भोग क्यों न मिल जाय, मुझे उसे लेना ही नहीं है, प्रत्युत परहितके लिये उसका त्याग करना है। (५। ३)

१४. एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे अन्तःकरणकी जितनी जल्दी जैसी शुद्धि होती है, उतनी जल्दी और वैसी शुद्धि दूसरे किसी अनुष्ठानसे नहीं होती। (५। ७)

१५. जिनका उद्देश्य समता है, वे सभी पुरुष युक्त अर्थात् योगी हैं। (५। १२)

१६. जिन साधकोंकी आसक्ति अभी मिटी नहीं है, पर जिनका उद्देश्य आसक्तिको मिटानेका हो गया है, उन साधकोंको भी आसक्तिरहित मान लेना चाहिये। कारण कि उद्देश्यकी दृढ़ताके कारण वे भी शीघ्र ही आसक्तिसे छूट जाते हैं। (५। २१)

१७. परमात्मतत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण होनेके कारण सदा-सर्वदा सबको प्राप्त ही है। परन्तु दृढ़ उद्देश्य न होनेके कारण ऐसे नित्यप्राप्त तत्त्वकी अनुभूतिमें देरी हो रही है। यदि एक दृढ़ उद्देश्य बन जाय तो तत्त्वकी अनुभूतिमें देरीका काम नहीं है। (५। २८)

१८. वास्तवमें उद्देश्य पहलेसे ही बना-बनाया है; क्योंकि परमात्मप्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है। केवल इस उद्देश्यको पहचानना है। (५। २८)

१९. कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी? (५। २८)

२०. सांसारिक पदार्थ आदिकी प्राप्तिका उद्देश्य, कामना न रखकर केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। (६। १२)

२१. मनुष्यका एक पारमार्थिक उद्देश्य हो जाय, तो पारमार्थिक और सांसारिक सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं। (७। २८)

२२. स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरके कण-कणमें परमात्मा हैं और उनका अनुभव करना ही मनुष्य-जन्मका खास ध्येय है। (८।४)

२३. भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे भगवान्‌का स्मरण सब समयमें होता है; क्योंकि उद्देश्यकी जागृति हरदम रहती है। (८। ७)

२४. उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका ध्येय होनेसे सब अनर्थ-परम्परा आ ही जाती है। (९। १२)

२५. मनुष्यमें दैवी सम्पत्ति तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्तिका हो जाता है। (९। १३)

२६. जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुटुम्ब-पालन आदि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक साधकका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्‌के साथ नहीं रहता। अगर वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको ठीक-ठीक पहचान ले, तो उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्राप्तिका साधन हो जायगी। (१२।१)

२७. सम्पूर्ण कर्मों (वर्णाश्रमधर्मानुसार) शरीरनिर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, ध्यान, नाम-जप और पारमार्थिक कर्मों)-का उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रह न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो। (१२।१०)

२८. जब साधकका यह लक्ष्य हो जायगा कि उसे भगवान्‌को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका भगवान्‌के साथ स्वत:सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। किसी साधनका छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टिसे ही है। वास्तवमें मुख्यता उद्देश्यकी ही है। (१२। १२ वि.)

२९. साधककी बुद्धि जितने अंशमें परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको धारण करती है, उतने ही अंशमें उसमें विवेककी जागृति तथा संसारसे वैराग्य हो जाता है। (१३। ११ वि.)

३०. जब मनुष्यका उद्देश्य परमात्मप्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों एवं दुराचारोंकी जड़ कट जाती है, चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो! (१३। ११ वि.)

३१. पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों क्रमश: एक-दूसरेसे ऊँचे होते हैं। (१४। १४)

३२. जिसका उद्देश्य संसार नहीं है, प्रत्युत परमात्मा है, वह साधारण मनुष्योंकी तरह प्रकृतिमें स्थित नहीं है। (१४।१७)

३३. जिन साधकोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, उनमें असंगता, निर्ममता और निष्कामता स्वत: आ जाती है। (१५। ११)

३४. जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य, लक्ष्य केवल एक परमात्माकी प्राप्तिका हो जाता है, तब अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। कारण कि नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे ही अन्त:करणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन तरहके दोष आते हैं। (१६।१)

३५. उद्देश्य तो पहलेसे ही बना हुआ है। उसके बाद हमें मनुष्यशरीर मिला है। अत: उद्देश्यको केवल पहचानना है, बनाना नहीं है। (१६। १ टि.)

३६. परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर अपनी (स्वयंकी) शुद्धि हो जाती है। स्वयंकी शुद्धि होनेपर शरीर, वाणी, कुटुम्ब, धन आदि सभी शुद्ध एवं पवित्र होने लगते हैं। शरीर आदिके शुद्ध हो जानेसे वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि भी शुद्ध हो जाते हैं। (१६। ३)

३७. जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, उसमें सद्भावकी मुख्यता हो जाती है और जिसका उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रहका हो जाता है, उसमें दुर्भावकी मुख्यता हो जाती है और

सद्भाव छिपने लगते हैं। (१६। ६)

३८. उद्देश्य वही कहलाता है, जो नित्यसिद्ध और अनुत्पन्न है अर्थात् जो अनादि है और जिसका कभी विनाश नहीं होता। उस उद्देश्यकी सिद्धि मनुष्यजन्ममें ही होती है और उसकी सिद्धिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है। (१८। ६)

३९. साधक पहले कैसे ही भावों और आचरणोंवाला अर्थात् पापी-से-पापी और दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न रहा हो, वह भी 'मुझे तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस उद्देश्यपर दृढ़ रहता है, तो उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं। (१८। २९)

४०. पारमार्थिक मार्गमें क्रिया इतना काम नहीं करती, जितना अपना उद्देश्य काम करता है।....... स्वयंमें जैसा लक्ष्य होता है, उसके अनुसार स्वतः क्रियाएँ होती हैं। (१८। ३५)

४१. परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको लेकर मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वे सब कर्म अन्तमें उसी उद्देश्यमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् उसी उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले हो जाते हैं। (१८। ४५)

***

उपयोग

(सदुपयोग-दुरुपयोग)

१. सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिका प्राप्त होना प्रारब्ध है और उस परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करना वास्तविक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है। सुखका सदुपयोग है—दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना और दुःखका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। (२। १५ परि.)

२. फलेच्छापूर्वक शास्त्रविहित कर्म करनेसे और प्राप्त परिस्थितिका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् भगवदाज्ञा-विरुद्ध कर्म करनेसे सत्-असत् योनियोंकी प्राप्ति होती है अर्थात् देवताओंकी योनि, चौरासी लाख योनि और नरक प्राप्त होते हैं। (७। २७)

३. हमारेको जो अवस्था, परिस्थिति मिली है, उसका दुरुपयोग न करनेका निर्णय किया जाय कि 'हम दुरुपयोग नहीं करेंगे अर्थात् शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम नहीं करेंगे।' इस प्रकार रागरहित होकर दुरुपयोग न करनेका निर्णय होनेपर सदुपयोग अपने-आप होने लगेगा अर्थात् शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुकूल काम होने लगेगा। (७। २७)

४. वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितमें लगा देना ही वस्तुओंका सदुपयोग है। इससे कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और महान् आनन्दस्वरूप परमात्माका अनुभव हो जाता है। (४। १४)

५. परमात्माने जीवात्माको शरीरादि सामग्रीका सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता दी है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करनेके लिये ये वस्तुएँ दी हैं, उनका स्वामी बननेके लिये नहीं। (१५।८)

६. जैसे ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसको चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गायका दूध पीनेका हमें हक नहीं है; ऐसे ही मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें हक नहीं है। (१५। ९)

७. अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना

अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुखबुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत् पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दु:खी होना दुरुपयोग है। (१८। १२ वि.)

***

एकान्त

१. एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। (२। ३८ परि.)

२. वास्तवमें शरीरको एकान्तमें ले जानेको ही एकान्त मान लेना भूल है; क्योंकि शरीर संसारका ही एक अंश है। अत: शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होना अर्थात् उसमें अहंता-ममता न रहना ही वास्तविक एकान्त है। (३। ४)

३. व्यवहारकी सावधानी एकान्तमें और एकान्तकी सावधानी व्यवहारमें सहायक है। (६। १४)

४. जबतक साधक अपनेको शरीरसे स्पष्टत: अलग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक संसारसे अलग रहनेमात्रसे उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शरीर भी संसारका ही अंग है और शरीरमें तादात्म्य और ममताका न रहना ही उससे वस्तुत: अलग होना है। (१२। ३-४)

५. साधक सर्वदा एकान्तमें ही रहे, यह सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना ही पड़ता है और वैराग्यमें कमी होनेपर उसके व्यवहारमें अभिमानके कारण कठोरता आनेसे उसके व्यक्तित्व (अहंभाव)-का नाश नहीं होता। अत: उसे तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। (१२। ३-४)

६. वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ताका अभाव होनेसे ही होती है। साधन करनेके लिये एकान्त भी उपयोगी है; परन्तु सर्वथा एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होना सम्भव है। शरीरमें अपनापन न होना ही वास्तविक एकान्त है। (१२। ३-४)

७. साधककी रुचि तो एकान्तमें रहनेकी ही होनी चाहिये, पर ऐसा एकान्त न मिले तो मनमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होना चाहिये। उसके मनमें यही विचार होना चाहिये कि संसारके संगका, संयोगका तो स्वत: ही वियोग हो रहा है और स्वरूपमें असंगता स्वत:सिद्ध है। इस स्वत:सिद्ध असंगतामें संसारका संग, संयोग, सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता। (१३। १०)

८. केवल निर्जन वन आदिमें जाकर और अकेले पड़े रहकर यह मान लेना कि 'मैं एकान्त स्थानमें हूँ' वास्तवमें भूल ही है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीज यह शरीर तो साथमें है ही। जबतक इस शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक सम्पूर्ण संसारके साथ सम्बन्ध बना हुआ ही है। अत: एकान्त स्थानमें जानेका लाभ तभी है, जब देहाभिमानके नाशका उद्देश्य मुख्य हो। (१३। १०)

९. वास्तविक एकान्त वह है, जिसमें एक तत्त्वके सिवाय दूसरी कोई चीज न उत्पन्न हुई, न है और न होगी। (१३। १०)

१०. साधकको अपनी चेष्टा तो एकान्तमें साधन करनेकी करनी चाहिये, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थितिको भगवान्‌की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साहसे प्रसन्नतापूर्वक साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। (१६। १)

११. बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। अगर कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। (१८। ११ परि.)

१२. प्रवृत्तिको छोड़कर कोई एकान्तमें भजन-ध्यान करता है तो वहाँ उसके सामने द्रव्य, पदार्थ तो नहीं है, पर 'लोग मेरेको ज्ञानी, ध्यानी, साधक समझेंगे, तो मेरा आदर-सत्कार होगा'—इस प्रकार एक सूक्ष्म इच्छा रहती है, जिसे 'वासना' कहते हैं। (१८। ३०)

१३. साधकका स्वभाव तो एकान्तमें रहनेका ही होना चाहिये, पर एकान्त न मिले तो उसके अन्त:करणमें हलचल नहीं होनी चाहिये। कारण कि हलचल होनेसे अन्त:करणमें संसारकी महत्ता आती है और संसारकी महत्ता आनेपर हलचल होती है, जो कि ध्यानयोगमें बाधक है। (१८। ५१—५३)

***

कर्तव्य-कर्म

१. कोई भी काम करना हो तो वह धर्मको सामने रखकर ही करना चाहिये। प्रत्येक कार्य सबके हितकी दृष्टिसे ही करना चाहिये, केवल अपने सुख-आरामकी दृष्टिसे नहीं। (१। १)

२. कर्तव्य चिन्ताका विषय नहीं होता, प्रत्युत विचारका विषय होता है। विचारसे कर्तव्यका बोध होता है, और चिन्तासे विचार नष्ट होता है। (२। ११)

३. अपने कर्तव्यका पालन करनेमें जो सुख है, वह सुख सांसारिक भोगोंको भोगनेमें नहीं है। सांसारिक भोगोंका सुख तो पशु-पक्षियोंको भी होता है। अत: जिनको कर्तव्य-पालनका अवसर प्राप्त हुआ है, उनको बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिये। (२। ३२)

४. जिसमें अपने सुखकी इच्छाका त्याग करके दूसरेको सुख पहुँचाया जाय और जिसमें अपना भी हित हो तथा दूसरेका भी हित हो, वह 'कर्तव्य' कहलाता है। कर्तव्यका पालन करनेसे 'योग'की प्राप्ति अपने-आप हो जाती है। (२। ३९ परि.)

५. दूसरोंके हितमें ही अपना हित है। दूसरोंके हितसे अपना हित अलग मानना ही गलती है। इसलिये लौकिक तथा शास्त्रीय जो कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब लोक-हितार्थ होने चाहिये। अपने सुखके लिये किया गया कर्म तो बन्धनकारक है ही, अपने व्यक्तिगत हितके लिये किया गया कर्म भी बन्धनकारक है। केवल अपने हितकी तरफ दृष्टि रखनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। इसलिये और तो क्या, जप, चिन्तन, ध्यान, समाधि भी केवल लोकहितके लिये ही करे। (३। ९)

६. जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना, उनको सुख पहुँचाना होता है, उसीके द्वारा कर्तव्य-कर्म हुआ करते हैं। (३। ९)

७. ब्रह्माजीके विधानके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी सामग्री जिस-जिसको, जो-जो भी मिली हुई

है, वह कर्तव्य-पालन करनेके लिये उस-उसको पूरी-की-पूरी प्राप्त है। कर्तव्य-पालनकी सामग्री कभी किसीके पास अधूरी नहीं होती। (३।१०)

८. अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे मनुष्यका स्वत: कल्याण हो जाता है। (३। ११)

९. वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते। (३।१०-११ मा.)

१०. जैसे शरीरका एक भी पीड़ित (रोगी) अंग ठीक होनेपर सम्पूर्ण शरीरका स्वत: हित होता है, ऐसे ही अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेवाले मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिका स्वत: हित होता है। (३। १२)

११. जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं। अत: परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। (३। १५)

१२. जब व्यक्ति कामना, ममता, आसक्ति और अहंताका त्याग करके अपने कर्तव्यका पालन करता है, तब उससे सम्पूर्ण सृष्टिमें स्वत: सुख पहुँचता है। (३। १६)

१३. जिसमें किसी भी क्रियाको करने अथवा न करनेका कोई राग नहीं है, संसारकी किसी भी वस्तु आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, जीवित रहनेकी कोई आशा नहीं है और मृत्युसे कोई भय नहीं है, उसे कर्तव्य करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उससे स्वत: कर्तव्य-कर्म होते रहते हैं। (३। १८)

१४. कर्तव्यका सम्बन्ध प्रत्येक परिस्थितिसे जुड़ा हुआ है। इसलिये प्रत्येक परिस्थितिमें कर्तव्य निहित रहता है। केवल सुखलोलुपतासे ही मनुष्य कर्तव्यको भूलता है। (३। १८)

१५. कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको कर सकते हैं और जिसको अवश्य करना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें कर्तव्यका अर्थ होता है—अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करना अर्थात् दूसरोंकी उस शास्त्रविहित न्याययुक्त माँगको पूरा करना, जिसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हमारेमें है। इस प्रकार कर्तव्यका सम्बन्ध परहितसे है। (३। १९)

१६. कर्तव्यका पालन करनेमें सब स्वतन्त्र और समर्थ हैं, कोई पराधीन और असमर्थ नहीं है। हाँ, प्रमाद और आलस्यके कारण अकर्तव्य करनेका बुरा अभ्यास (आदत) हो जानेसे तथा फलकी इच्छा रहनेसे ही वर्तमानमें कर्तव्य-पालन कठिन मालूम देता है, अन्यथा कर्तव्य-पालनके समान सुगम कुछ नहीं है। (३। १९)

१७. मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्यका पालन कर सकता है। (३। १९)

१८. अपनेमें कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाती है और दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना अपना कर्तव्य नहीं है। (३। १९)

१९. कोई भी कर्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्तव्यमात्र समझकर (सेवाभावसे) करनेपर समान ही है। देश, काल, परिस्थिति, अवसर, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार जो कर्तव्यकर्म सामने आ जाय, वही कर्म बड़ा होता है। (३। २०)

२०. जैसे शरीरका कोई भी पीड़ित (रोगी) अंग ठीक हो जानेपर सम्पूर्ण शरीरका हित होता है, ऐसे ही मर्यादामें रहकर प्राप्त वस्तु, समय, परिस्थिति आदिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण संसारका स्वत: हित होता है। (३। २१)

२१. जैसे वृक्षकी कड़ी टहनी जल्दी टूट जाती है, पर जो अधूरी टूटनेके कारण लटक रही है, ऐसी शिथिल (ढीली) टहनी जल्दी नहीं टूटती, ऐसे ही सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, पर आलस्य-प्रमादपूर्वक (शिथिलतापूर्वक) कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। (३। २३)

२२. अगर किसी कर्मकी बार-बार याद आती है, तो यही समझना चाहिये कि कर्म करनेमें कोई त्रुटि (कामना, आसक्ति, अपूर्णता, आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा आदि) हुई है, जिसके कारण उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है। कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद न होनेके कारण ही किये गये कर्मकी याद आती है। (३। २३)

२३. समय-समयपर जो कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे साधकको निष्काम, निर्मम तथा नि:संताप होकर भगवदर्पण-बुद्धिसे करना चाहिये। उसके परिणाम (सिद्धि या असिद्धि)-की तरफ नहीं देखना चाहिये। (३। ३०)

२४. कर्तव्य-कर्म करनेसे ही साधकको पता लगता है कि मुझमें क्या और कहाँ कमी (कामना, ममता आदि) है? (३।३०)

२५. कर्तव्य-कर्मका पालन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्देश्य संसारका न होकर एकमात्र परमात्माका हो जाय। (३।३० वि.)

२६. दूसरोंके कर्तव्यसे अपने कर्तव्यमें कमी दीखनेपर भी अपना कर्तव्य ही कल्याण करनेवाला है। अत: किसी भी अवस्थामें अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये। (३।३५)

२७. परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य न रहनेसे तथा अन्त:करणमें प्राकृत पदार्थोंका महत्त्व रहनेसे ही कर्म घोर या सौम्य प्रतीत होते हैं। (३। ३५)

२८. नि:स्वार्थभावसे अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेपर आस्तिककी तो बात ही क्या, परलोकको न माननेवाले नास्तिकके भी चित्तमें सात्त्विक प्रसन्नता आ जाती है। यह प्रसन्नता कल्याणका द्योतक है; क्योंकि कल्याणका वास्तविक स्वरूप 'परमशान्ति' है। (३। ३५)

२९. कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसे अवश्य करना चाहिये अर्थात् जो करनेयोग्य है और जिसे करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है। जो नहीं कर सकते, उसे करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं है और जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करना ही नहीं है। जिसे नहीं करना चाहिये, उसे न करनेसे दो अवस्थाएँ अवश्य आती हैं—निर्विकल्प अवस्था अर्थात् कुछ न करना अथवा जिसे करना चाहिये, उसे करना। (४। १ वि.)

३०. कर्तव्य सदा निष्कामभावसे एवं परहितकी दृष्टिसे किया जाता है। सकामभावसे किया गया कर्म बन्धनकारक होता है, इसलिये उसे करना ही नहीं है। निष्कामभावसे किया जानेवाला कर्म फलकी कामनासे रहित होता है, उद्देश्यसे रहित नहीं। (४। १ वि.)

३१. प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, घटना आनेपर भी साधक प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे—अपने कर्तव्यसे थोड़ा भी विचलित न हो तो यह सबसे बड़ी तपस्या

है, जो शीघ्र सिद्धि देनेवाली होती है। (४। २८)

३२. केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे संसारसे सम्बन्ध छूट जाता है और असंगता आ जाती है। अगर केवल भगवान्‌के लिये कर्म किये जायँ, तो संसारसे सम्बन्ध छूटकर असंगता तो आ ही जाती है, इसके साथ एक विलक्षण बात यह होती है कि भगवान्‌का 'प्रेम' प्राप्त हो जाता है। (४। ३०)

३३. केवल दूसरोंके हितके लिये किया जानेवाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जो कर्म अपने लिये किया जाता है, वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्ममात्र होता है, जिससे मनुष्य बँधता है। (४। ३१)

३४. अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे घरमें भी भेद और संघर्ष पैदा हो जाता है, खटपट मच जाती है।........स्वार्थत्यागपूर्वक अपने कर्तव्यसे सबको सुख पहुँचाना घरमें अथवा संसारमें रहनेकी विद्या है। अपने कर्तव्यका पालन करनेसे दूसरोंको भी कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा मिलती है। इससे घरमें एकता और शान्ति स्वाभाविक आ जाती है। (४। ३१)

३५. कर्तव्य-कर्म असम्भव तो होता ही नहीं, कठिन भी नहीं होता। जिसको करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य-कर्म होता ही नहीं। (६। १)

३६. मनुष्यमात्रको देश, काल, परिस्थितिके अनुरूप जो भी कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जाय, उसे कर्तृत्व और फलासक्तिसे रहित होकर करनेसे वह कर्म मनुष्यको बाँधनेवाला नहीं होता अर्थात् वह कर्म फलजनक नहीं बनता। (७। २९)

३७. संसारमें जो वर्ण-आश्रमकी मर्यादा है, 'ऐसा काम करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये'— यह जो विधि-निषेधकी मर्यादा है, इसको महापुरुषोंने जीवोंके कल्याणार्थ व्यवहारके लिये मान्यता दी है। (७। ३०)

३८. कर्मोंमें जो अपने करनेका अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर नहीं करूँ तो नहीं होगा', यह केवल अज्ञताके कारण ही अपनेमें आरोपित कर रखा है। अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाय, तो उसका उद्धार स्वत:सिद्ध है। (११। ३३)

३९. जो होनेवाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्तिसे रोक नहीं सकता; और जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने बल-बुद्धिसे कर नहीं सकता। अत: सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन किया जाय तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है। (११। ३३)

४०. राग-द्वेषादिका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे ही क्रियाओंका वेग शान्त होता है। (१२। ११)

४१. कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा ही संसारमें बन्धनका कारण है। आसक्ति और फलेच्छा न रहनेसे कर्मफलत्यागी पुरुष सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। (१२। १२)

४२. जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं, उनको कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? इसका समाधान है कि अगर उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वत: होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उलटे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं। (१६। २४ परि.)

४३. जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र

करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म अगर अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें महान् दु:ख देनेवाले हो जाते हैं। (१८।५ परि.)

४४. अपनी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्मोंको केवल प्राणिमात्रके हितके लिये करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारके लिये और योग अपने लिये हो जाता है। परन्तु कर्मोंको अपने लिये करनेसे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं—अपने व्यक्तित्वको नष्ट नहीं होने देते। (१८।६)

४५. भगवान्‌को प्राप्त करना मनुष्यजन्मका ध्येय है; अत: उस ध्येयकी सिद्धिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करना वास्तवमें कर्तव्यका त्याग करना नहीं है, प्रत्युत असली कर्तव्यको करना है। (१८। ८)

४६. एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग)-में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है। इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। (१८।९ परि.)

४७. शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। (१८। ४६)

४८. मनुष्यके मनमें ऐसा आता है कि मैं कर्तव्यका पालन करनेमें और सद्‌गुणोंको लानेमें असमर्थ हूँ। परन्तु वास्तवमें वह असमर्थ नहीं है। सांसारिक भोगोंकी आदत और पदार्थोंके संग्रहकी रुचि होनेसे ही असमर्थताका अनुभव होता है। (१८।४७ वि.)

४९. जिसका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ सम्बन्ध है, उसपर ही शास्त्रोंका विधि-निषेध, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार कर्तव्यका पालन आदि नियम लागू होते हैं और उसको उन-उन नियमोंका पालन जरूर करना चाहिये। (१८। ५८)

५०. यदि तू शास्त्र या सन्त-महापुरुषोंकी आज्ञासे अथवा मेरी (भगवान्‌की) आज्ञासे युद्धरूप कर्म करेगा, तो वही कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा। कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञासे कर्मोंको करनेसे, उन कर्मोंमें जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायँगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञाकी तरफ रहेगी, राग-द्वेषकी तरफ नहीं। अत: वे कर्म बन्धनकारक न होकर कल्याणकारक ही होंगे। (१८। ६०)

५१. मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना स्वभाव ठीक करना अर्थात् निषिद्ध कर्मोंके स्वभावका त्याग करके विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार आचरण करना। (१८। ६० परि.)

***

कर्मयोग

१. 'स्वधर्म' को ही स्वभावज कर्म, सहज कर्म, स्वकर्म आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १८। ४१—४८)। स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरेके हितके लिये कर्म करना स्वधर्म है। स्वधर्मका पालन ही 'कर्मयोग' है। (२। ३१ परि.)

२. कर्मोंमें निष्काम होनेके लिये साधकमें तेजीका विवेक भी होना चाहिये और सेवाभाव भी होना

चाहिये; क्योंकि इन दोनोंके होनेसे ही कर्मयोग ठीक आचरणमें आयेगा, नहीं तो 'कर्म' हो जायँगे, पर 'योग' नहीं होगा। (२। ४७)

३. कर्मयोगमें मुख्य बात है—अपने कर्तव्यके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना और कर्मफलका अर्थात् अपने अधिकारका त्याग करना। (२। ४७ परि.)

४. कर्मयोगीकी इतनी समता अर्थात् निष्कामभाव होना चाहिये कि कर्मोंकी पूर्ति हो चाहे न हो, फलकी प्राप्ति हो चाहे न हो, अपनी मुक्ति हो चाहे न हो, मुझे तो केवल कर्तव्य-कर्म करना है। (२। ४८)

५. कर्मयोगमें 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। योगकी प्राप्ति कर्मसे नहीं होती, प्रत्युत सेवा, त्यागसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है। (२। ४९ परि.)

६. गीतामें कर्मयोगके लिये तीन शब्द आये हैं—बुद्धि, योग और बुद्धियोग। कर्मयोगमें कर्मकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'योग' की प्रधानता है। (२। ४९ परि.)

७. कर्मयोग मुक्तिका, कल्याणप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मयोगसे संसारकी निवृत्ति और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति—दोनों हो जाते हैं। (२। ५१ परि.)

८. कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। (२। ५५ परि.)

९. कर्मयोगीमें तो कर्म करनेकी ही प्रधानता रहती है और उसमें वह अपना ही पुरुषार्थ मानता रहता है। अतः भगवान् विशेष कृपा करके कर्मयोगी साधकके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कह रहे हैं। (२। ६१)

१०. किसीको बुरा न समझे, किसीका बुरा न चाहे और किसीका बुरा न करे तो 'कर्मयोग' आरम्भ हो जाता है। (३। ३ परि.)

११. कर्मयोगमें कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। कारण कि निष्कामभावसे कर्म करनेपर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है। (३। ४)

१२. कर्मयोगीकी वास्तविक महिमा आसक्तिरहित होनेमें ही है। कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले किसी भी फलको न चाहना अर्थात् उससे सर्वथा असंग हो जाना ही आसक्तिरहित होना है। (३। ७)

१३. अपनेमें कल्याणकी इच्छा हो, स्वभावमें उदारता हो और हृदयमें करुणा हो अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी (प्रसन्न) और दुःखसे दुःखी (करुणित) हो जाय—ये तीन बातें होनेपर मनुष्य कर्मयोगका अधिकारी हो जाता है। कर्मयोगका अधिकारी होनेपर कर्मयोग सुगमतासे होने लगता है। (३।७ परि.)

१४. कर्मयोगमें एक विभाग 'कर्म' (कर्तव्य)-का है और एक विभाग 'योग' का है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यताका सदुपयोग करना और व्यक्तियोंकी सेवा करना—यह कर्तव्य है। कर्तव्यका पालन करनेसे संसारसे माने हुए संयोगका वियोग हो जाता है—यह योग है। कर्तव्यका सम्बन्ध संसारके साथ है और योगका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। (३। ७ परि.)

१५. 'कर्म' संसारके लिये है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माके साथ 'योग' अपने लिये है। इसीका नाम है—कर्मयोग। (३। ९)

१६. कर्मयोगमें सभी कर्म केवल दूसरोंके लिये किये जाते हैं, अपने लिये कदापि नहीं। दूसरे कौन-

कौन हैं? इसे समझना भी बहुत जरूरी है। अपने शरीरके सिवाय दूसरे प्राणी-पदार्थ तो दूसरे हैं ही, पर ये अपने कहलानेवाले स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण) और कारणशरीर (जिसमें माना हुआ अहम् है) भी स्वयंसे दूसरे ही हैं। (३। ९)

१७. कर्मयोगी सदा देनेका ही भाव रखता है, लेनेका नहीं; क्योंकि लेनेका भाव ही बाँधनेवाला है।(३।१०)

१८. कर्मयोग तभी होता है, जब मनुष्य अपने कर्तव्यके पालनपूर्वक दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। (३।११)

१९. कर्मयोगके सिद्धान्तमें प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, समय तथा समझदारीका सदुपयोग करनेका ही विधान है। प्राप्त सामग्री आदिसे अधिककी (नयी-नयी सामग्री आदिकी) कामना करना कर्मयोगके सिद्धान्तसे विरुद्ध है। (३। १२)

२०. एक बड़ी मार्मिक बात यह है कि कर्मयोगी अपने कल्याणके लिये भी कोई कर्म न करके संसारमात्रके कल्याणके उद्देश्यसे ही सब कर्म करता है। कारण कि सबके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना भी व्यक्तित्व और विषमताको जन्म देना है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। (३। १२)

२१. कर्मयोगीमें मान-बड़ाई आदिकी इच्छा नहीं होती; क्योंकि इनकी इच्छा और सुखभोग ही बन्धनकारक होता है। (३। १२)

२२. साधारण मनुष्य तो कामना-पूर्तिके लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी कामना-निवृत्तिके लिये कर्म करता है। (३।१८)

२३. कर्म तो सभी किया करते हैं, पर कर्मयोग तभी होता है, जब आसक्तिरहित होकर दूसरोंके लिये कर्म किये जाते हैं। (३।१९)

२४. कर्मयोगी किसी क्रियाको करते समय ही अपनेको उस क्रियाका कर्ता मानता है, अन्य समय नहीं। (३। १९)

२५. कर्मयोगी जैसे कर्तृत्वको अपनेमें निरन्तर नहीं मानता, ऐसे ही माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिके साथ अपना सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं मानता। केवल सेवा करते समय ही उनके साथ अपना सम्बन्ध (सेवा करनेके लिये ही) मानता है। ......दूसरा अपने कर्तव्यका पालन करता है या नहीं, उसकी ओर वह नहीं देखता। (३। १९)

२६. संसारसे मिली वस्तुओंको संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे सुगमतापूर्वक संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है। इसलिये कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका सुगम, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र साधन है—इसमें कोई सन्देह नहीं।(३।२०)

२७. सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् समझनेके कारण ही कर्मयोग (निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म)-के पालनमें कठिनाई प्रतीत होती है। हमें दूसरोंसे कुछ न चाहकर केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करने हैं—इस बातको यदि स्वीकार कर लें तो आज ही कर्मयोगका पालन सुगम हो जाय। (३। २५ वि.)

२८. जैसे भक्त पदार्थोंको भगवान्‌का ही मानकर भगवान्‌के अर्पण करता है—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये',** ऐसे ही कर्मयोगी पदार्थोंको संसारका ही मानकर संसारके अर्पण करता है। (३। ३४)

२९. कर्मयोगी अपने लिये कुछ करता ही नहीं, अपने लिये कुछ चाहता ही नहीं और अपना कुछ मानता ही नहीं। इसलिये उसमें कामनाओंका नाश सुगमतापूर्वक हो जाता है। (३। ४३)

३०. संन्यासीके द्वारा जो परमात्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है, वही तत्त्व कर्मयोगी गृहस्थाश्रममें रहकर भी स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। अत: कर्मयोग गृहस्थोंकी तो मुख्य विद्या है, पर संन्यास आदि अन्य आश्रमवाले भी इसका पालन करके परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है। अत: कर्मयोगका पालन किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, काल आदिमें किया जा सकता है। (४। १)

३१. एक-दूसरेकी सहायतासे ही सबका जीवन चलता है। धनी-से-धनी व्यक्तिका जीवन भी दूसरेकी सहायताके बिना नहीं चल सकता। हमने किसीसे लिया है तो किसीको देना, किसीकी सहायता करना, सेवा करना हमारा भी परम कर्तव्य है। इसीका नाम कर्मयोग है। (४। १ वि.)

३२. जो जान-बूझकर कार्यको खोज-खोजकर सेवा करता है, वह कर्म करता है, सेवा नहीं; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका उद्देश्य पारमार्थिक न रहकर लौकिक हो जाता है। सेवा वह है, जो परिस्थितिके अनुरूप की जाय। कर्मयोगी न तो परिस्थिति बदलता है और न परिस्थिति ढूँढ़ता है। वह तो प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है। (४। १ वि.)

३३. जब कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल संसारमात्रके हितके भावसे ही समस्त कर्म करता है, तब भगवान्‌की सर्वव्यापी हितैषिणी शक्तिसे उसकी एकता हो जाती है और उसके कर्मोंमें विलक्षणता आ जाती है। भगवान्‌की शक्तिसे एकता होनेसे उसमें भगवान्‌की शक्ति ही काम करती है और उस शक्तिके द्वारा ही लोगोंका हित होता है। इसलिये कर्तव्य-कर्म करनेमें न तो कोई बाधा लगती है और न परिश्रमका अनुभव ही होता है। (४। १ वि.)

३४. कर्मयोगका आचरण लुप्तप्राय होनेपर भी उसका सिद्धान्त (अपने लिये कुछ न करना) सदैव रहता है; क्योंकि इस सिद्धान्तको अपनाये बिना किसी भी योग (ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि)-का निरन्तर साधन नहीं हो सकता।.........ज्ञानयोगी और भक्तियोगीको कर्मयोगका सिद्धान्त तो अपनाना ही पड़ेगा; भले ही वे कर्मयोगका अनुष्ठान न करें। (४। २)

३५. कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन किया जाय तो यदि कर्मयोगीमें ज्ञानयोगके संस्कार हैं तो उसे ज्ञानकी प्राप्ति, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो उसे भक्तिकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है। (४। ३)

३६. कर्मयोगका पालन करनेसे अपना ही नहीं, प्रत्युत संसारमात्रका भी परमहित होता है। (४। ३)

३७. विवेककी पूर्ण जागृति न होनेपर भी कर्मयोगीमें एक निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि जो अपना नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है और सांसारिक सुखोंको न भोगकर केवल सेवा करनी है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिके कारण उसके अन्त:करणमें सांसारिक सुखोंका महत्त्व नहीं रहता। फिर 'भोगोंमें सुख है'—ऐसे भ्रममें उसे कोई डाल नहीं सकता। अत: इस एक निश्चयको अटल रखनेसे ही उसका कल्याण हो जाता है। (४। ३)

३८. कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर्मयोगमें (ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी) सरलतासे हो जाता है। कारण कि कर्मयोगमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे होनेवाले सम्पूर्ण कर्म निष्कामभावपूर्वक केवल संसारके हितके लिये होनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और अपना कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। (४। ९ टि.)

३९. फलेच्छाका त्याग करके केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं रहते। कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। अत: इनके न रहनेसे मुक्ति स्वत:सिद्ध ही है। (४।१४)

४०. कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत सेवा है। सेवामें त्यागकी मुख्यता होती है। सेवा और त्याग—ये दोनों ही कर्म नहीं हैं। इन दोनोंमें विवेककी ही प्रधानता है। (४। १६)

४१. मिली हुई वस्तु अपनी नहीं है, दूसरोंकी और दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही है—यह विवेक है। इसलिये मूलत: कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत विवेक है। (४।१६)

४२. कर्मयोगी अगर संन्यासी है, तो वह सब प्रकारकी भोग-सामग्रीके संग्रहका स्वरूपसे त्याग कर देता है। अगर वह गृहस्थ है, तो वह भोगबुद्धिसे (अपने सुखके लिये) किसी भी सामग्रीका संग्रह नहीं करता। (४। २१)

४३. वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोगमें कर्म करना, अधिक करना, कम करना अथवा न करना बन्धन या मुक्तिका कारण नहीं है। इनके साथ जो लिप्तता (लगाव) है, वही बन्धनका कारण है और जो निर्लिप्तता है, वही मुक्तिका कारण है। (४। २२)

४४. कर्मयोगीका 'अहम्' भी सेवामें लग जाता है। तात्पर्य है कि उसके भीतर 'मैं सेवक हूँ' यह भाव भी नहीं रहता। (४। २३)

४५. तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी गुरुकी, ग्रन्थकी या दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। कर्मयोगकी विधिसे कर्तव्य-कर्म करते हुए ही उसे अपने-आप तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा। (४। ३८)

४६. कर्मयोगीका उद्देश्य स्वरूपबोधको प्राप्त करनेका होता है। (४। ४१)

४७. कर्मयोगके साधकको ज्ञान-प्राप्तिके लिये दूसरे साधनोंकी तथा तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर निवास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। (५। अव.)

४८. जिन साधकोंमें तीव्र वैराग्य नहीं है, वे भी कल्याणकी तीव्र इच्छा जाग्रत् होनेपर कर्मयोगका साधन सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। (५। १)

४९. मानवमात्रमें कर्म करनेका राग अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसे मिटानेके लिये कर्म करना आवश्यक है (गीता ६। ३)। परन्तु वे कर्म किस भाव और उद्देश्यसे कैसे किये जायँ कि करनेका राग सर्वथा मिट जाय, उस कर्तव्य-कर्मको करनेकी कलाको 'कर्मयोग' कहते हैं। (५। २)

५०. कर्मयोगका साधन प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके द्वारा किया जा सकता है, चाहे वह किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो। (५। २)

५१. प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना कर्मयोग है। युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी कर्मयोगका पालन किया जा सकता है। कर्मयोगका पालन करनेमें कोई भी मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें असमर्थ और पराधीन नहीं है। (५। २)

५२. कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही कर्तृत्व होता है। जिस कर्मसे अपने लिये किसी प्रकारके भी सुखभोगकी इच्छा नहीं है, वह क्रियामात्र है, कर्म नहीं। जैसे यन्त्रमें कर्तृत्व नहीं रहता, ऐसे ही कर्मयोगीमें कर्तृत्व नहीं रहता।(५।२)

५३. कर्मयोगमें कार्य छोटा है या बड़ा, इसपर दृष्टि नहीं रहती। जो भी कर्तव्य-कर्म सामने आ

जाय, उसीको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये करना है।........अपने लिये कर्म न करनेका अर्थ है—कर्मोंके बदलेमें अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा न होना। (५। २)

५४. कर्मयोगी सेवा करनेके लिये तो सबको अपना मानता है, पर अपने लिये किसीको भी अपना नहीं मानता। (५। २ टि.)

५५. रागको मिटानेके लिये कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ आदिको अपना नहीं मानता, अपने लिये कुछ नहीं करता तथा अपने लिये कुछ नहीं चाहता। (५। २)

५६. जो किसीको भी बुरा समझता है और किसीका भी बुरा चाहता है, वह कर्मयोगके तत्त्वको समझ ही नहीं सकता। (५। ३)

५७. कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं, इसलिये कर्मोंकी अभिव्यक्ति कर्तासे ही होती है। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम-कर्म होते हैं, जिसे 'कर्मयोग' कहते हैं। अतः चाहे 'कर्मयोग' कहें या 'निष्काम-कर्म'—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। (५।३)

५८. कर्तामें जितना निष्कामभाव होगा, उतना ही कर्मयोगका सही आचरण होगा। कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। (५। ३)

५९. कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति)-की प्राप्ति भी हो सकती है। (५। ५ परि.)

६०. कर्मयोगी छोटी या बड़ी प्रत्येक क्रियाको करते समय यह देखता रहता है कि मेरा भाव निष्काम है या सकाम? सकामभाव आते ही वह उसे मिटा देता है; क्योंकि सकामभाव आते ही वह क्रिया अपनी और अपने लिये हो जाती है। (५। ६)

६१. इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना कर्मयोगका साधन होना कठिन है। (५। ७)

६२. जैसे शरीरके किसी एक अंगमें चोट लगनेसे दूसरा अंग उसकी सेवा करनेके लिये सहजभावसे, किसी अभिमानके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः लग जाता है, ऐसे ही कर्मयोगीके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा सहजभावसे, किसी अभिमान या कामनाके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः होती है। (५। ७)

६३. कर्मयोगकी साधनामें फलकी इच्छाका त्याग मुख्य है।(५। ११)

६४. कर्मयोगीके कर्म उद्देश्यहीन अर्थात् पागलके कर्मकी तरह नहीं होते, प्रत्युत परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका महान् उद्देश्य रखकर ही वह लोकहितार्थ सब कर्म करता है। (५।१२)

६५. मनुष्योंमें कर्म करनेका एक वेग रहता है, जिसको कर्मयोगकी विधिसे कर्म करके ही मिटाया जा सकता है, अन्यथा वह शान्त नहीं होता।..........सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे करनेका वेग बढ़ता है। यह वेग तभी शान्त होता है, जब साधक अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म केवल लोकहितार्थ ही करता है। (६। १)

६६. समबुद्धि तीनों योगोंमें है, पर कर्मयोगमें विशेष है; क्योंकि भौतिक साधना होनेसे कर्मयोगीके

सामने विषमता ज्यादा आती है। (६।९ परि.)

६७. कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। (१२। ३-४)

६८. कर्मयोगके साधनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना अत्यन्त आवश्यक है। (१२। ३-४)

६९. कर्मयोगीके लिये अलगसे ध्यान लगानेकी जरूरत नहीं है। अगर वह ध्यान लगाना भी चाहे, तो कोई सांसारिक कामना न होनेके कारण वह सुगमतापूर्वक ध्यान लगा सकता है, जब कि सकामभावके कारण सामान्य साधकको ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है।...... ध्यानकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन श्रेष्ठ है। (१२।१२)

७०. अपना कुछ नहीं, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है—यही कर्मयोगका मूल महामन्त्र है, जिसके कारण यह सब साधनोंसे विलक्षण हो जाता है—‘**कर्मयोगो विशिष्यते**’ (गीता ५। २)। (१२। १२)

७१. ‘कर्मफलत्याग’ कर्मयोगका ही दूसरा नाम है। कारण कि कर्मयोगमें ‘कर्मफलत्याग’ ही मुख्य है। (१२। १२ वि.)

७२. भगवान्ने इसको (कर्मयोगको) प्रकट करके प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक मनुष्यको कल्याणका अधिकार प्रदान किया है, अन्यथा अध्यात्ममार्गके विषयमें कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता कि एकान्तके बिना, कर्मोंको छोड़े बिना, वस्तुओंका त्याग किये बिना, स्वजनोंके त्यागके बिना प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है! (१२। १२ वि.)

७३. फलासक्तिका त्याग कर्मयोगका बीज है। (१२। १२ वि.)

७४. कर्मयोगी जो कुछ भी करे, वह केवल संसारके हितके लिये ही करे। यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी करे, वह सब मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करे, अपने लिये नहीं। (१३। २४)

७५. मनुष्यने सांसारिक नाशवान् चीजोंको अपनी माना है, जिससे वह संसारका गुलाम हुआ है। अतः वह सबके हितके उद्देश्यसे उन नाशवान् चीजोंको संसारकी समझकर संसारकी सेवा, हितमें लगा दे, तो उसकी गुलामी (पराधीनता) छूट जायगी और वह स्वतन्त्र हो जायगा—यह कर्मयोग है। (१५। २)

७६. कर्मयोगमें विधि-निषेधको लेकर ‘अमुक काम करना है और अमुक काम नहीं करना है’—ऐसा विचार तो करना ही है; परन्तु ‘अमुक काम बड़ा है और अमुक काम छोटा है’—ऐसा विचार नहीं करना है।.......कर्मका छोटा या बड़ा होना फलकी इच्छाके कारण ही दीखता है, जब कि कर्मयोगमें फलेच्छाका त्याग होता है। (१८। ६)

७७. कर्म करना राग-पूर्तिके लिये भी होता है और राग-निवृत्तिके लिये भी। कर्मयोगी राग-निवृत्तिके लिये अर्थात् करनेका राग मिटानेके लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है। (१८। ६)

७८. कर्मयोगमें स्थूलशरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे परहितचिन्तन और कारणशरीरसे स्थिरता (एकाग्रता)—ये तीनों ही संसारके हितार्थ होते हैं। (१८। १३ टि.)

***

कामना

१. प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दु:खी न रहूँ। परन्तु मनुष्यकी यह चाहना अपने बलसे अथवा संसारसे कभी पूरी नहीं हो सकती; क्योंकि मनुष्य जो चाहता है, वह संसारके पास है ही नहीं। (न. नि.)

२. सकामभावपूर्वक किये गये कर्मोंमें अगर मन्त्र-उच्चारण, यज्ञ-विधि आदिमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल हो जाता है। (२।४०)

३. जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। (२। ४० परि.)

४. यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म यदि सकामभावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। (२।४०)

५. जैसे कोई खेतीमें निष्कामभावसे बीज बोये, तो क्या खेतीमें अनाज नहीं होगा? बोया है तो पैदा अवश्य होगा। ऐसे ही कोई निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है, तो उसको कर्मका फल तो मिलेगा ही, पर वह बन्धनकारक नहीं होगा। (२। ५१)

६. जब मनुष्य कामनारहित हो जाता है, तब उससे सभी वस्तुएँ प्रसन्न हो जाती हैं। वस्तुओंके प्रसन्न होनेकी पहचान यह है कि उस निष्काम महापुरुषके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं। (२। ७० परि.)

७. कामनावाले मनुष्यको वस्तुएँ प्राप्त हों अथवा न हों, उसके भीतर सदा अशान्ति बनी रहती है। (२। ७० परि.)

८. कामनाओंके कारण ही संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेपर संसारके साथ सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। (२। ७१)

९. वस्तुओंकी कामना भी न हो और निर्वाहमात्रकी कामना (शरीरकी आवश्यकता) भी न हो। कारण कि निर्वाहमात्रकी कामना भी सुखभोग ही है। इतना ही नहीं, शान्ति, मुक्ति, तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छा भी कामना है। अत: निष्कामभावमें मुक्तितककी कामना भी नहीं होनी चाहिये। (२। ७१ परि.)

१०. निष्काम मनुष्यके कर्मोंमें पुन: जन्म-मरणके चक्रमें घुमानेकी शक्ति नहीं रहती। कामनाका त्याग तभी हो सकता है, जब सभी कर्म दूसरोंकी सेवाके लिये किये जायँ, अपने लिये नहीं। (३।४)

११. अपनी कामनाका त्याग करनेसे संसारमात्रका हित होता है। (३।११)

१२. 'मुझे सुख कैसे मिले?'—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है। (३। १२)

१३. जबतक भोगेच्छा रहती है, तभीतक जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय रहता है। (३। १२)

१४. ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनासे ही बन्धन होता है। यह कामना

सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है (गीता ३। ३७)। (३। १३)

१५. वास्तवमें कामनाकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कामना अभावसे उत्पन्न होती है और 'स्वयं' (सत्-स्वरूप)-में किसी प्रकारका अभाव है ही नहीं और हो सकता भी नहीं। इसलिये 'स्वयं' में कामना है ही नहीं। (३। १३)

१६. कामना उत्पन्न होनेपर अपनेमें अभावका तथा काम्य वस्तुकी मिलनेपर अपनेमें पराधीनताका अनुभव होता है। अत: कामनावाला मनुष्य सदा दु:खी रहता है। (३। १७)

१७. अपने लिये कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही मनुष्य बँधता है। (३। १८)

१८. मनुष्यके निष्कामभावका दूसरोंपर स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है—यह सिद्धान्त है। (३। २५-२६)

१९. कामना सम्पूर्ण पापों, तापों, दु:खों, अनर्थों, नरकों आदिकी जड़ है। (३। ३०)

२०. सेवा, स्वरूप-बोध और भगवत्प्राप्तिका भाव उद्देश्य है, कामना नहीं। नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्तिका भाव ही कामना है। (३। ३०)

२१. अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार (जड़ता)-से अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही आवश्यकता और कामना—दोनोंकी उत्पत्ति होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है। (३। ३०)

२२. निष्काम होनेमें कठिनाई क्या है? हम निर्मम नहीं होते, यही कठिनाई है। यदि हम निर्मम हो जायँ तो निष्काम होनेकी शक्ति आ जायगी और निष्काम होनेसे असंग होनेकी शक्ति आ जायगी। (३। ३७)

२३. हम कामनाओंका त्याग करना बड़ा कठिन मानते हैं। परन्तु विचार करें कि यदि कामनाओंका त्याग करना कठिन है तो क्या कामनाओंकी पूर्ति करना सुगम है?......कामनाओंकी पूर्ति होना असम्भव है। पर कामनाओंका त्याग करना असम्भव नहीं है। यदि हम ऐसा मानते हैं कि कामनाओंका त्याग करना कठिन है, तो कठिन बात भी असम्भव बात (कामनाओंकी पूर्ति)-की अपेक्षा सुगम ही पड़ती है; क्योंकि कामनाओंका त्याग तो हो सकता है, पर कामनाओंकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। (३। ३७)

२४. कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे, अपने स्वरूपसे और अपने इष्ट (भगवान्‌से) विमुख हो जाता है और नाशवान् संसारके सम्मुख हो जाता है। नाशवान्‌के सम्मुख होनेसे पाप होते हैं और पापोंके फलस्वरूप नरकों तथा नीच योनियोंकी प्राप्ति होती है। (३। ३७)

२५. संसारके सम्पूर्ण पापों, दु:खों, नरकों आदिके मूलमें एक कामना ही है। इस लोक और परलोकमें जहाँ कहीं कोई दु:ख पा रहा है, उसमें असत्‌की कामना ही कारण है। कामनासे सब प्रकारके दु:ख होते हैं और सुख कोई-सा भी नहीं होता। (३। ३७)

२६. नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही कामना कहलाती है। अविनाशी परमात्माकी इच्छा कामनाके समान प्रतीत होती हुई भी वास्तवमें 'कामना' नहीं है। (३। ३७ वि.)

२७. जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होगा, चाहे उसकी कामना करें या न करें। जैसे कामना न करनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, ऐसे ही कामना न करनेपर अनुकूल परिस्थिति भी आयेगी ही। (३। ३७ वि.)

२८. कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं, जिस अवस्थामें हम कामना उत्पन्न

होनेसे पहले थे। (३। ३७ वि.)

२९. कामना केवल वर्तमानमें ही दुःख नहीं देती, प्रत्युत भावी जन्ममें कारण होनेसे भविष्यमें भी दुःख देती है। (३। ३७ वि.)

३०. मेरा आदेश चले; अमुक व्यक्ति मेरी आज्ञामें चले; अमुक वस्तु मेरे काम आ जाय; मेरी बात रह जाय—ये सब कामनाके ही स्वरूप हैं। (३। ३७ वि.)

३१. उत्पत्ति-विनाशशील (असत्) संसारसे कुछ लेनेकी कामना महान् अनर्थ करनेवाली है। दूसरोंकी न्याययुक्त कामना (जिसमें दूसरोंका हित हो और जिसेपूर्ण करनेकी सामर्थ्य हमारेमें हो)-को पूरी करनेसे अपनेमें कामनाके त्यागका बल आ जाता है। (३। ३७ वि.)

३२. वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। इस काम-रूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त विकार, अनन्त पाप भरे हुए हैं। अत: जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निर्विकार, निष्पाप नहीं हो सकता। (३। ३७ परि.)

३३. कामनाका वेग बढ़नेपर 'मैं साधक हूँ; मेरा यह कर्तव्य और यह अकर्तव्य है'—इसका ज्ञान नहीं रहता। (३। ३८)

३४. सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। अगर इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो कामना और अधिक बढ़ जाती है। कामना बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है। (३। ३८)

३५. प्रथमावस्थामें ही कामनाको नष्ट करनेका सरल उपाय यह है कि कामना उत्पन्न होते ही साधक विचार करे कि हम जिस वस्तुकी कामना करते हैं, वह वस्तु हमारे साथ सदा रहनेवाली नहीं है। (३। ३८)

३६. कामना उत्पन्न होते ही विवेकशील साधकको विचार आता है कि अब कोई-न-कोई आफत आयेगी! (३। ३९)

३७. गृहस्थ-जीवन ठीक नहीं, साधु हो जायँ, एकान्तमें चले जायँ—ऐसा विचार करके मनुष्य कार्यको तो बदलना चाहता है, पर कारण 'कामना' को नहीं छोड़ता; उसे छोड़नेका विचार ही नहीं करता। यदि वह कामनाको छोड़ दे तो उसके सब काम अपने-आप ठीक हो जायँ। (३। ४१)

३८. जब मनुष्य जीनेकी कामना तथा अन्य कामनाओंको रखते हुए मरता है, तब वे कामनाएँ उसके अगले जन्मका कारण बन जाती हैं। तात्पर्य यह है कि जबतक मनुष्यमें कामना रहती है, तबतक वह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है। इस प्रकार बाँधनेके सिवाय कामना और कुछ काम नहीं आती। (३। ४१)

३९. परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध माननेपर भी जीवकी वास्तविक इच्छा (आवश्यकता या भूख) अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी ही होती है। 'मैं सदा जीता रहूँ; मैं सब कुछ जान जाऊँ; मैं सदाके लिये सुखी हो जाऊँ'—इस रूपमें वह वास्तवमें सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्माकी ही इच्छा करता है, पर संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण वह भूलसे इन इच्छाओंको संसारसे ही पूरी करना चाहता है—यही 'काम' है। (३। ४३)

४०. संसारकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' संसारसे अपनी अभिन्नता या समीपता मान लेता है, जो कभी सम्भव नहीं; और परमात्माकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' परमात्मासे अपनी भिन्नता या दूरी (विमुखता)

मान लेता है, पर इसकी सम्भावना ही नहीं। हाँ, सांसारिक इच्छाओंको मिटानेके लिये पारमार्थिक इच्छा करना बहुत उपयोगी है। यदि पारमार्थिक इच्छा तीव्र हो जाय तो लौकिक इच्छाएँ स्वत: मिट जाती हैं। लौकिक इच्छाएँ सर्वथा मिटनेपर पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है अर्थात् नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है। (३। ४३ मा.)

४१. कामनाओंके त्यागमें अथवा परमात्माकी प्राप्तिमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है। (३।४३ मा.)

४२. सुख (अनुकूलता)-की कामनाको मिटानेके लिये ही भगवान् समय-समयपर दु:ख (प्रतिकूलता) भेजते हैं कि सुखकी कामना मत करो; कामना करोगे तो दु:ख पाना ही पड़ेगा। सांसारिक पदार्थोंकी कामनावाला मनुष्य दु:खसे कभी बच ही नहीं सकता—यह नियम है। (३। ४३)

४३. असत् और परिवर्तनशील वस्तुमें सद्भाव करने और उसे महत्त्व देनेसे कामनाएँ पैदा होती हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है। कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है। (४। ८)

४४. कामनासे कर्म होते हैं। जब कामना अधिक बढ़ जाती है, तब विकर्म (पापकर्म) होते हैं।........परन्तु कामना नष्ट होनेपर सब कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं। (४। १७)

४५. जो होनेवाला है, उसे चाहें या न चाहें, वह होगा ही; और जो नहीं होनेवाला है, उसे चाहें या न चाहें, वह नहीं होगा। अत: अपनी मनचाही करके मनुष्य व्यर्थमें (बिना कारण) फँसता है और दु:ख पाता है। (४। २३)

४६. कामनासे 'कर्म' होते हैं, कामनाके बढ़नेपर 'विकर्म' होते हैं और कामनाका अत्यन्त अभाव होनेसे 'अकर्म' होता है।(४।२३)

४७. निष्कामभावपूर्वक केवल लोकहितार्थ किये गये साधारण-से-साधारण कर्म भी परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं। परन्तु सकामभावपूर्वक किये गये बड़े-से-बड़े कर्मोंसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना ही बाँधनेवाली है। (४। ३०)

४८. कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये यह आवश्यक है कि कर्म अपने लिये न किये जायँ। अपने लिये कर्म न करनेका अर्थ है—कर्मोंके बदलेमें अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा न होना। जबतक अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा रहती है, तबतक कर्मोंके साथ सम्बन्ध बना रहता है। (५। २)

४९. कामना-त्याग और परहितमें परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। निष्काम होनेके लिये दूसरेका हित करना आवश्यक है। दूसरेका हित करनेसे कामनाके त्यागका बल आता है। (५। ३)

५०. साधक निष्काम तभी होता है, जब उसके अन्त:करणमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व नहीं रहता। जबतक पदार्थोंका महत्त्व है, तबतक वह निष्काम नहीं हो सकता। (५। ७)

५१. यदि मनुष्य फलकी इच्छा न करे तो भी शरीरादिको अपना माननेसे वह कर्मफलका हेतु बन ही जाता है। (५। ११ टि.)

५२. इच्छाका सर्वथा अभाव होनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। कारण कि वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छासे ही मनुष्य जन्म-मरण-रूप बन्धनमें पड़ता है। साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि क्या वस्तुओंकी इच्छासे वस्तुएँ मिल जाती हैं? और क्या जीनेकी इच्छासे मृत्युसे

बच जाते हैं? (५। २८)

५३. यदि वस्तु मिलनेवाली है तो इच्छा किये बिना भी मिलेगी और यदि वस्तु नहीं मिलनेवाली है तो इच्छा करनेपर भी नहीं मिलेगी। अत: वस्तुका मिलना या न मिलना इच्छाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। जो वस्तु इच्छाके अधीन नहीं है, उसकी इच्छाको छोड़नेमें क्या कठिनाई है? (५। २८)

५४. यदि वस्तुओंकी इच्छा न रहे तो जीवन आनन्दमय हो जाता है और यदि जीनेकी इच्छा न रहे तो मृत्यु भी आनन्दमयी हो जाती है। जीवन तभी कष्टमय होता है, जब वस्तुओंकी इच्छा करते हैं, और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं। (५। २८)

५५. अपने लिये सुखकी इच्छाका त्याग तभी होता है, जब मनुष्य किसी भी प्राणी-पदार्थको अपना न माने। (५। २९)

५६. परतन्त्रता और अभावको कोई नहीं चाहता, जबकि कामना करनेसे ये दोनों ही नहीं छूटते। (६। ३ परि.)

५७. सुखभोगकी कामना ही इसके जन्म-मरणका कारण बन जाती है। (६। ४)

५८. जबतक मनुष्यके भीतर कामनापूर्तिका उद्देश्य रहता है, तबतक वह अपने स्वभावको सुधार नहीं सकता और तभीतक स्वभावकी प्रबलता और अपनेमें निर्बलता दीखती है। (७।२०)

५९. भगवान्‌से भिन्न संसारकी सत्ता मानना और अपनी कामना रखना—ये दोनों ही पतनके कारण हैं। इनमेंसे यदि कामनाका सर्वथा नाश हो जाय तो संसार भगवत्स्वरूप दीखने लग जायगा और संसार भगवत्स्वरूप दीखने लग जाय तो कामना मिट जायगी। (७। २३)

६०. जबतक मनुष्योंके भीतर असत् (विनाशी) वस्तुओंका आदर है, कामना है, तबतक वे कितनी ही ऊँची भोग-भूमियोंमें क्यों न चले जायँ, पर असत् वस्तुका महत्त्व रहनेसे उनकी कभी भी अधोगति हो सकती है। (८। २६)

६१. जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कितनी ही सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाएँ की जायँ और उनका फल भी मिल जाय तो भी वह सब व्यर्थ ही है। (९। १२)

६२. वास्तवमें अपने लिये भोग, सुख, आराम आदि चाहना ही 'कामना' है। दूसरोंके हितकी कामना 'कामना' है ही नहीं। दूसरोंकी हितकी कामना तो त्याग है और अपनी कामनाको मिटानेका मुख्य साधन है। (१०। १)

६३. कामना होनेसे शक्तिका क्षय होता है और निष्काम होनेसे शक्तिका संचय होता है। (१०। ७ वि.)

६४. भगवान्‌की इच्छापर छोड़नेसे साधकको जो लाभ होता है, वह अपनी इच्छासे, अपनी बुद्धिसे नहीं होता। कारण कि मनुष्य कितनी ही विद्याएँ, कला-कौशल आदि सीख ले, कितने ही शास्त्र पढ़ ले तो भी उसकी बुद्धि तुच्छ, सीमित ही रहती है। (११। ५ परि.)

६५. लेनेका भाव बाँधनेवाला और देनेका भाव मुक्त करनेवाला होता है। (११। २९ परि.)

६६. वास्तवमें शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्री स्वत: प्राप्त होती है; क्योंकि जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्रीका प्रबन्ध भगवान्‌की ओरसे पहले ही हुआ रहता है। इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा ही आती है। अगर मनुष्य किसी वस्तुको अपने लिये अत्यन्त आवश्यक

समझकर 'वह वस्तु कैसे मिले? कहाँ मिले? कब मिले?'—ऐसी प्रबल इच्छाको अपने अन्त:करणमें पकड़े रहता है, तो उसकी उस इच्छाका विस्तार नहीं हो पाता अर्थात् उसकी वह इच्छा दूसरे लोगोंके अन्त:करणतक नहीं पहुँच पाती। इस कारण दूसरे लोगोंके अन्त:करणमें उस आवश्यक वस्तुको देनेकी इच्छा या प्रेरणा नहीं होती। (१२। १६)

६७. इच्छा न करनेसे जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे स्वत: मिलती हैं। (१२। १६)

६८. इच्छा मूल विकार है; क्योंकि ऐसा कोई पाप और दु:ख नहीं है, जो सांसारिक इच्छाओंसे पैदा न होता हो अर्थात् सम्पूर्ण पाप और दु:ख सांसारिक इच्छाओंसे ही पैदा होते हैं। (१३।६)

६९. ये तीन इच्छाएँ (बाँधनेवाली न होनेके कारण) 'कामना' नहीं कहलातीं—(१) भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेमकी कामना, (२) स्वरूप-बोधकी कामना और (३) सेवा करनेकी कामना। (१५। २)

७०. शरीरमें ममता होनेसे कामना पैदा हो जाती है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे, बीमार न हो जाय; शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे, कमजोर न हो जाय। इसीसे सांसारिक धन, पदार्थ, मकान आदिकी अनेक कामनाएँ पैदा होती हैं। (१५। ५)

७१. सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका अंश होनेसे 'मैं सदा जीता रहूँ अर्थात् कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान लूँ अर्थात् कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सर्वदा सुखी रहूँ अर्थात् कभी दु:खी न होऊँ'—इस तरह सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा प्राणिमात्रमें रहती है। पर उससे गलती यह होती है कि 'मैं रहूँ तो शरीरसहित रहूँ; मैं जानकार बनूँ तो बुद्धिको लेकर जानकार बनूँ; मैं सुख लूँ तो इन्द्रियों और शरीरको लेकर सुख लूँ'—इस प्रकार इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है। (१६। ५ मा.)

७२. आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण 'काम' अर्थात् कामना ही है। (१६। २३)

७३. शुभ कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करनेवाले होते हैं। अगर निष्कामभाव न हो तो शुभ कर्म भी बन्धनकारक होते हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। (१८। ६ परि.)

७४. धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि कामना धर्म और अर्थ दोनोंको खा जाती है।........यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्त:करण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें, सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्त:करण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। (१८। १२ वि.)

७५. जब यह जीव प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब वह परमात्मासे विमुख हो जाता है और उसका संसारमें आकर्षण हो जाता है। यह आकर्षण ही वासना, स्पृहा, कामना, आशा, तृष्णा आदि नामोंसे कहा जाता है। (१८। ५५)

७६. कुछ भी चाहनेसे कुछ (अन्तवाला) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (अनन्त) मिलता है! (१८। ६६ परि.)

७७. अनुकूलताकी इच्छा जितनी ज्यादा होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी। (१८। ७०)

***

काल

(भूत-भविष्य-वर्तमान)

१. भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं! (२। १२ परि.)

२. स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्म-दृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है।......अतः साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। (५। ८-९ परि.)

३. जैसे भूतकाल और भविष्यकाल अभी नहीं हैं, ऐसे ही वर्तमानकाल भी नहीं है। भूतकाल और भविष्यकालकी सन्धिको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। पाणिनि-व्याकरणका एक सूत्र है—**'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'** (३। ३। १३१) अर्थात् वर्तमानसामीप्य भी वर्तमानकी तरह होता है।......अगर वर्तमानकाल वास्तवमें होता तो वह कभी भूतकालमें परिणत नहीं होता। वास्तवमें काल वर्तमान नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही वर्तमान हैं। तात्पर्य है कि जो प्रतिक्षण बदलता है, वह वर्तमान नहीं है, प्रत्युत जो कभी नहीं बदलता, वही वर्तमान है। (७। २६ परि.)

४. भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमान—सबमें सदा वर्तमान हैं, पर भगवान्‌में न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है। भगवान्‌का वर्तमानपना कालके अधीन नहीं है; क्योंकि भगवान् कालातीत हैं। काल न भगवान्‌की दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें। (७। २६ परि.)

***

कृपा

१. मानवशरीरका मिलना, साधनमें रुचि होना, साधनमें लगना, साधनका सिद्ध होना—ये सभी भगवान्‌की कृपापर ही निर्भर हैं। परन्तु अभिमानके कारण मनुष्यका इस तरफ ध्यान कम जाता है। (२। ६१)

२. साधुओंका परित्राण करनेमें भगवान्‌की जितनी कृपा है, उतनी ही कृपा दुष्टोंका विनाश करनेमें भी है! विनाश करके भगवान् उन्हें शुद्ध, पवित्र बनाते हैं। (४। ८)

३. भगवान्‌का आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिके प्रति जो स्नेह है, कृपा है, वैसा ही स्नेह, कृपा नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिके प्रति भी है। (४। ११ परि.)

४. भगवान्‌के स्वभावमें यथा-तथा होते हुए भी जीवपर उनकी बड़ी भारी कृपा है; क्योंकि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्!.... फिर भी वे जीवको अपना मित्र बनाते हैं, उसको अपने समान दर्जा देते हैं! भगवान् अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं रखते—यह उनकी महत्ता है। (४। ११ परि.)

५. भगवान्‌के समग्ररूपको भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं (गीता १०। ११)।......जैसे दूध पिलाते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है तो उससे बछड़ेकी जो पुष्टि होती है, वह केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही भगवान्‌की कृपासे जो ज्ञान होता है, वह अपने विचारसे नहीं होता; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है। (७। ३ परि.)

६. भगवान् प्राणिमात्रके लिये सम हैं। उनका किसी भी प्राणीमें राग-द्वेष नहीं होता (गीता ९। २९)। दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌के द्वेषका विषय नहीं है। सब प्राणियोंपर भगवान्‌का प्यार और कृपा समान ही है। (७। १५ वि.)

७. मनुष्यजन्ममें सत्संग मिल जाय, गीता-जैसे ग्रन्थसे परिचय हो जाय, भगवन्नामसे परिचय हो जाय तो साधकको यह समझना चाहिये कि भगवान्‌ने बहुत विशेषतासे कृपा कर दी है; अतः अब तो हमारा उद्धार होगा ही......परन्तु 'भगवान्‌की कृपासे उद्धार होगा ही' इसके भरोसे साधन नहीं छोड़ना चाहिये, प्रत्युत तत्परता और उत्साहपूर्वक साधनमें लगे रहना चाहिये। (७।१९)

८. सर्वथा भगवत्तत्त्वका बोध तो भगवान्‌की कृपासे ही हो सकता है।(७।२५)

९. भगवान्‌ने मनुष्यको (अपना उद्धार करनेकी) बहुत स्वतन्त्रता दी है, छूट दी है कि किसी तरहसे उसका कल्याण हो जाय। यह भगवान्‌की मनुष्यपर बहुत विशेष कृपा है! (८। ५ परि.)

१०. भगवान्‌के सभी न्याय, कानून दयासे परिपूर्ण होते हैं। (८। ६)

११. जब उसके (भक्तके) सामने अनुकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्‌की 'दया' को मानता है और जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्‌की 'कृपा' को मानता है। दया और कृपामें भेद यह है कि कभी भगवान् प्यार, स्नेह करके जीवकी कर्मबन्धनसे मुक्त करते हैं—यह 'दया' है और कभी शासन करके, ताड़ना करके उसके पापोंका नाश करते हैं—यह 'कृपा' है। (९। २८ वि.)

१२. भगवान् सब प्राणियोंमें समानरूपसे व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं। परन्तु जो प्राणी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं, भगवान्‌का और भगवान्‌की कृपाका प्राकट्य उनमें विशेषतासे हो जाता है। (९। २९)

१३. मेरा (भगवान्‌का) किया हुआ विधान चाहे शरीरके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, मेरे विधानसे कैसी ही घटना घटे, उसको मेरा दिया हुआ प्रसाद मानकर परम प्रसन्न रहना चाहिये। अगर मनके प्रतिकूल-से-प्रतिकूल घटना घटती है, तो उसमें मेरी विशेष कृपा माननी चाहिये; क्योंकि उस घटनामें उसकी सम्मति नहीं है। (९। ३४)

१४. भगवान् विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत जिज्ञासुके श्रद्धा-विश्वाससे एवं भगवत्कृपासे ही जाननेमें आते हैं। (१०। २ परि.)

१५. भगवान्‌को अपनी शक्तिसे कोई नहीं जान सकता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही जान सकता है। (१०। १४ परि.)

१६. वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाओंमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं। भगवान्‌की कृपाको पहचाननेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव बहुत सुगमतासे और शीघ्रतासे हो जाता है। (११। १ टि.)

१७. भगवान् अत्यधिक कृपालु हैं। उन कृपासागरकी कृपाका कभी अन्त नहीं आता। भक्तोंपर कृपा करनेके उनके विचित्र-विचित्र ढंग हैं। (११। ८ वि.)

१८. भगवान् और महापुरुषोंकी कृपा विशेषरूपसे अयोग्य मनुष्योंपर होती है, पर उस कृपाको विशेषरूपसे योग्य मनुष्य ही जानते हैं। (११। २४)

१९. भगवान्ने जो कुछ बल, विद्या, योग्यता आदि दी है, वह सब लगानेके लिये दी है; परन्तु अपना पूरा बल आदि लगाकर हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्ति तो उनकी कृपासे ही होगी। (११। ३३ परि.)

२०. भगवान्ने अपनी ओरसे हमारेपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक थनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्ने गायको चार थन दिये हैं! ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। (११। ३३ परि.)

२१. साधक अपनेपर भगवान्की जितनी कृपा मानता है, उससे कई गुना अधिक भगवान्की कृपा होती है। भगवान्की जितनी कृपा होती है, उसको माननेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है। कारण कि भगवान्की कृपा अपार-असीम है; और उसको माननेको सामर्थ्य सीमित है। (११। ४७ वि.)

२२. केवल अनुकूलतामें ही कृपा मानना कृपाको सीमामें बाँधना है, जिससे असीम कृपाका अनुभव नहीं होता। उस कृपामें ही राजी होना कृपाका भोग है। साधकको चाहिये कि वह न तो कृपाको सीमामें बाँधे और न कृपाका भोग ही करे। (११। ४७ वि.)

२३. भगवान् और उनके भक्तों, सन्तोंकी कृपासे जो काम होता है, वह काम साधनोंसे नहीं होता। इनकी कृपा भी अहैतुकी होती है। (११। ४८)

२४. भगवान्ने हमलोगोंपर भी कितनी अलौकिक विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस-किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पठन-पाठन, चिन्तन कर सकते हैं। इस भयंकर समयमें हमें भगवान्की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्की कृपा ही कारण है। (११। ५०)

२५. अनन्त सामर्थ्यशाली भगवान्की जब भक्तकी तरफ कृपा उमड़ती है, तब वह कृपा भक्तके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करके, भक्तकी योग्यता-अयोग्यताको किंचिन्मात्र भी न देखती हुई भगवान्को भी परवश कर देती है, जिससे भगवान् भक्तके सामने तत्काल प्रकट हो जाते हैं। (११। ५४)

२६. परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उनको किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। (१५। ४)

२७. असाधनको मिटानेकी सच्ची लगन हो, तो असाधनको मिटानेका बल भी परमात्माकी कृपासे मिलता है। (१५।४)

२८. जीव कहीं भी क्यों न हो, नरकमें हो अथवा स्वर्गमें, मनुष्ययोनिमें हो अथवा पशुयोनिमें, भगवान् उसको अपना ही अंश मानते हैं। यह उनकी कितनी अहैतुकी कृपा, उदारता और महत्ता है! (१५। ७)

२९. गुणातीत होनेमें तो (स्वयंका विवेक सहायक होनेके कारण) अपने साधनका सम्बन्ध रहता है, पर गुणातीत होनेके बाद प्रेमकी प्राप्ति होनेमें भगवान्की कृपाका ही सम्बन्ध रहता है। (१५। १० मा.)

३०. 'शास्त्रकी बातें सत्य हैं या असत्य? भगवान्को किसने देखा है? संसार ही सत्य है' इत्यादि संशय और भ्रम भगवान्की कृपासे ही मिटते हैं। 'सांसारिक पदार्थोंमें अपना हित दीखना, उनकी

प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले संसारकी सत्ता दीखना' आदि विपरीत भाव भी भगवान्‌की कृपासे ही दूर होते हैं। (१५। १५)

३१. भगवान्‌की दया सभीको शुद्ध करनेके लिये होती है। भक्तलोग इस दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। मात्र मनुष्योंको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है। (१६। २)

३२. यद्यपि प्राणिमात्रपर भगवान्‌का अपनापन और कृपा सदा-सर्वदा स्वत:सिद्ध है, तथापि यह मनुष्य जबतक असत् संसारका आश्रय लेकर भगवान्‌से विमुख रहता है, तबतक भगवत्कृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती अर्थात् उसके काम नहीं आती। परन्तु यह मनुष्य भगवान्‌का आश्रय लेकर ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता चला जाता है, और ज्यों-ज्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवत्कृपाका अनुभव होता जाता है। जब सर्वथा भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तब उसे भगवान्‌की कृपाका पूर्ण अनुभव हो जाता है। (१८। ५६)

३३. स्वत:सिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है। (१८। ५६)

३४. भक्त अपनी तरफसे, उसको जितना समझमें आ जाय, उतना पूरी सावधानीके साथ कर ले, उसके बाद जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी। (१८। ५८)

३५. भगवत्कृपा प्राप्त करनेमें संसारके साथ किंचित् भी सम्बन्ध मानना और भगवान्‌से विमुख हो जाना—यही बाधा थी। वह बाधा उसने मिटा दी तो अब पूर्णताकी प्राप्ति भगवत्कृपा अपने-आप करा देगी। (१८। ५८)

३६. भगवान्‌की कृपामें जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधनमें नहीं है। (१८। ५८ वि.)

३७. भक्तका काम केवल भगवान्‌का आश्रय लेना है, भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान् ही करते हैं। भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२)।......वास्तवमें मनुष्यपर भगवान्‌की कृपा तो है ही, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे भक्तको उसका विशेष अनुभव होता है। (१८। ५८ परि.)

३८. वह (भक्त) जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है। (१८। ६६ वि.)

३९. शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मरजी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है। (१८। ६६ वि.)

४०. वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं। अत: इन सब साधनोंमें

भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है। (१८।६६ वि.)

४१. स्मृति भगवान्‌की कृपासे जाग्रत् होती है। कृपा होती है भगवान्‌के सम्मुख होनेपर और भगवान्‌की सम्मुखता होती है संसारमात्रसे विमुख होनेपर। (१८। ७३)

४२. भगवान्‌की कृपा तो मात्र प्राणियोंपर अपार-अटूट-अखण्डरूपसे है। जब मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसको उस कृपाका अनुभव हो जाता है। (१८।७३)

४३. भगवत्कृपासे जो काम होता है, वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि साधनोंसे नहीं होता। कारण कि अपना पुरुषार्थ मानकर जो भी साधन किया जाता है, उस साधनमें अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व अर्थात् अहंभाव रहता है। वह व्यक्तित्व साधनमें अपना पुरुषार्थ न मानकर केवल भगवत्कृपा माननेसे ही मिटता है। (१८। ७३)

❋❋❋

गीता

१. गीताका तात्पर्य '**वासुदेवः सर्वम्**' में है। (न.नि.)

२. गीताने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ बताया है (६। ४७)। गीताकी भक्ति भेदवाली नहीं है, प्रत्युत अद्वैत भक्ति है। (न.नि.)

३. गीतामें 'योग' शब्द विशेषकर 'कर्मयोग' का ही वाचक आता है। (न.नि.)

४. गीता पहले ज्ञानयोग फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानती है। (न.नि.)

५. गीतोक्त कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधन करण-निरपेक्ष अर्थात् स्वयंसे होनेवाले हैं। (प्रा.)

६. गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वत:सिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। उस समतामें स्थिति (नित्ययोग) होनेपर फिर कभी उससे वियोग नहीं होता, कभी वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। (प्रा.)

७. सम्पूर्ण गीता धर्मके अन्तर्गत है अर्थात् धर्मका पालन करनेसे गीताके सिद्धान्तोंका पालन हो जाता है और गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे धर्मका अनुष्ठान हो जाता है। (१।१)

८. जब मनुष्य मस्तीमें, आनन्दमें होता है, तब उसके मुखसे स्वत: गीत निकलता है। भगवान्‌ने इसको मस्तीमें आकर गाया है, इसलिये इसका नाम '**गीता**' है। यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम '**गीतम्**' होना चाहिये था, तथापि उपनिषद्-स्वरूप होनेसे स्त्रीलिंग शब्द '**गीता**' का प्रयोग किया गया है। (१। पु.)

९. गीताका उपदेश शरीर और शरीरीके भेदसे आरम्भ होता है। दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ तो आत्मा और अनात्माका इदंतासे वर्णन करते हैं, पर गीता इदंतासे आत्मा-अनात्माका वर्णन न करके सबके अनुभवके अनुसार देह-देही, शरीर-शरीरीका वर्णन करती है। यह गीताकी विलक्षणता है! (२। ११ परि.)

१०. गीतापर विचार करनेसे सांख्ययोग एवं कर्मयोग—दोनों परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन सिद्ध हो जाते हैं। ये किसी वर्ण और आश्रम पर किंचिन्मात्र भी अवलम्बित नहीं हैं। (२। १८ वि.)

११. गीता व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बताती है, जिससे मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए तथा शास्त्रविहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके। (२।३८ परि.)

१२. एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी, सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना। (२। ३८ परि.)

१३. गीताकी दृष्टिमें मन लगना कोई ऊँची चीज नहीं है। गीताकी दृष्टिमें ऊँची चीज है—समता। दूसरे लक्षण आयें या न आयें, जिसमें समता आ गयी, उसको गीता सिद्ध कह देती है। जिसमें दूसरे सब लक्षण आ जायँ और समता न आये, उसको गीता सिद्ध नहीं कहती। (२। ४० वि.)

१४. गीताकी यह एक शैली है कि जो साधक जिस साधन (कर्मयोग, भक्तियोग आदि)-के द्वारा सिद्ध होता है, उसी साधनसे उसकी पूर्णताका वर्णन किया जाता है। (२।५५)

१५. गीतामें अर्जुनने जहाँ-कहीं भी क्रियाकी प्रधानताको लेकर प्रश्न किया है, उसका उत्तर भगवान्‌ने भाव और बोधकी प्रधानताको लेकर ही दिया है। कारण कि क्रियाओंमें भाव और बोध ही मुख्य है। (२।५६ टि.)

१६. गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा मालूम देता है कि साधनकी सफलतामें केवल भगवत्परायणता ही कारण है। अतः गीतामें भगवत्परायणताकी बहुत महिमा गायी गयी है। (२। ६१)

१७. श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश मनुष्यमात्रके अनुभवपर आधारित है। (३।अव.)

१८. श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यको व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धिकी कला सिखाती है। उसका आशय कर्तव्य-कर्म करानेमें है, छुड़ानेमें नहीं। इसलिये भगवान् कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही साधनोंमें कर्म करनेकी बात कहते हैं। (३। ४)

१९. बहुत-से मनुष्य केवल स्थूलशरीरकी क्रियाओंको कर्म मानते हैं, पर गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है। गीताने शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूपसे की गयी मात्र क्रियाओंको कर्म माना है **'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'** (गीता १८।१५)।(३।५)

२०. गीतामें कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। इसलिये गीतामें 'कर्मेन्द्रिय' शब्द तो आता है, पर 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द कहीं नहीं आता। पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंको भी कर्मेन्द्रयोंकी क्रियाओंके साथ सम्मिलित किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि गीता ज्ञानेन्द्रियोंको भी कर्मेन्द्रियाँ ही मानती है। गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है (गीता १८।१५)। (३। ६)

२१. कर्मोंका त्याग करना चाहिये या नहीं—यह देखना वस्तुतः गीताका सिद्धान्त ही नहीं है। गीताके अनुसार कर्मोंमें आसक्ति ही (दोष होनेके कारण) त्याज्य है। (३। ७)

२२. गीता अपनी शैलीके अनुसार पहले प्रस्तुत विषयका विवेचन करती है। फिर करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बताती है। इसके बाद उसका अनुष्ठान करनेकी आज्ञा देती है। (३। ८ सं.)

२३. गीताके अनुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। (३। ९)

२४. गीतामें भगवान्‌की ऐसी शैली रही है कि वे भिन्न-भिन्न साधनोंसे परमात्माकी ओर चलनेवाले साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षणोंके अनुसार ही परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

करते हैं। (३। १८)

२५. गीताकी यह शैली है कि भगवान् पीछेके श्लोकमें वर्णित विषयकी मुख्य बातको (जो साधकोंके लिये विशेष उपयोगी होती है) संक्षेपसे आगेके श्लोकमें पुनः कह देते हैं। (३। २०)

२६. स्वाभाविक कर्मोंके प्रवाहको मिटा तो नहीं सकते, पर उसको बदल सकते हैं अर्थात् उसको राग-द्वेषरहित बना सकते हैं—यह गीताका मार्मिक सिद्धान्त है। (३। ३४)

२७. स्वधर्मको ही गीतामें सहज कर्म, स्वकर्म और स्वभावज कर्म नामसे कहा गया है। (३। ३५ परि.)

२८. गीतामें भगवान्‌ने विविध युक्तियोंसे कर्मयोगका सरल और सांगोपांग विवेचन किया है। कर्मयोगका इतना विशद वर्णन पुराणों और उपनिषदोंमें देखनेमें नहीं आता। (४। १)

२९. कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए भी दूसरोंके हितके लिये कर्म करना—ये दोनों ही गीताके सिद्धान्त हैं। (४। १८)

३०. गीताका स्वाध्याय 'ज्ञानयज्ञ' है। गीताके भावोंमें गहरे उतरकर विचार करना, उसके भावोंको समझनेकी चेष्टा करना आदि सब स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ है। (४। २८)

३१. गीतामें पहले सांख्ययोग, फिर कर्मयोग और फिर भक्तियोग—इस क्रमसे विवेचन किया गया है। (५। २ परि.)

३२. असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए वह (मनुष्य) कितना ही अभ्यास कर ले, समाधि लगा ले, गिरि-कन्दराओंमें चला जाय, तो भी गीताके सिद्धान्तके अनुसार वह योगी नहीं कहा जा सकता। (६। २)

३३. गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये उपदेश अपनेको ही देना है। जब सब कुछ परमात्मा ही है **(वासुदेवः सर्वम्),** तो फिर दूसरा गुरु कैसे बने और कौन किसको उपदेश दे? (६। ५ परि.)

३४. गीताका योग 'समता' ही है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)। गीताकी दृष्टिसे अगर समता आ गयी तो दूसरे किसी लक्षणकी जरूरत नहीं है अर्थात् जिसको वास्तविक समताकी प्राप्ति हो गयी है, उसमें सभी सद्गुण-सदाचार स्वतः आ जायँगे और उसकी संसारपर विजय हो जायगी (गीता ५। १९)। (६। ९)

३५. दुःखरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। (६। २३ परि.)

३६. गीतामें भगवान्‌ने मुख्य रूपसे भक्तको ही ज्ञानी कहा है (७। १६—१८); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। (७। १७ परि.)

३७. गीता मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका अधिकारी मानती है और डंकेकी चोटके साथ, खुले शब्दोंमें कहती है कि वर्तमानका दुराचारी-से-दुराचारी, पूर्वजन्मके पापोंके कारण नीच योनिमें जन्मा हुआ पापयोनि और चारों वर्णवाले स्त्री-पुरुष—ये सभी भगवान्‌का आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो सकते हैं (९। ३०—३३)। (७। १९)

३८. गीतामें भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है।(७। १९ परि., टि.)

३९. निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरकी मुख्यता है। (७।३० परि.)

४०. भगवान्ने गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योगोंमें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। केवल भक्तियोगमें ही भगवान्ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि गीतामें भगवान् भक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं। (८। १५)

४१. गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान्ने गीतामें अपनी भक्तिकी बहुत विशेषतासे महिमा गायी है। (८। १५ वि.)

४२. मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाली होनेसे ही गीता विश्वमात्रको प्रिय, विश्ववन्द्य है।......अर्जुन जीवमात्रके प्रतिनिधि हैं और अपना हित ही चाहते हैं। अतः भगवान् उनके अर्थात् जीवमात्रके हितके उद्देश्यसे परम वचन कहते हैं। कल्याणके सिवाय जीवका अन्य कोई हित है ही नहीं। भगवान्के वचन भी कल्याण करनेवाले हैं और उनका उद्देश्य भी कल्याण करनेका है, इसलिये भगवान्की वाणीमें जीवका विशेष कल्याण (परमहित) भरा हुआ है। (१०। १ परि.)

४३. दूसरोंकी वाणीमें तो मतभेद रहता है, पर भगवान्की वाणी सर्वसम्मत है। भगवान् योगमें स्थित होकर गीता कह रहे हैं; अतः उनके वचन विशेष कल्याण करनेवाले हैं। (१०। १ परि.)

४४. गीतामें विभूति-वर्णन गौण नहीं है, प्रत्युत यह भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है, जिसकी सिद्धि '**वासुदेवः सर्वम्**' में होती है।.....विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता और प्रियताको हटाकर मनुष्यको '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव कराना है, जो कि गीताका खास ध्येय है। (१०। ४० परि.)

४५. भगवान्ने अपनी तरफसे कृपा करके ही गीताको प्रकट किया है। (११। ७)

४६. गीतामें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे जितनी निर्गुणोपासना तथा कर्मयोगमें आयी है, उतनी सगुणोपासनामें नहीं। (१२। ३-४)

४७. गीतामें समबुद्धिका तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन'। (१२। ३-४)

४८. गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्के ही अन्तर्गत माना है (गीता ७। २९-३०)। (१२। ५ परि.)

४९. गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्की उपासना है। (१२। ५ परि.)

५०. गीताकी यह शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन किया जाता है। (१२। १०)

५१. गीता फलासक्तिके त्यागपर जितना जोर देती है, उतना और किसी साधनपर नहीं। दूसरे साधनोंका वर्णन करते समय भी कर्मफलत्यागको उनके साथ रखा गया है। (१२। १२ वि.)

५२. गीतामें 'सुख-दुःख' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थिति (जो सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें हेतु है)-के लिये तथा अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये भी आया है। (१२। १३)

५३. गीतामें जहाँ 'सुख-दुःखमें सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम समझना चाहिये और जहाँ 'सुख-दुःखसे रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ (अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्तिसे होनेवाली) हर्ष-शोकसे रहित समझना चाहिये। (१२। १८-१९)

५४. गीतामें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बताया गया है। (१२। २०)

५५. श्रीमद्भगवद्गीताकी एक बहुत बड़ी विलक्षणता यह है कि वह किसी मतका खण्डन किये बिना ही उस विषयमें अपनी मान्यता प्रकट कर देती है। (१४। ७ टि.)

५६. गीता मुख्यत: रागको ही रजोगुण कहती है। (१४। ७ टि.)

५७. क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—ये तीनों ही शब्द गीतामें तीनों ही लिंगोंमें आये हैं। (१५। १६)

५८. गीतामें परमात्मा और जीवात्मा—दोनोंके स्वरूपका वर्णन प्राय: समान ही मिलता है। (१५। १६)

५९. गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। (१५।१९ परि.)

६०. श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये है। उन दोनोंके सामने कलियुगकी जनता थी; क्योंकि द्वापरयुग समाप्त हो रहा था। आगे आनेवाले कलियुगी जीवोंकी तरफ दृष्टि रहनेसे अर्जुन पूछते हैं....। (१७। १)

६१. गीतामें 'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म आ जाते हैं (गीता ४। २४-२५)। (१७। ४ परि.)

६२. एक विलक्षण बात है कि गीतामें जो सत्त्वगुण कहा है, वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माकी तरफ ले जानेवाला होनेसे 'सत्' अर्थात् निर्गुण हो जाता है। (१७। ११)

६३. भगवद्गीताका आदिसे अन्ततक अध्ययन करनेपर यह असर पड़ता है कि इसका उद्देश्य केवल जीवका कल्याण करनेका है। (१७।१७)

६४. गीतामें भगवान्ने मुख्य रूपसे भक्तको ही 'ज्ञानी' कहा है (७। १६—१८); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। (७।१७ परि.)

६५. गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, हरदम प्रसन्न रहना 'तप' है और उसकी चीज उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है। (१७। २० परि.)

६६. अगर मरणासन्न व्यक्तिकी गीतामें रुचि हो तो उसको गीताका आठवाँ अध्याय सुनाना चाहिये; क्योंकि इस अध्यायमें जीवकी सद्गतिका विशेषतासे वर्णन आया है। इसको सुननेसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो जाती है। (८। ५)

६७. गीतामें जहाँ संगके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये और जहाँ फलके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ संगके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये। (१८। ६)

६८. गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है। (१८। ११ परि.)

६९. गीता रजोगुणको क्रियात्मक मानते हुए भी मुख्यरूपसे रागात्मक ही मानती है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (१४।७)। वास्तवमें देखा जाय तो 'राग' ही बाँधनेवाला है, क्रिया नहीं। (१८। २८)

७०. गीताका 'सात्त्विक' गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—**'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति।'** (१८। ३० परि.)

७१. गीतामें मुख्यरूपसे तीन योग कहे हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। (१८। ५५ वि.)

७२. तीनों योगोंमें रति होनेपर भी गीतामें 'भगवद्रति' की विशेषरूपसे महिमा गायी गयी है। (१८।

५५ वि.)

७३. गीताभरमें देखा जाय तो समताकी बड़ी भारी महिमा है। मनुष्यमें एक समता आ गयी तो वह ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गया। परन्तु यदि उसमें समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आनेपर भी भगवान् उसको पूर्णता नहीं मानते। (१८। ५७)

७४. यह [**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**] गीताभरमें अत्यन्त रहस्यमय खास उपदेश है। (१८। ६४)

७५. जैसे **'सर्वगुह्यतमम्'** पद गीतामें एक ही बार आया है, ऐसे ही **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** ऐसा वाक्य भी एक ही बार आया है। (१८। ६४ टि.)

७६. भगवान् भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहते हैं। (१८। ६४ परि.)

७७. गीताके अनुसार सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। (१८। ६६)

७८. गीतामें अर्जुनने अपने कल्याणके साधनके विषयमें कई तरहके प्रश्न किये और भगवान्ने उनके उत्तर भी दिये। वे सब साधन होते हुए भी गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह बात स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्के अनन्यशरण होना ही है। (१८। ६६)

७९. यह शरणागति गीताका सार है, जिसको भगवान्ने विशेष कृपा करके कहा है। इस शरणागतिमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती। (१८। ६६ परि.)

८०. गीताकी यह एक विचित्र कला है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भी परमात्माका निष्कामभावपूर्वक पूजन करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १८। ४६), और जो खाना-पीना, शौच-स्नान आदि शारीरिक कार्योंको भी भगवान्के अर्पण कर देता है, वह भी शुभ-अशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त हो जाता है (गीता ९। २७-२८)। तो फिर जो केवल भगवान्की भक्तिका लक्ष्य करके गीताका प्रचार करता है, वह भगवान्को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है! (१८। ६८)

८१. भगवद्गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी हैं, जिनको मनुष्यमात्र अपने आचरणोंमें ला सकता है। (१८। ६९)

८२. अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदिका प्रचार करनेवाला व्यक्ति भगवान्का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतर नहीं होगा। प्रियतर तो किसी तरहसे गीताका प्रचार करनेवाला ही होगा। (१८।६९)

८३. गीता वेश, आश्रम, अवस्था, क्रिया आदिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत परिमार्जन करनेके लिये कहती है अर्थात् केवल अपने भाव और उद्देश्यको शुद्ध बनानेके लिये कहती है। (१८। ६९)

८४. गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे कल्याण हो सकता है। (१८। ६९ परि.)

८५. इसमें वेदों तथा उपनिषदोंका सार और भगवान्के हृदयका असली भाव है, जिसको धारण करनेसे मनुष्य भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी अपने मनुष्यजन्मके ध्येयको सुगमतापूर्वक सिद्ध कर सकता है। (१८। ७०)

८६. शास्त्रोंमें प्राय: ऐसी बात आती है कि संसारकी निवृत्ति करनेसे ही मनुष्य पारमार्थिक मार्गपर चल सकता है और उसका कल्याण हो सकता है। मनुष्योंमें भी प्राय: ऐसी ही धारणा बैठी हुई है कि घर, कुटुम्ब आदिको छोड़कर साधु-संन्यासी होनेसे ही कल्याण होता है। परन्तु गीता कहती है कि कोई भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, देश, काल आदि क्यों न हो, उसीके सदुपयोगसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। (१८। ७४)

८७. समस्त योगोंके महान् ईश्वरके द्वारा कहा जानेसे यह गीताशास्त्र 'योग' अर्थात् योगशास्त्र है। यह गीताशास्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय है। इसके समान श्रेष्ठ और गोपनीय दूसरा कोई संवाद देखने-सुननेमें नहीं आता। (१८। ७५)

***

गुण-दोष

१. यह नियम है कि मनुष्यकी दृष्टि जबतक दूसरोंके दोषकी तरफ रहती है, तबतक उसको अपना दोष नहीं दीखता, उलटे एक अभिमान होता है कि इनमें तो यह दोष है, पर हमारेमें यह दोष नहीं है। ऐसी अवस्थामें वह यह सोच ही नहीं सकता कि अगर इनमें कोई दोष है तो हमारेमें भी कोई दूसरा दोष हो सकता है। दूसरा दोष यदि न भी हो, तो भी 'दूसरोंका दोष देखना'—यह दोष तो है ही। (१। ३९)

२. अच्छाईके अभिमानकी छायामें मात्र दोष रहते हैं। (१। ३९)

३. जड़ताके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन होनेसे ही मात्र विकार पैदा होते हैं। (२। १८)

४. कहीं भी किसी भी बातको लेकर क्रोध आता है, तो उसके मूलमें कहीं-न-कहीं राग अवश्य होता है। जैसे, नीति-न्यायसे विरुद्ध काम करनेवालेको देखकर क्रोध आता है, तो नीति-न्यायमें राग है। अपमान-तिरस्कार करनेवालेपर क्रोध आता है, तो मान-सत्कारमें राग है। निन्दा करनेवालेपर क्रोध आता है, तो प्रशंसामें राग है। दोषारोपण करनेवालेपर क्रोध आता है, तो निर्दोषताके अभिमानमें राग है; आदि-आदि। (२। ६२)

५. 'मैं शरीर हूँ' और 'शरीर मेरा है'—ऐसा माननेसे शरीरादि नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व अन्त:करणमें अंकित हो जाता है। इसी कारण उन पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है। (३।१९)

६. नाशवान् पदार्थोंके रागसे ही भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषोंकी उत्पत्ति होती है। रागके मिटनेपर ये सभी दोष मिट जाते हैं। (४। १०)

७. संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको माननेसे तथा उससे सुख लेनेकी इच्छासे ही सम्पूर्ण दोष, पाप उत्पन्न होते हैं (गीता ३।३७)। (४। ३८)

८. शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपने और अपने लिये मानते रहनेसे ही ये अपने वशमें नहीं होते और इनमें राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि दोष विद्यमान रहते हैं। (५। २५)

९. साधन करनेसे काम-क्रोध कम होते हैं ऐसा साधकोंका अनुभव है। जो चीज कम होनेवाली होती है, वह मिटनेवाली होती है; अत: जिस साधनसे ये काम-क्रोध कम होते हैं, उसी साधनसे ये मिट भी जाते हैं। (५। २६)

१०. अपनी विशेषता माननेसे आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। इसलिये भगवान्‌ने '**मत्पर:**' पदसे ध्यानयोगीके

लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है। भगवत्परायणतामें भगवान्‌का बल रहनेसे विकार शीघ्र दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। (६। १४ परि.)

११. जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता)-का अनुभव हो जाता है। (६। २५ परि.)

१२. संसारके सब सुख दोषजनित हैं। दोषोंको स्वीकार करनेसे ही सुख दीखता है। कामके कारण ही मनुष्य स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। लोभके कारण ही मनुष्य धनके बिना नहीं रह सकता। मोहके कारण ही मनुष्य परिवारके बिना नहीं रह सकता। दोषके कारण ही उसको त्यागका महत्त्व नहीं दीखता। (७। ५ परि., टि.)

१३. मूल दोष एक ही है, जो स्थानभेदसे अनेक रूपसे दीखता है, वह है—अपराके साथ सम्बन्ध। इस एक दोषसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। यह एक दोष आ जाय तो सम्पूर्ण दोष आ जायँगे और यह एक दोष दूर हो जाय तो सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌के साथ सम्बन्ध। (७। ६ परि.)

१४. भक्तियोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण दुर्गुण-दुराचार भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं। जब प्राणी अनन्यभावसे भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब तभी दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं। (९। ३०)

१५. किसी व्यक्तिमें ये गुण दिखायी दें तो उस व्यक्तिकी विशेषता न मानकर भगवान्‌की ही विशेषता माननी चाहिये और भगवान्‌की ही याद आनी चाहिये। यदि ये गुण अपनेमें दिखायी दें तो इनको भगवान्‌के ही मानने चाहिये, अपने नहीं। कारण कि यह दैवी (भगवान्‌की) सम्पत्ति है, जो भगवान्‌से ही प्रकट हुई है। (१०। ३४)

१६. जितने सद्‌गुण, सदाचार, सद्‌भाव आदि हैं, वे सब-के-सब 'सत्' (परमात्मा)-के सम्बन्धसे ही होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब 'असत्' के सम्बन्धसे ही होते हैं। दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्‌गुण-सदाचारका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि 'सत्' (परमात्मा)-का अंश होनेके कारण जीवमात्रका 'सत्' से नित्यसिद्ध सम्बन्ध है। (१२। २०)

१७. क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३। २०)। इच्छा-द्वेषादि सभी विकार तादात्म्य (जड़-चेतनकी ग्रन्थि)-में हैं। तादात्म्यमें भी ये विकार जड़-अंशमें रहते हैं। (१३। ६ परि.)

१८. जब साधक खुद बड़ा बन जाता है, तब उसमें मानीपन आ जाता है। अतः साधकको चाहिये कि जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, साधनमें अपनेसे बड़े हैं, तत्त्वज्ञ (जीवन्मुक्त) हैं, उनका संग करे, उनके पासमें रहे, उनके अनुकूल बन जाय। इससे मानीपन दूर हो जाता है। इतना ही नहीं, उनके संगसे बहुत-से दोष सुगमतापूर्वक दूर हो जाते हैं। (१३। ७)

१९. शरीर आदि जड़ पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे, उनको महत्त्व देनेसे, उनका आश्रय लेनेसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं—'**देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति।**' (१३। ८)

२०. जब मनुष्यका उद्देश्य परमात्मप्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों एवं दुराचारोंकी जड़ कट जाती है, चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो! .... यद्यपि साधकको आरम्भमें ऐसा अनुभव नहीं होता और उसको अपनेमें अवगुण दीखते हैं, तथापि कुछ समयके बाद उनका

सर्वथा अभाव दीखने लग जाता है। (१३। ११ वि.)

२१. यह नियम है कि दरवाजेसे आनेवाले और जानेवाले—दोनों ही दिखायी देते हैं। यदि साधन करते समय अपनेमें दुर्गुण बढ़ते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण आ रहे हैं। परन्तु यदि अपनेमें दुर्गुण कम होते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण जा रहे हैं। (१३। ११ वि.)

२२. काम-क्रोधादि विकारोंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपनेमें मान लेना उन विकारोंको निमन्त्रण देना है और उन्हें स्थायी बनाना है।......'मैं क्रोधी हूँ'—ऐसा मान लेनेसे वह क्रोध अहंतामें बैठ जाता है। फिर क्रोधरूप विकारसे छूटना कठिन हो जाता है। (१४। १३ मा.)

२३. राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्त:करणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। देहाभिमान भी वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत अविवेक-अविचारपूर्वक माना हुआ है। तात्पर्य है कि वास्तवमें विकार अपनेमें नहीं हैं, पर मनुष्य अविवेकके कारण अपनेमें मान लेता है। (१४। २५ परि.)

२४. साधक प्राय: कहा करते हैं कि सत्संग-चर्चा सुनते समय तो इन दोषोंके त्यागकी बात अच्छी और सुगम लगती है; परन्तु व्यवहारमें आनेपर ऐसा होता नहीं। इनको छोड़ना तो चाहते हैं, पर ये छूटते नहीं। इन दोषोंके न छूटनेमें खास कारण है—सांसारिक सुख लेनेकी इच्छा। साधकसे भूल यह होती है कि वह सांसारिक सुख भी लेना चाहता है और साथमें दोषोंसे भी बचना चाहता है। जैसे लोभी व्यक्ति विषयुक्त लड्डुओंकी मिठासको भी लेना चाहे और साथ ही विषसे भी बचना चाहे! (१५। ३)

२५. जब साधक अपना पूरा बल लगानेपर भी दोषोंको दूर करनेमें सफल नहीं होता, तब वह अपने बलसे स्वत: निराश हो जाता है। ठीक ऐसे समयपर यदि वह (अपने बलसे सर्वथा निराश होनेपर) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तो भगवान्‌की कृपाशक्तिसे उसके दोष निश्चितरूपसे नष्ट हो जाते हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है। (१५। ४)

२६. जब केवल भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, तो फिर प्राणोंका मोह नहीं रहता। प्राणोंका मोह न रहनेसे आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है और दैवी-सम्पत्ति स्वत: प्रकट हो जाती है। (१६। ३)

२७. संसारसे विमुखता आ जानेसे आसुरी-सम्पत्तिके जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, वे कम होने लगते हैं और दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे प्रकट होने लगते हैं। (१६। ५)

२८. जबतक 'मेरा शरीर बना रहे, मेरेको सुख-आराम मिलता रहे' इस प्रकारके विचार अहंतामें बैठे रहेंगे, तबतक ऊपरसे भरे हुए दैवी-सम्पत्तिके गुण मुक्तिदायक नहीं होंगे। (१६। ५)

२९. जबतक अपनेमें गुण दीखते हैं, तबतक गुणोंके साथ एकता नहीं हुई है। गुण तभी दीखते हैं, जब वे अपनेसे कुछ दूर होते हैं। (१६। ५)

३०. 'शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है'—इस सद्‌भावनापर ही संसार टिका हुआ है। इस सद्‌भावनाके मिटते ही संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जायगा और दैवी-सम्पत्तिके सम्पूर्ण गुण प्रकट हो जायँगे, जो कि मुक्तिके हेतु हैं। (१६। ५)

३१. दैवी-सम्पत्ति केवल अपने लिये ही नहीं है, प्रत्युत मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये है। (१६। ५)

३२. नाशवान्‌के संगका त्याग करनेपर दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होगी; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी सम्पत्ति उसमें स्वत:सिद्ध है, कर्तव्यरूपसे उपार्जित नहीं करनी है। (१६। ५ मा.)

३३. काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, द्वेष आदि जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब नाशवान्‌के संगसे ही पैदा होते हैं। (१६। ५ मा.)

३४. जीव 'देव' अर्थात् परमात्माका सनातन अंश है। परमात्माका अंश होनेसे इसमें दैवी-सम्पत्ति रहती ही है। आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता होनेसे दैवी-सम्पत्ति दब-सी जाती है, मिटती नहीं; क्योंकि सत्-वस्तु कभी मिट नहीं सकती। (१६। ५ मा.)

३५. कोई भी मनुष्य अपनेको दोषी बनाना पसन्द नहीं करता; क्योंकि इस लोकमें दोषीका अपमान, तिरस्कार और निन्दा होती है तथा परलोकमें चौरासी लाख योनियाँ तथा नरक भोगने पड़ते हैं। परन्तु मनुष्य नाशवान् जड़के संगसे पैदा हुई कामनाके वशीभूत होकर न करनेलायक शास्त्रनिषिद्ध क्रिया कर बैठता है। अत: उस क्रियाका परिणाम कर्ता (मनुष्य)-की रुचिके (मैं निर्दोष रहूँ—इसके) अनुसार नहीं होता और कर्ता (अपनी रुचिके विरुद्ध) दोषी तथा पापी बन जाता है। (१६। ५ टि.)

३६. मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है। (१६। ५ परि.)

३७. क्रूर-से-क्रूर कसाईमें भी दया रहती है, चोर-से-चोरमें भी साहूकारी रहती है। इसी तरह दैवी-सम्पत्तिसे रहित कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि जीवमात्र परमात्माका अंश है। उसमें दैवी-सम्पत्ति स्वत:-स्वाभाविक है और आसुरी-सम्पत्ति अपनी बनायी हुई है। (१६। ६)

३८. अपनी तरफसे तो (काम-क्रोधादिकी) वृत्तियोंको दूर करनेका ही उद्योग करे। अगर अपने उद्योगसे न दूर हों तो 'हे नाथ! हे नाथ!! हे नाथ!!!' ऐसे भगवान्‌को पुकारे। (१६। २२)

३९. कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभकर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। (१६। २२ परि.)

४०. काम-क्रोध-लोभके कारण धर्म और समाजकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, जिससे दुनियाका बड़ा अहित होता है। (१६। २२ परि.)

४१. दूसरोंकी उन्नति सही न जाय, ईर्ष्या हो जाय आदि जितने भी दोष हैं, वे पूर्वकृत कर्मोंके फल नहीं हैं। वे सब दोष अन्त:करणकी अशुद्धिके कारण ही होते हैं। शास्त्रविहित सकाम कर्मोंको करनेसे अन्त:करणकी सर्वथा शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत आंशिक शुद्धि होती है, जिससे स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको भोगते हैं। अन्त:करणकी अशुद्धि सर्वथा तभी मिटती है, जब उद्देश्य केवल भगवान्‌का ही हो। (१७। २२ टि.)

४२. पहले जन्मके संस्कारोंसे भी दुर्गुण-दुराचारोंमें रुचि हो सकती है, पर वह रुचि दुर्गुण-दुराचार करनेमें बाध्य नहीं करती। विवेक, सद्विचार, सत्संग, शास्त्र आदिके द्वारा उस रुचिको मिटाया जा सकता है। (१८। ४७)

४३. पारमार्थिक आनन्द न मिलनेसे ही कामादि विकार पैदा होते हैं अर्थात् आनन्द न मिलनेसे नाशवान् वस्तुओंसे सुख लेनेकी इच्छा होती है, जिससे सब विकार पैदा होते हैं। (१८। ५५)

४४. स्वयं (चेतन स्वरूप)-में दोष नहीं हैं। दोष तो अहंता (मैं-पन)-को स्वीकार करनेसे ही आते हैं। (१८। ६१ वि.)

४५. भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं। (१८। ६६ वि.)

४६. दोषदृष्टि रहनेसे मनुष्य महान् लाभसे वंचित हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। अतः दोषदृष्टि करना बड़ा भारी दोष है। (१८। ६७)

***

जीवन्मुक्त (सिद्ध) महापुरुष

१. जीवन्मुक्त अवस्थामें उसको शरीरान्तरोंका ज्ञान भले ही न हो, पर मैं तीनों शरीरोंसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव तो होता ही है। (२। १३)

२. जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। असत्‌का तत्त्व भी सत् है और सत्‌का तत्त्व भी सत् है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व 'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं। (२। १६ परि.)

३. स्वयं देहगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है—ऐसा अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। (२। २४ परि.)

४. जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। (२। ५९ परि.)

५. स्थितप्रज्ञ महापुरुषमें शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकताका तो कहना ही क्या, शरीरकी भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण कि आवश्यकता ही मनुष्यको पराधीन बनाती है। (२। ७१ परि.)

६. इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता, व्यक्तित्व मिट जाता है। (२। ७२ परि.)

७. जिसके मनमें किसी प्रकारके अभावकी मान्यता (कामना) नहीं रहती, वह मनुष्य जीते-जी ही संसारसे मुक्त है। (३। १३)

८. कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जानेसे वह विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है। यद्यपि उसपर शास्त्रका शासन नहीं रहता, तथापि उसकी समस्त क्रियाएँ स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल तथा दूसरोंके लिये आदर्श होती हैं।.....जैसे पलकोंका गिरना-उठना, श्वासोंका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ स्वतः (प्रकृतिमें) होती हैं, ऐसे ही उस महापुरुषके द्वारा सभी शास्त्रानुकूल आदर्शरूप क्रियाएँ भी (कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण) स्वतः होती हैं। (३। १७)

९. जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर अपनेमें स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता, ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीरके द्वारा संसारका हित होनेपर उस महापुरुषमें किंचित् भी स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता। (३। १८)

१०. तत्त्वज्ञ महापुरुषकी भगवान्‌के साथ एकता होती है—**‘मम साधर्म्यमागताः’** (गीता १४। २)। (३। २२)

११. यद्यपि परमात्मतत्त्वको प्राप्त होनेपर सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनों एक हो जाते हैं (गीता ५। ४-५), तथापि साधनावस्थामें दोनोंकी साधनप्रणालीमें अन्तर रहनेसे सिद्धावस्थामें भी उनके लक्षणोंमें, स्वभावमें थोड़ा अन्तर रहता है। सांख्ययोगीकी तो कर्मोंसे विशेष उपरति रहती है, पर कर्मयोगीकी कर्मोंमें विशेष तत्परता रहती है; क्योंकि पहले कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ रहता है। यह अन्तर भी कहीं-कहीं होता है। (३। २५-२६ टि.)

१२. दूसरे लोगोंको ऐसे ज्ञानी महापुरुष लोकसंग्रहकी इच्छावाले दीखते हैं, पर वास्तवमें उनमें लोकसंग्रहकी भी इच्छा नहीं होती।...उनके कहलानेवाले शरीरादि पदार्थ स्वतः-स्वाभाविक, किसी प्रकारकी इच्छाके बिना संसारकी सेवामें लगे रहते हैं। (३। २५-२६)

१३. तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान् दोनोंमें ही कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः वे केवल लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म किया करते हैं, अपने लिये नहीं। (३। २५-२६ परि.)

१४. जीवन्मुक्त महापुरुषपर भगवान् और शास्त्र अपना शासन नहीं रखते। उनके कहलानेवाले शरीरसे स्वतः-स्वाभाविक लोक-संग्रहार्थ क्रियाएँ हुआ करती हैं। (३। २९)

१५. तत्त्वज्ञ महापुरुषके द्वारा फलदायक कर्म नहीं होते, प्रत्युत केवल क्रियाएँ (चेष्टामात्र) होती हैं। (३। २९ टि.)

१६. ज्ञानी महापुरुषमें ‘तादात्म्यरूप अहम्’ का सर्वथा अभाव होता है; अतः उसके कहलानेवाले शरीरके द्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ प्रकृतिके ‘धातुरूप अहम्’ से ही होती हैं। (३। ३३)

१७. यद्यपि अन्तःकरणमें राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति निर्दोष होती है और वह प्रकृतिके वशीभूत नहीं होता, तथापि वह चेष्टा तो अपनी प्रकृति (स्वभाव)-के अनुसार ही करता है। (३। ३३)

१८. जैसे वृक्षके पत्ते हिलते हैं तो उनसे कोई फलजनक कर्म (पाप या पुण्य) नहीं होता, ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण उसके द्वारा कोई शुभ-अशुभ कर्म नहीं बनता। (३। ३३ परि.)

१९. ज्ञानी महापुरुष भी दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं; क्योंकि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—**‘सर्वभूतहिते रताः’** (गीता ५। २५; १२।४)। इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके प्रवाहके कारण उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है। (३। ३३ परि.)

२०. जीवन्मुक्त महापुरुष भी शास्त्र-मर्यादाको ही आदर देते हैं। (३। ३४)

२१. राग-द्वेषसे सर्वथा रहित महापुरुषका अन्तःकरण इतना शुद्ध, निर्मल होता है कि उसमें स्वतः वेदोंका तात्पर्य प्रकट हो जाता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या न हो। उसके अन्तःकरणमें जो बात आती है, वह शास्त्रानुकूल ही होती है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उस महापुरुषके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध क्रियाएँ कभी होती ही नहीं। उसका स्वभाव स्वतः शास्त्रके अनुसार बन जाता है। (३। ३४)

२२. उस महापुरुषके उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंका विकास होता है, नाश नहीं अर्थात् उसके पास आनेपर वस्तुओंका सदुपयोग होता है, जिससे वे सार्थक हो जाती हैं। जबतक संसारमें उस महापुरुषका कहलानेवाला शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा स्वत:-स्वाभाविक प्राणियोंका उपकार होता रहता है। (३। ३७)

२३. यद्यपि सिद्ध महापुरुषमें और भगवान्‌में कामना, ममता आदिका सर्वथा अभाव होता है, तथापि वे जो लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं, यह उनकी दया, कृपा ही है। वास्तवमें वे लोकसंग्रह करें अथवा न करें, इसमें वे स्वतन्त्र हैं, इसकी उनपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। (४। २१)

२४. प्रारब्ध कर्मका घटना-अंश (अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति) तो जबतक शरीर रहता है, तबतक रहता है; परन्तु ज्ञानीपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। कारण कि तत्त्वज्ञान होनेपर भोक्तृत्व नहीं रहता; अत: अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सामने आनेपर वह सुखी-दु:खी नहीं होता। (४। ३७)

२५. जबतक किसी भी अंशमें कर्तापनकी मान्यता है, तबतक वह साधक कहा जाता है। जब अपनेमें कर्तापनकी मान्यताका सर्वथा अभाव होकर अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, तब वह तत्त्ववित् महापुरुष कहा जाता है। (५। ८)

२६. प्राणियोंके खान-पान, गुण, आचरण, जाति आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परन्तु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदिके भावमें कभी फरक नहीं पड़ता। (५। १८)

२७. बाहरसे देखनेपर महापुरुष और साधारण पुरुषमें खाना-पीना, चलना-फिरना आदि व्यवहार एक-सा ही दीखता है, पर महापुरुषोंके अन्त:करणमें निरन्तर समता, निर्दोषता, शान्ति आदि रहती है और साधारण पुरुषोंके अन्त:करणमें विषमता, दोष, अशान्ति आदि रहती है। (५। १९)

२८. ज्ञानी महापुरुषमें कामनाका सर्वथा अभाव होनेसे वह पूर्णत: स्वाधीन हो जाता है।.......वह संसारकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकताका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत संसार ही उसकी आवश्यकताका अनुभव करता है। (५। १९)

२९. सुषुप्ति और मूर्च्छामें मनुष्यका शरीरसे अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है अर्थात् मन अविद्यामें लीन होता है; अत: इन अवस्थाओंमें मनुष्यको प्रिय और अप्रियका, शारीरिक पीड़ा आदिका ज्ञान ही नहीं होता। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये उसको प्रिय और अप्रियका, शरीरकी पीड़ा आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनसे वह हर्षित-उद्विग्न, सुखी-दु:खी नहीं होता। (५। २० परि.)

३०. जबतक पूर्णावस्थाका अनुभव करनेवाला है, तबतक (व्यक्तित्व बना रहनेसे) पूर्णावस्था हुई नहीं। (५। २६)

३१. सिद्ध महापुरुषमें काम-क्रोधादि दोषोंकी गन्ध भी नहीं रहती।...... उसके अनुभवमें अपने कहलानेवाले शरीर-अन्त:करणसहित सम्पूर्ण संसारके साथ अपने सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है; अत: उसमें काम-क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? यदि काम-क्रोध सूक्ष्मरूपसे भी हों तो अपनेको जीवन्मुक्त मान लेना भ्रम ही है। (५। २६)

३२. जो मुक्त हो गया है, उसपर किसी भी घटना, परिस्थिति, निन्दा-स्तुति, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण आदिका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता। (५। २८)

३३. वास्तविक बोध हो जानेपर जब प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उसके अन्त:करणमें इन प्राकृत (भौतिक) पदार्थोंका कुछ भी मूल्य नहीं रहता अर्थात् बढ़िया-घटिया सब पदार्थोंमें उसका समभाव हो जाता है। (६। ८)

३४. जिस किसी मार्गसे जिसको तत्त्वबोध हो जाता है, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है अर्थात् किसी भी जगह पक्षपात न होकर समान रीतिसे सेवा और हितका भाव हो जाता है। (६।९)

३५. भगवान्‌का सिद्ध भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवत्सत्ताके सिवाय दूसरी किंचिन्मात्र भी सत्ता नहीं रहती। (६। ३०)

३६. बोध होनेके बाद शरीरमें आनेवाली वृद्धावस्था और मृत्यु तो आयेगी ही, पर ये दोनों अवस्थाएँ उसको दु:खी नहीं कर सकेंगी। (७। २९)

३७. ब्रह्मलोकके सुखसे भी अनन्त गुणा अधिक सुख भगवत्प्राप्त, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषका माना गया है। (८। १६)

३८. साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जबकि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा स्वाभाविकरूपसे इतनी धनतासे परिपूर्ण है कि उनके लिये परमात्माके सिवाय कुछ है ही नहीं। इसलिये उनकी बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं हैं, प्रत्युत उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। (१२। ३-४)

३९. सिद्ध महापुरुषकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव रहता है। उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अत: उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष (प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारका स्थायी दीखना) नहीं रहता। उसको एक भगवान्‌के साथ ही अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता रहता है। (१२। १४)

४०. गुणातीत महापुरुषमें कर्तृत्व न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है और भक्तमें स्वार्थ तथा अभिमान न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है। (१२। १६ परि.)

४१. भगवत्प्राप्तिसे पहले भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती है, पर भगवत्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है। (१२। १८-१९)

४२. काम-क्रोधादि विकार साधारण मनुष्यमें भी हर समय नहीं रहते, साधन करनेवालेमें कम होते रहते हैं और सिद्ध पुरुषमें तो सर्वथा ही नहीं रहते। (१२। २०)

४३. श्रद्धा साधकमें होती है। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे? (१२। २० परि.)

४४. बोध होनेपर अर्थात् क्षेत्र (शरीर)-से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'इच्छा' और 'द्वेष' सदाके लिये सर्वथा मिट जाते हैं। 'सुख' और 'दु:ख' अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान तो होता है, पर उससे अन्त:करणमें कोई विकार पैदा नहीं होता अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्त महापुरुष सुखी-दु:खी नहीं होता। (१३। ६)

४५. जीवन्मुक्त महापुरुषका 'संघात' अर्थात् शरीरसे किंचिन्मात्र भी मैं-मेरेपनका सम्बन्ध न रहनेके कारण उसका कहा जानेवाला शरीर यद्यपि महान् पवित्र हो जाता है, तथापि प्रारब्धके अनुसार उसका यह शरीर रहता ही है। (१३। ६)

४६. आचार्य (जीवन्मुक्त महापुरुष)-को दण्डवत्-प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना और उनके शरीरको सुख पहुँचानेकी शास्त्रविहित चेष्टा करना भी उनकी उपासना है, पर वास्तवमें उनके सिद्धान्तों और भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची उपासना है। कारण कि देहाभिमानीकी सेवा तो उसके देहकी सेवा करनेसे ही हो जाती है, पर गुणातीत महापुरुषके केवल देहकी सेवा करना उनकी पूर्ण सेवा नहीं है। (१३। ७)

४७. जो अपनेको देहके सम्बन्धसे रहित अनुभव करता है और गुणोंके सहित प्रकृतिको अपनेसे अलग अनुभव करता है, उसमें असत् वस्तुओंकी कामना पैदा हो ही नहीं सकती। कामना न होनेके कारण उसके द्वारा निषिद्ध आचरण होना असम्भव है; क्योंकि निषिद्ध आचरण होनेमें कामना ही हेतु है (गीता ३। ३७)। (१३। २३)

४८. ज्ञानी महापुरुष भगवान्के समान निर्लिप्त-निर्विकार तो हो जाते हैं, पर वे भगवान्के समान संसारकी उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य नहीं कर सकते। (१४।२)

४९. वे ज्ञानी महापुरुष महासर्गके आरम्भमें भी उत्पन्न नहीं होते। (१४। २)

५०. महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। (१४। २)

५१. जैसे भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस और तामस कार्य होते हुए भी वे गुणातीत ही रहते हैं (गीता ७। १३), ऐसे ही गुणातीत महापुरुषके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियोंके आनेपर भी वह गुणातीत ही रहता है (गीता १४। २२)। (१४। १८)

५२. इस मनुष्यशरीरमें रहते हुए जिसको बोध हो जाता है, उसका फिर जन्म होनेका तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हाँ, उसके अपने कहलानेवाले शरीरके रहते हुए वृद्धावस्था और मृत्यु तो आयेगी ही, पर उसको वृद्धावस्था और मृत्युका दुःख नहीं होता। (१४।२०)

५३. जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब रजोगुणके साथ तादात्म्य रखनेवाली वृत्तियाँ तो पैदा हो ही नहीं सकतीं, पर आसक्ति, कामनासे रहित प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) रहती है। यह प्रवृत्ति दोषी नहीं है। गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी क्रियाएँ होती हैं। (१४। २२)

५४. गुणातीत महापुरुषमें पहले प्रकारका मोह (सत्-असत् आदिका विवेक न होना) तो होता ही नहीं (गीता ४।३५)। परन्तु व्यवहारमें भूल होना अर्थात् किसीके कहनेसे किसी निर्दोष व्यक्तिको दोषी मान लेना और दोषी व्यक्तिको निर्दोष मान लेना आदि तथा रस्सीमें साँप दीख जाना, मृगतृष्णामें जल दीख जाना, सीपी और अभ्रकमें चाँदीका भ्रम हो जाना आदि मोह तो गुणातीत मनुष्यमें भी होता है। (१४। २२)

५५. तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्तःकरणमें भी होती हैं, पर उसका उन वृत्तियोंसे राग-द्वेष नहीं होता। (१४।२२)

५६. गुणातीत मनुष्यमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता चली जाय' ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका

अनुभव होनेपर उसको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्त:करणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। (१४। २२ परि.)

५७. उसके कहे जानेवाले अन्त:करणमें अन्त:करणसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव एवं परमात्मतत्त्वका भाव निरन्तर स्वत:-स्वाभाविक जाग्रत् रहता है। (१४। २३)

५८. जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है')-का ही अनुभव करता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते।'** वह चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वत: एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है। (१४। २३ परि.)

५९. गुणातीत पुरुषको निन्दा-स्तुति और मान-अपमानका ज्ञान तो होता है, पर गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे, नाम और शरीरके साथ तादात्म्य न रहनेसे वह सुखी-दु:खी नहीं होता। कारण कि वह जिस तत्त्वमें स्थित है, वहाँ ये विकार नहीं हैं। (१४। २५)

६०. वस्तुत: मित्र और शत्रुकी भावनाके कारण ही व्यवहारमें पक्षपात होता है। गुणातीत मनुष्यके कहलानेवाले अन्त:करणमें मित्र-शत्रुकी भावना ही नहीं होती; अत: उसके व्यवहारमें पक्षपात नहीं होता। (१४। २५)

६१. जीवन्मुक्त महापुरुष नाशवान्‌से असंग होकर अविनाशी परमात्मामें स्थित हो जाते हैं। इसलिये उनमें जीनेकी आशा और मरनेका भय नहीं रहता। सत्स्वरूप परमात्मामें स्थित होनेसे उनमें सद्‌गुण-सदाचार स्वत:-स्वाभाविक रहते हैं। (१६। ५ टि.)

६२. जीवन्मुक्त महापुरुषके वचनोंका, सिद्धान्तोंका आदर करते हुए उनके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तवमें उनका पूजन है।.... जीवन्मुक्तका हृदयसे आदर करना चाहिये; क्योंकि केवल बाहरी (बाह्य दृष्टिसे) आदर ही आदर नहीं है, प्रत्युत हृदयसे आदर ही वास्तविक आदर है, पूजन है। (१७। १४)

६३. गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उनका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता। (१८। ११)

६४. जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं, पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है। (१८। १२ वि.)

६५. जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परन्तु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। (१८। १२ वि.)

६६. जीवन्मुक्त महापुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश (व्याधि आदि किसी कारणवश) कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और न शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्त:करण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता। (१८। १२ वि.)

६७. अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दु:खी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुख-दु:खरूप विकार होना दोषी है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता। (१८। १२ वि.)

६८. ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती। (१८। १२ वि.)

६९. किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके लिये स्वत: युद्धकी परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो वह उसके अनुसार सबको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है। कारण कि उसमें अभिमान और स्वार्थभाव नहीं है। (१८। १७)

७०. 'संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है'—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिमें है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वत:-स्वाभाविक निर्गुण है (गीता १३। ३१)। (१८। ४० परि.)

७१. उसके शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अपने-अपने वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार निर्लिप्ततापूर्वक शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते हैं, जो कि संसारमात्रके लिये आदर्श होते हैं। (१८। ४४)

७२. सिद्ध महापुरुषोंमें एक-एकसे विचित्र कर्म होते हैं, पर वे दोषी नहीं होते। उनका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण शुद्ध होता है। (१८। ४७)

७३. गुणातीत हो जानेपर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर विस्मृति और स्मृति—ऐसी दो अवस्थाएँ नहीं होतीं अर्थात् नींदमें भूल हो गयी और अब स्मृति आ गयी—ऐसा अनुभव नहीं होता, प्रत्युत नींद तो केवल अन्त:करणमें आयी थी, अपनेमें नहीं, अपना स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों रहा—ऐसा अनुभव रहता है। (१८। ५५)

७४. जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है। अत: उनपर स्वभावका आधिपत्य नहीं रहता अर्थात् वे स्वभावके परवश नहीं होते; फिर भी वे किसी काममें प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति (स्वभाव)-के अनुसार ही काम करते हैं। (१८। ६०)

***

ज्ञान

१. जहाँ नेत्र आदि करणोंसे देखना (जानना) होता है, वहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (देखनेवाली वस्तु) और दर्शन (देखनेकी शक्ति)—यह त्रिपुटी होती है। इस त्रिपुटीसे ही सांसारिक देखना—जानना होता है। परन्तु स्वयंके ज्ञानमें यह त्रिपुटी नहीं होती अर्थात् स्वयंका ज्ञान करणसापेक्ष नहीं है। स्वयंका ज्ञान तो स्वयंके द्वारा ही होता है अर्थात् वह ज्ञान करणनिरपेक्ष है। (२। २९)

२. केवल सुन करके (सुननेमात्रसे) इसको कोई भी नहीं जान सकता। सुननेके बाद जब वह स्वयं उसमें स्थित होगा, तब वह अपने-आपसे ही अपने-आपको जानेगा। (२। २९)

३. अगर स्वयंके सम्मुख हुए बिना ही ज्ञान हो जाता, तो आजतक भगवान्‌के बहुत अवतार हुए हैं, बड़े-बड़े जीवन्मुक्त महापुरुष हुए हैं, उनके सामने कोई अज्ञानी रहना ही नहीं चाहिये अर्थात्

सबको तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिये था। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। (२। २९)

४. श्रवण, मनन आदि साधन तत्त्वके ज्ञानमें परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध करणनिरपेक्ष (अपने-आपसे) ही होता है। (२। २९)

५. जैसे संसारमें सुननेमात्रसे विवाह नहीं होता, प्रत्युत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको पति-पत्नीरूपसे स्वीकार करते हैं, तब विवाह होता है, ऐसे ही सुननेमात्रसे परमात्मतत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता, प्रत्युत सुननेके बाद जब स्वयं उसको स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयंसे उसको जानेगा। (२। २९ परि.)

६. अगर परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेवाला अनुभवी हो और सुननेवाला श्रद्धालु तथा जिज्ञासु हो तो तत्काल भी ज्ञान हो सकता है। (२। २९ परि.)

७. यह सिद्धान्त है कि संसारमें लगा हुआ मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही वह संसारको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह संसारसे अलग है। इसी तरह परमात्माके साथ एक होकर ही वह परमात्माको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह परमात्माके साथ एक है। (२। ६९ परि.)

८. अगर असत्‌को जाननेसे असत्‌की निवृत्ति न हो तो वास्तवमें असत्‌को जाना ही नहीं है, प्रत्युत सीखा है। सीखे हुए ज्ञानसे असत्‌की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि मनमें असत्‌की सत्ता रहती है। (२। ७२)

९. इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये इनसे होनेवाला ज्ञान प्रकृतिजन्य है। शास्त्रोंको पढ़-सुनकर इन इन्द्रियों-मन-बुद्धिके द्वारा जो पारमार्थिक ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी एक प्रकारसे प्रकृतिजन्य ही है। परमात्मतत्त्व इस प्रकृतिजन्य ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। अतः परमात्मतत्त्वको निज-ज्ञान (स्वयंसे होनेवाले ज्ञान)-से ही जाना जा सकता है। (४। ३ वि.)

१०. वास्तवमें ज्ञान संसारका ही होता है। स्वरूपका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि स्वरूप स्वतःज्ञानस्वरूप है। क्रिया और पदार्थ ही संसार है।......क्रिया और पदार्थकी स्वरूपसे भिन्नताका ठीक-ठीक ज्ञान होते ही क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतःसिद्ध असंग स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है। (४। २३)

११. वास्तवमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत संसारका होता है। संसारका ज्ञान होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। (४। ३४)

१२. वास्तविक बोध करणनिरपेक्ष है अर्थात् मन, वाणी आदिसे परे है। अतः वास्तविक बोध स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है और यह तब होता है, जब मनुष्य अपने विवेक (जड़-चेतनके भेदका ज्ञान)-को महत्त्व देता है। विवेकको महत्त्व देनेसे जब अविवेक सर्वथा मिट जाता है, तब वह विवेक ही वास्तविक बोधमें परिणत हो जाता है और जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है। (४। ३५)

१३. तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।....... जब अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है। (४। ३५ परि.)

१४. पापोंमें ज्ञानको अटकानेकी ताकत नहीं है। ज्ञानप्राप्तिमें खास बाधा है—नाशवान् सुखकी आसक्ति

(गीता ३। ३७—४१)। भोगासक्तिके कारण ही मनुष्यकी पारमार्थिक विषयमें रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन प्रतीत होती है। (४। ३६ परि.)

१५. ज्ञान होनेपर कर्मोंसे अथवा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है। (४। ३७)

१६. तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, तब सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और महान् पवित्रता आ जाती है। इसलिये संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन है ही नहीं। (४। ३८)

१७. परमात्मतत्त्वका ज्ञान करणनिरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणोंसे नहीं। साधक किसी भी उपायसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें वह अपने-आपसे ही तत्त्वको जानेगा। (४। ३८)

१८. कैसा ही व्यक्ति क्यों न हो, अगर वह एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना चाहता है और 'परमात्मा अपनेमें हैं' ऐसी श्रद्धावाला है, तो उसे अवश्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है। (४। ३९)

१९. मनुष्यमें जितना ज्ञान है, यदि उस ज्ञानके अनुसार वह अपना जीवन बना ले तो अज्ञान सर्वथा मिट जायगा और ज्ञान प्रकट हो जायगा। कारण कि अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। (४। ४०)

२०. केवल असत्के ज्ञानसे अर्थात् असत्को असत् जान लेनेसे रागकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे, सिनेमामें दीखनेवाले पदार्थों आदिकी सत्ता नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसमें राग हो जाता है।......असत्को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति तभी होती है, जब अपने स्वरूपमें स्थित होकर असत्को असत्‌रूपसे जानते हैं। स्वरूपमें स्थिति करणनिरपेक्ष है। परन्तु बुद्धि आदि करणोंसे असत्को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि बुद्धि आदि करण भी असत् हैं। अतः असत्के ही द्वारा असत्को जाननेसे उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? (५। २ टि.)

२१. यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है। (५। २ परि.)

२२. अपनी सत्ताको और शरीरको अलग-अलग मानना 'ज्ञान' है और एक मानना 'अज्ञान' है। (५। १६)

२३. साधक भूलसे अपनेको तत्त्वज्ञ न मान ले, इसलिये यह पहचान बतायी है कि अगर बुद्धिमें समता नहीं आयी है तो समझ लेना चाहिये कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, केवल वहम हुआ है! बुद्धिकी समताका स्वरूप है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि न होना। (५। १९ परि.)

२४. स्वरूपका ज्ञान स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भाव नहीं रहता। यह ज्ञान करणनिरपेक्ष होता है अर्थात् इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी करणकी अपेक्षा नहीं होती। (५। २०)

२५. इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान आदि जितने भी सांसारिक ज्ञान कहे जाते हैं, उन सबका प्रकाशक और आधार परमात्मतत्त्वका ज्ञान है। (५। २४)

२६. इन्द्रियोंके ज्ञानमें 'संयोग' का प्रभाव पड़ता है और बुद्धिके ज्ञानमें 'परिणाम' का। जिन मनुष्योंके मनपर केवल इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है, वे संयोगजन्य सुखभोगमें ही लगे रहते हैं; और जिनके मनपर बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है, वे (परिणामकी ओर दृष्टि रहनेसे) सुखभोगका त्याग करनेमें समर्थ हो जाते हैं। (५। २८)

२७. जिसका संसारकी तरफ खिंचाव है और जिसके अन्त:करणमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व बैठा हुआ है, वह परमात्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। (७। १ वि.)

२८. परा तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अत: अहंसहित सब कुछ भगवान् ही हैं—यही विज्ञानसहित ज्ञान है।......केवल 'ज्ञान' से मुक्ति तो हो जाती है, पर प्रेमका अनन्त आनन्द तभी मिलता है, जब उसके साथ 'विज्ञान' भी हो। 'ज्ञान' धनकी तरह है और 'विज्ञान' आकर्षण है। जैसे धनके आकर्षणमें जो सुख है, वह धनमें नहीं है, ऐसे ही 'विज्ञान' (भक्ति)-में जो आनन्द है, वह 'ज्ञान' में नहीं है। (७।१ परि.)

२९. यह संसार भगवान्से ही उत्पन्न होता है और भगवान्में ही लीन होता है—ऐसा मानना 'ज्ञान' है; और सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान् ही सब कुछ बने हुए हैं, भगवान्के सिवाय कुछ है ही नहीं—ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है। (७। २ टि.)

३०. तत्त्वसे सब कुछ वासुदेव ही हैं—'**वासुदेव सर्वम्**' (७। १९), और कोई है ही नहीं—ऐसा जान लेगा तो जानना बाकी कैसे रहेगा? क्योंकि इसके सिवाय दूसरा कुछ जाननेयोग्य है ही नहीं। यदि एक परमात्माको न जानकर संसारकी बहुत-सी विद्याओंको जान भी लिया तो वास्तवमें कुछ नहीं जाना है, कोरा परिश्रम ही किया है। (७। २ टि.)

३१. एक भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लेना ही तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवालेको भगवान्ने 'ज्ञानवान्' कहा है। (गीता ७।१९)

३२. परमात्माको जानना और मानना—दोनों ही ज्ञान हैं तथा संसारको सत्ता देकर संसारको जानना और मानना—दोनों ही अज्ञान हैं। (७। १९ मा.)

३३. संसारको तत्त्वसे जाननेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है, और परमात्माको तत्त्वसे जाननेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। (७। १९ मा.)

३४. सब कुछ भगवान् ही हैं—यह वास्तविक ज्ञान है। (७। १९ परि.)

३५. एक भगवान्के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—यह ज्ञान सुखकी कामनाके कारण ढक जाता है। (७। २० परि.)

३६. मनुष्यको संसारकी कितनी ही विद्याओंका, कला-कौशल आदिका ज्ञान हो जाय तो भी वह '**अल्पमेधा**' (तुच्छ बुद्धिवाला) ही है। वह ज्ञान वास्तवमें अज्ञानको दृढ़ करनेवाला है। परन्तु जिसने भगवान्को जान लिया है, उसको किसी सांसारिक विद्या, कला-कौशल आदिका ज्ञान न होनेपर भी वह '**सर्ववित्**' (सब कुछ जाननेवाला) है (गीता १५। १९)। (७। २३ परि.)

३७. वास्तवमें संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर और भगवान्का ज्ञान भगवान्से अभिन्न होनेपर ही होता है। संसार नहीं है—यही संसारका ज्ञान है। वास्तवमें जो है ही नहीं, रहता ही नहीं, उसका ज्ञान कैसा? संसार है—ऐसा मानना ही अज्ञान है। (७।२७ परि.)

३८. जो भगवान्‌का आश्रय न लेकर अपना कल्याण चाहते हुए उद्योग करते हैं, उनको अपने-अपने साधनके अनुसार भगवत्स्वरूपका बोध तो हो जाता है, पर भगवान्‌के समग्ररूपका बोध उनको नहीं होता। (७। २९)

३९. अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्‌को जानना 'विज्ञान' है। (९। १ परि.)

४०. भगवान्‌से विमुख होकर उन्होंने संसारकी सब भाषाएँ सीख लीं, तरह-तरहकी विद्याओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया, कई तरहके आविष्कार कर लिये, अनन्त प्रकारके ज्ञान प्राप्त कर लिये, पर इससे उनका कल्याण नहीं होगा, जन्म-मरण नहीं छूटेगा। इसलिये वे सब ज्ञान निष्फल हैं। (९। १२)

४१. वास्तवमें संसार-शरीरसे अलग होकर ही उनको जान सकते हैं। इस रीतिसे परमात्मासे अलग रहते हुए परमात्माको यथार्थ-रूपसे नहीं जान सकते। परमात्माको तो वे ही जान सकते हैं, जो परमात्मासे एक हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने 'मैं' और 'मेरा'-पन सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर दिया है। 'मैं' और 'मेरा'-पन तो दूर रहा, 'मैं' और 'मेरे'-पनकी गन्ध भी अपनेमें न रहे कि मैं भी कुछ हूँ, मेरा भी कोई सिद्धान्त है, मेरी भी कुछ मान्यता है आदि। (९। ३४ वि.)

४२. जैसे भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के अंश जीवको भी अपने-आपसे ही अपने-आपको जानना चाहिये।......इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपने स्वरूपको नहीं जान सकते। (१०। १५)

४३. तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायँगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता। (१०। १५ परि.)

४४. गुरु और राजाके द्वारा समझानेपर भी मनुष्य स्वयं उनकी बातको वास्तविकतासे नहीं समझेगा, उनकी बातको नहीं मानेगा, तबतक गुरुका ज्ञान और राजाका शासन उसके काम नहीं आयेगा। अन्तमें स्वयंको ही मानना पड़ेगा और वही उसके काम आयेगा। (१०। ४१ वि.)

४५. साधकमें जितनी सरलता, निर्बलता, निरभिमानताका भाव होगा, उतना ही वह भगवान्‌को जानेगा। अपना अभिमान करके साधक भगवान्‌को जाननेमें आड़ ही लगाता है। वह जितना समझदार बनता है, उतना ही बेसमझ रहता है। अपनेको समझदार माननेसे वह समझदारीका गुलाम हो जाता है। वह जितना निरभिमान होता है, समझदारीका अभिमान नहीं करता, उतना ही वह समझदार होता है। (११। ५ परि.)

४६. संसारमें अनेक विद्याओंका, अनेक भाषाओंका, अनेक लिपियोंका, अनेक कलाओंका, तीनों लोक ओर चौदह भुवनोंका जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। कारण कि वह ज्ञान सांसारिक व्यवहारमें काममें आनेवाला होते हुए भी संसारमें फँसानेवाला होनेसे अज्ञान ही है। वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और फिर संसारमें जन्म न हो, संसारकी परतन्त्रता न हो। (१३। २)

४७. हमारेसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है, तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। तात्पर्य है कि शरीर और संसार एक हैं तथा स्वयं और परमात्मा एक हैं (गीता १५। ७)। यही ज्ञान है। (१३। २ परि.)

४८. सुख-दु:खका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसका असर पड़ना (विकार होना) दोषी है। .... ज्ञान किसीका भी दोषी नहीं होता; जैसे भोजन करते समय जीभमें स्वादका ज्ञान होना दोष नहीं है, प्रत्युत भोजनके पदार्थोंमें राग या द्वेष होना दोष है। (१३।६)

४९. वास्तवमें बुद्धिके द्वारा जाने अर्थात् सीखे हुए विषयको 'ज्ञान' की संज्ञा देना और उससे अपने-आपको ज्ञानी मान लेना भूल ही है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व बुद्धिके द्वारा कैसे जाना जा सकता है? (१३। ८)

५०. साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अत: साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको एक देखना) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। (१३। ११ परि.)

५१. इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा भी (जाननेमें आनेवाले) विषयोंका ज्ञान होता है, पर वे अवश्य जाननेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि उनको जान लेनेपर भी जानना बाकी रह जाता है, जानना पूरा नहीं होता। वास्तवमें अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मा ही हैं। (१३। १७)

५२. परमात्मा तत्त्वज्ञानसे ही जाने जाते हैं, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। तत्त्वज्ञानके सिवाय उनको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जिस साधनसे परमात्माको जानेगा, वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, भगवत्कृपा आदिसे भी जानेगा तो तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। कारण कि जानना ज्ञानसे ही होता है। (१३। १७ परि.)

५३. जैसे धनी आदमीकी आज्ञाका पालन करनेसे धन मिलता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे तत्त्वज्ञान मिलता है। (१३। २५)

५४. लौकिक और पारलौकिक जितने भी ज्ञान हैं अर्थात् जितनी भी विद्याओं, कलाओं, भाषाओं, लिपियों आदिका ज्ञान है, उन सबसे प्रकृति-पुरुषका भेद बतानेवाला, प्रकृतिसे अतीत करनेवाला, परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला यह ज्ञान श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्ट है।.... दूसरे सभी ज्ञान संसारमें फँसानेवाले हैं, बन्धनमें डालनेवाले हैं। (१४। १)

५५. सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ' यह संग है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह (ज्ञानी) नहीं रहता। (१४। ६ परि.)

५६. किसीको पौत्रके जन्म तथा पुत्रकी मृत्युका समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुननेसे एकके 'जन्म' तथा दूसरेकी 'मृत्यु' का जो ज्ञान हुआ, उस 'ज्ञान' में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञानमें भी कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर 'ज्ञाता' में अन्तर आयेगा ही कैसे! (१५। ९)

५७. कानोंसे सुनने, मनसे मनन करने, बुद्धिसे विचार करने आदि उपायोंसे कोई तत्त्वको नहीं जान सकता। कारण कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृत्तिके कार्यसे उस तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है? (१५। ११ मा.)

५८. किसी विषयकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं। लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानस्वरूप परमात्माका आभासमात्र है।........वास्तवमें ज्ञान वही है, जो 'स्वयं' से जाना जाय। (१५। १५)

५९. जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं, जिनको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

परमात्माको जाने बिना संसारको कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होती, सदा अधूरी ही रहती है। (१५। १५)

६०. भगवान्‌को जाननेवाला व्यक्ति कितना ही कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह सब कुछ जाननेवाला है; क्योंकि उसने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया। उसको और कुछ भी जानना शेष नहीं है। (१५। १९)

६१. किसी वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तुसे राग या द्वेषपूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो। (१५। १९)

६२. सब लौकिक विद्याओंसे अनजान होते हुए भी जिसने परमात्माको जान लिया है, वही वास्तवमें ज्ञानवान् है। (१५। २०)

६३. बोधमें विवेक कारण है, बुद्धि नहीं। (१८। १६ परि.)

६४. संसारका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिसे होता है और बुद्धिका ज्ञान 'मैं' से होता है। वह 'मैं' बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय—इन तीनोंको जानता है। परन्तु उस 'मैं' का भी एक प्रकाशक है, जिसमें 'मैं' का भी भान होता है। (१८। २०)

६५. अहंभावके सर्वथा मिटनेसे ही तत्त्वका वास्तविक बोध होता है। (१८। ५५)

६६. ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल मेरी दृष्टि उधर नहीं थी। अगर पहले अज्ञान था, पीछे ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है। (१८। ७३ परि., टि.)

६७. तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे सत्-असत्‌का विचार करते-करते जब असत् छूट जाता है, तब 'संसार है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं' इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है और तत्त्व प्रकट हो जाता है। (१८। ७३ परि.)

***

ज्ञानयोग

१. एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—यह ज्ञानमार्गकी सर्वोपरि बात है। (२। १६ परि.)

२. शरीर और शरीरीके विभागको जानकर शरीर-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद करना 'सांख्ययोग' है। (२। ३९ परि.)

३. मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इस सत्यको स्वीकार कर ले तो 'ज्ञानयोग' आरम्भ हो जाता है। (३। ३ परि.)

४. सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना मुख्य नहीं है, प्रत्युत अहंताका त्याग ही मुख्य है। (३। ४)

५. भगवान्‌के सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान-प्राप्तिके लिये सांख्ययोगका पालन प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतासे कर सकता है और उसका पालन करनेमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता भी नहीं

है। (५। २)

६. सांख्ययोगकी साधनामें विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है। विवेकपूर्वक तीव्र वैराग्यके बिना यह साधना सफल नहीं होती। (५। २)

७. सांख्ययोगकी सफलताके लिये कर्मयोगका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना सांख्ययोगकी सिद्धि कठिनतासे होती है। (५। ६)

८. सांख्ययोगीका लक्ष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव करना होता है। परन्तु राग रहते हुए इस साधनके द्वारा परमात्मतत्त्वके अनुभवकी तो बात ही क्या है, इस साधनका समझमें आना भी कठिन है। (५। ६)

९. सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रियाँ, अन्त:करण आदिके साथ कभी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मोंका कर्तापन अपनेमें कभी अनुभव नहीं करता (गीता ५। १३)। (५।९)

१०. सांख्ययोगकी सिद्धिमें व्यक्तित्वका अभिमान मुख्य बाधक है। (५।२५)

११. कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये कर्मयोगकी प्रणालीको अपनानेकी आवश्यकता ज्ञानयोगमें भी है। (१२। ३-४)

१२. ज्ञानयोगका साधक प्राय: समाजसे दूर, असंग रहता है। अत: उसमें व्यक्तित्व रह जाता है, जिसे दूर करनेके लिये संसारमात्रके हितका भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव दृढ़ होता है अर्थात् मिटता नहीं। (१२। ३-४)

१३. ज्ञानमार्ग विवेकसे ही आरम्भ होता है और विवेक (बोध)-में ही समाप्त होता है। वास्तविक विवेक होनेपर प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वत:सिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। (१३। ३४)

१४. ज्ञानमार्गमें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है। (१३। ३४)

१५. परमात्मा तो अपना स्वरूप है। जीव उससे अलग नहीं है। केवल नाशवान् चीजोंसे अपना सम्बन्ध माननेसे वह अपने स्वरूपसे च्युत हुआ है। अत: नाशवान्‌के सम्बन्धका त्याग कर दें, तो अपने स्वरूपका बोध हो जायगा—यह ज्ञानयोग है। (१५। २)

१६. साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, है वह एक जातिकी (प्राकृत) ही।........साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। (१८। १६ परि.)

१७. ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्ति अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन, निन्दा नहीं करता, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अत: उसको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति हो जाती है। (१८। ५४ परि.)

१८. ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (ज्ञानोत्तरकालमें) भक्ति प्राप्त होती है, तब उसमें तत्त्वसे जानना (ज्ञात्वा) और प्रविष्ट होना (विशते)—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। (१८। ५५ परि.)

१९. आजकल मनुष्योंमें पारमार्थिक बातोंको जाननेकी जो विशेष व्याकुलता नहीं दिखायी देती, उसका कारण है कि वे धन, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, भोग, ऐश्वर्य आदि क्षणिक सुखोंको लेकर सन्तोष करते रहते हैं। इससे उनकी (वास्तविकताको जाननेकी) व्याकुलता दब जाती है। (१८। ७६ टि.)

***

त्याग

१. जाने हुए असत्‌का त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करे। जिसके साथ हमारा न तो नित्य सम्बन्ध है और न स्वरूपगत एकता ही है, उसको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है।......अगर हम शरीरसे माने हुए विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा! जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? (२। ३० परि.)

२. थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और बड़ी-से-बड़ी क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं (गीता ८। २८), पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। (२। ४० परि.)

३. सबका त्याग होनेपर भी अहंकार शेष रह जाता है, पर अहंकारका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है। (२। ७१ परि.)

४. देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदि कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है। इन पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपनेपनका त्याग प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, चाहे वह दरिद्र-से-दरिद्र हो अथवा धनी-से-धनी, पढ़ा-लिखा हो अथवा अनपढ़। इस त्यागमें सब-के-सब स्वाधीन तथा समर्थ हैं। (३। ३४)

५. कामनाके कारण ही 'त्यागमें सुख है'—यह ज्ञान काम नहीं करता। मनुष्यको प्रतीति तो ऐसा होता है कि अनुकूल भोग-पदार्थके मिलनेसे सुख होता है, पर वास्तवमें सुख उसके त्यागसे होता है। (३। ३९)

६. जो वस्तु अपनी है, उस (स्वरूप या परमात्मा)-का त्याग कभी हो ही नहीं सकता और जो वस्तु अपनी नहीं है, उस (शरीर या संसार)-का त्याग स्वत:सिद्ध है। अत: त्याग उसीका होता है जो अपना नहीं है, पर जिसे भूलसे अपना मान लिया है अर्थात् अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग होता है। इस प्रकार जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसे अपना न मानना त्याग कैसे? यह तो विवेक है। (४। १६)

७. भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करना तो साधकमात्रके लिये आवश्यक है। (४। २१)

८. किसी वस्तुको मायामात्र समझकर ऐसे ही उसका त्याग कर देना कठिन पड़ता है; परन्तु वही

वस्तु किसीके काम आती हुई दिखायी दे तो उसका त्याग करना सुगम पड़ता है। (५। २)

९. वास्तवमें त्याग कर्मफलका नहीं, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छाका होता है। कर्मफलकी इच्छाका त्याग करनेका अर्थ है—किसी भी कर्म और कर्मफलसे अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका सुख लेनेकी इच्छा न रखना। (५। १२)

१०. अगर स्वरूपसे छोड़नेपर ही मुक्ति होती तो मरनेवाले (शरीर छोड़नेवाले) सभी मुक्त हो जाते। पदार्थ तो अपने-आप ही स्वरूपसे छूटते चले जा रहे हैं। अत: वास्तवमें उन पदार्थोंमें जो कामना, ममता और आसक्ति है, उसीको छोड़ना है; क्योंकि पदार्थोंसे कामना-ममता-आसक्तिपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण है। (५। १२)

११. ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया, फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्का त्याग नहीं कर पाता। अगर वह असत्का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईके कारण फिर उसको सत्ता दे देता है। (७। २८ परि.)

१२. मनुष्य जब पदार्थोंकी आहुति देते हैं तो वह 'यज्ञ' हो जाता है; चीजोंको दूसरोंको दे देते हैं तो वह 'दान' कहलाता है, संयमपूर्वक अपने काममें न लेनेसे वह 'तप' हो जाता है और भगवान्के अर्पण करनेसे भगवान्के साथ 'योग' (सम्बन्ध) हो जाता है—ये सभी एक 'त्याग' के ही अलग-अलग नाम हैं। (९। २६ वि.)

१३. त्याग करनेमें निकृष्ट वस्तु तो सुगमतासे छूटती है, पर अच्छी वस्तुको छोड़ना कठिन होता है। अत: अच्छी वस्तुका त्याग करनेकी अपेक्षा उसको दूसरेकी सेवामें लगाना सुगम पड़ता है। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे असत्का त्याग सुगमतासे और जल्दी हो जाता है। (१२। २ परि.)

१४. ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगमें असत् (जड़ता)-का शीघ्र त्याग होता है और कर्मयोगकी अपेक्षा भक्तियोगमें असत्का शीघ्र त्याग होता है; क्योंकि भक्तिमें असत् रहता ही नहीं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९।१९)। (१२।२ परि.)

१५. ज्ञानयोगका साधक जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता तो है; परन्तु जबतक उसके हृदयमें नाशवान् पदार्थोंका आदर है, तबतक पदार्थोंको मायामय अथवा स्वप्नवत् समझकर उनका ऐसे ही त्याग कर देना उसके लिये कठिन है। परन्तु कर्मयोगका साधक पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर उनका त्याग ज्ञानयोगीकी अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। (१२। ३-४)

१६. त्यागका उद्देश्य होनेसे साधक मन-इन्द्रियोंका संयम सुगमतासे कर सकता है। (१२। ११)

१७. सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है। (१२।११)

१८. सम्पूर्ण कर्मोंके फल (फलेच्छा)-का त्याग भगवत्प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। (१२। ११)

१९. वास्तवमें त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया गया है। जीव स्वयं चेतन और अविनाशी है तथा संसार जड़ और विनाशी है। जीव भूलसे (अपने अंशी

परमात्माको भूलकर) विजातीय संसारको अपना मान लेता है। इसलिये संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करनेकी आवश्यकता है। (१२। १२)

२०. त्यागके अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदिके फलका त्याग भी समझना चाहिये। कारण कि जबतक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तबतक व्यक्तित्व बना रहनेसे बन्धन बना रहता है। अतः अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही है। इसलिये किसी भी क्रियाके साथ अपने लिये कुछ भी चाह न रखना ही 'त्याग' है। वास्तविक त्यागमें त्याग-वृत्तिसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। (१२। १२)

२१. फलासक्तिका त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रम, देश आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, प्रत्युत साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। (१२। १२ वि.)

२२. कर्मफलत्यागसे कर्मफलकी इच्छाका त्याग समझना चाहिये। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है। (१२। १२ परि.)

२३. अगर पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही मुक्ति होती, तो मरने-वाला हरेक व्यक्ति मुक्त हो जाता; क्योंकि उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया! परन्तु ऐसी बात है नहीं। अन्तःकरणमें आसक्तिके रहते हुए शरीरका त्याग करनेपर भी संसारका बन्धन बना रहता है। अतः मनुष्यको सांसारिक आसक्ति ही बाँधनेवाली है, न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे सम्बन्ध। (१२।१८-१९)

२४. आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना भी एक साधन हो सकता है; किन्तु खास जरूरत आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेकी ही है। (१२।१८-१९)

२५. विषयोंमें सौन्दर्य और आकर्षण अपने रागके कारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर और आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। (१५।२)

२६. वर्तमानमें तत्त्वका अनुभव जड़ताका सर्वथा त्याग होनेपर ही हो सकता है। जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता—यह नियम है। अतः शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ पदार्थोंका आश्रय लेकर साधक जड़ताका त्याग नहीं कर सकता।......जड़ताका त्याग करनेका सुगम उपाय है—एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेना अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना, इसपर अटल विश्वास कर लेना। (१५।११)

२७. संसारसे विमुख हो जाना ही असली त्याग है। (१६।२)

२८. बाहरसे पाप, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदिका और बाहरी सुख-आराम आदिका त्याग भी करना चाहिये, और भीतरसे सांसारिक नाशवान् वस्तुओंकी कामनाका त्याग भी करना चाहिये। इसमें भी बाहरके त्यागकी अपेक्षा भीतरकी कामनाका त्याग श्रेष्ठ है। (१६।२)

२९. 'असत्' का त्याग किये बिना लाया गया 'सत्' ऊपरसे चिपकाया होता है, जो ठहरता नहीं। परन्तु असत्‌का त्याग करनेसे 'सत्' भीतरसे उदय होता है। अतः जिसको हम असत्-रूपसे जानते हैं, उसका त्याग करनेसे 'सत्' का अनुभव हो जाता है। (१७।२६ परि.)

३०. भगवान् भीतरकी कामना-ममता-आसक्तिके त्यागको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि ये ही जन्म-मरणके कारण हैं (गीता १३। २१)....भीतरका त्याग ही असली त्याग है। भीतरका त्याग होनेसे बाहरसे वस्तुएँ अपने पास रहें या न रहें, मनुष्य उनसे बँधता नहीं। (१८। ७)

३१. 'कर्मफलत्याग' का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता; जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा? खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? (१८। ११ परि.)

३२. बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। अगर कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीरसहित सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है, पर उससे मुक्ति नहीं होती। (१८। ११ परि.)

३३. जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है। (१८। १२ टि.)

३४. ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सबके लिये तो स्वरूपसे ही परिग्रह (संग्रह)-का त्याग है। अगर गृहस्थमें भी कोई सुख-भोगबुद्धिसे संग्रह न करे, केवल दूसरोंकी सेवा, हितके लिये ही संग्रह करे तो वह भी परिग्रह नहीं है। (१८। ५१—५३)

***

धर्म

१. जिस पक्षमें धर्म और भगवान् रहते हैं, उसका सबपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्तिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। कारण कि धर्म और भगवान् नित्य हैं। कितनी ही ऊँची-से-ऊँची भौतिक शक्तियाँ क्यों न हों, हैं वे सभी अनित्य ही। (१। ७)

२. धर्मका पालन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बुद्धि सात्त्विकी बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धिमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसका विवेक जाग्रत् रहता है। (१। ४१)

३. यह स्वयं परमात्माका अंश है। जब यह शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह 'स्व' को अर्थात् अपने-आपको जो कुछ मानता है, उसका कर्तव्य 'स्वधर्म' कहलाता है। जैसे कोई अपने-आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानता है, तो अपने-अपने वर्णोचित कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है। कोई अपनेको शिक्षक या नौकर मानता है तो शिक्षक या नौकरके कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है। कोई अपनेको किसीका पिता या किसीका पुत्र मानता है तो पुत्र या पिताके प्रति किये जानेवाले कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है। (२। ३१)

४. धर्मका पालन करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। (२। ३७ परि.)

५. धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है। (२। ३९ परि.)

६. 'धर्म' नाम दो बातोंका है—१. दान करना, प्याऊ लगाना, अन्नक्षेत्र खोलना आदि परोपकारके

कार्य करना और २. वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना। (२।४०)

७. आस्तिकजन जिसे 'धर्म' कहते हैं, उसीका नाम 'कर्तव्य' है। स्वधर्मका पालन करना अथवा अपने कर्तव्यका पालन करना एक ही बात है। कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको सुगमतापूर्वक कर सकते है, जो अवश्य करनेयोग्य है और जिसको करनेपर प्राप्तव्यकी प्राप्ति अवश्य होती है। धर्मका पालन करना सुगम होता है; क्योंकि वह कर्तव्य होता है। (३। ३५)

८. यह नियम है कि केवल अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेसे मनुष्यको वैराग्य हो जाता है—***'धर्म तें बिरति'*** (मानस ३। १६।१)। (३। ३५)

९. स्वधर्म-पालनमें यदि सदा सुख-आराम, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि ही मिलते तो वर्तमानमें धर्मात्माओंकी टोलियाँ देखनेमें आतीं। परन्तु स्वधर्मका पालन सुख अथवा दुःखको देखकर नहीं किया जाता, प्रत्युत भगवान् अथवा शास्त्रकी आज्ञाको देखकर निष्कामभावसे किया जाता है। (३। ३५)

१०. जो धर्मका पालन करता है, उसके कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। (३।३५)

११. स्वयं परमात्माका अंश होनेसे वास्तवमें स्वधर्म है—अपना कल्याण करना, अपनेको भगवान्का मानना और भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना न मानना, अपनेको जिज्ञासु मानना, अपनेको सेवक मानना। कारण कि ये सभी सही धर्म हैं, खास स्वयंके धर्म हैं, मन-बुद्धिके धर्म नहीं हैं। (३। ३५ मा.)

१२. साधक जन्म और कर्मके अनुसार 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म (कर्तव्य) उसके लिये 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है।...... जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं। (३। ३५ परि.)

१३. कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग एवं दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता है। (३। ३५ टि.)

१४. अधर्मकी वृद्धि और धर्मका ह्रास होनेका मुख्य कारण है—नाशवान् पदार्थोंकी ओर आकर्षण।.......लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं। (४। ७)

१५. कर्मोंमें सकामभाव उत्पन्न होना ही धर्मकी हानि है और अपने-अपने कर्तव्यसे च्युत होकर निषिद्ध आचरण करना ही अधर्मका अभ्युत्थान है। 'काम' अर्थात् कामनासे ही सब-के-सब अधर्म, पाप, अन्याय आदि होते हैं (गीता ३। ३७)। (४। ७)

१६. जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब भगवान्की आज्ञासे संत इस पृथ्वीपर आते हैं अथवा यहींसे विशेष साधक पुरुष प्रकट हो जाते हैं और धर्मकी स्थापना करते हैं। (४। ७)

१७. निष्कामभावका उपदेश, आदेश और प्रचार ही धर्मकी स्थापना है। कारण कि निष्कामभावकी

कमीसे और असत् वस्तुको सत्ता देकर उसे महत्त्व देनेसे ही अधर्म बढ़ता है, जिससे मनुष्य दुष्ट स्वभाववाले हो जाते हैं। (४। ८)

१८. धर्मका कभी नाश नहीं होता, केवल ह्रास होता है। धर्मका ह्रास होनेपर भगवान् पुनः उसकी अच्छी तरह स्थापना करते हैं (गीता ४। १—३)। (४। ८)

१९. धर्मका विधान मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि मनुष्येतर प्राणियोंमें धर्मकी मर्यादा लागू ही नहीं होती। (७। ११ टि.)

२०. केवल धार्मिक क्रियाओंसे जो धार्मिक बनता है, उसके भीतर भोग और ऐश्वर्यकी कामना होनेसे उसको भोग और ऐश्वर्य तो मिल सकते हैं, पर शाश्वती शान्ति नहीं मिल सकती। (९। ३१)

२१. विवाह तो हरेक पुरुषका हो सकता है, राक्षसका भी और असुरका भी। वे भी पति बन सकते हैं। परन्तु वास्तवमें कल्याण पतिकी सेवासे नहीं होता, प्रत्युत पतिकी सेवा करना—पातिव्रत-धर्मका पालन करना ऋषि, शास्त्र, भगवान्‌की आाज्ञा है, इसलिये इनकी आज्ञाके पालनसे ही कल्याण होता है। (१७। ४)

२२. जो स्त्री अपने पतिके रहते पातिव्रत-धर्मका पालन करती रही है और पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्य-धर्मका पालन करती है, उस विधवाकी वही गति होती है, जो आबाल ब्रह्मचारीकी होती है। (१७। १४)

२३. यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। (१८। १२)

२४. शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान किया है, वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जिससे परलोकमें सद्गति होती है, वह धर्म है। (१८। ३१)

२५. वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे। (१८। ३१)

२६. धर्मका अनुष्ठान धनके लिये किया जाय और धनका खर्चा धर्मके लिये किया जाय, तो धर्मसे धन और धनसे धर्म—दोनों परस्पर बढ़ते रहते हैं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और धनका खर्चा केवल कामनापूर्तिके लिये ही किया जाय तो धर्म (पुण्य) और धन—दोनों ही कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाते हैं। (१८। ३४ टि.)

२७. गीताके अनुसार सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। (१८। ६६)

पराधीनता-स्वाधीनता

१. शरीरकी आवश्यकता ही मनुष्यको पराधीन बनाती है। आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब मनुष्य उस वस्तुको स्वीकार कर लेता है, जो अपनी नहीं है। (२। ७१ परि.)

२. वास्तवमें सबके मूलमें प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता ही है। इसी परवशतासे सभी परवशताएँ पैदा होती हैं। (३। ५)

३. जब मनुष्य किसी वस्तुकी कामना करता है, तब वह पराधीन हो जाता है। (३। ३९)

४. जबतक मनुष्य स्वयं (स्वरूपसे) भगवान्‌के आश्रित नहीं हो जाता, तबतक उसकी पराधीनता मिटती नहीं और वह दु:ख पाता ही रहता है। (४। १०)

५. जो अपने स्वरूपसे सर्वथा अलग हैं, उन क्रियाओं और शरीरादि पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न होते हुए भी कामना, ममता और आसक्तिपूर्वक उनसे अपना सम्बन्ध मान लेनेसे मनुष्य बँध जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। (४। २३)

६. शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब 'पर' हैं और जो इनके अधीन रहता है, उसे 'पराधीन' कहते हैं। इन शरीरादि वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि होना तथा इनकी आवश्यकता अनुभव करना अर्थात् इनकी कामना करना ही इनके अधीन होना है। (५। १९)

७. कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य पराधीन हो जाता है। यह पराधीनता कामनाकी पूर्ति न होनेपर अथवा पूर्ति होनेपर—दोनों ही अवस्थाओंमें ज्यों-की-त्यों रहती है। कामनाकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य वस्तुके अभावके कारण पराधीनताका अनुभव करता है और कामनाकी पूर्ति होनेपर अर्थात् वस्तुके मिलनेपर वह उस वस्तुके पराधीन हो जाता है; क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्र 'पर' है। (५। १९)

८. मनुष्यके पास अनुकूल चीजें न होनेसे यह उन चीजोंके अभावका अनुभव करता है और उनके मिलनेपर यह उनके अधीन हो जाता है। जिस समय इसको अभावका अनुभव होता था, उस समय भी परतन्त्रता थी और अब उन चीजोंके मिलनेपर भी 'कहीं इनका वियोग न हो जाय'— इस तरहकी परतन्त्रता होती है। अत: वस्तुके न मिलने और मिलनेमें फरक इतना ही रहा कि वस्तुके न मिलनेसे तो वस्तुकी परतन्त्रताका अनुभव होता था, पर वस्तुके मिलनेपर परतन्त्रताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत उसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता दीखती है—यह उसको धोखा होता है। (६। ४)

९. मनुष्य प्राकृत वस्तुओंपर जितना-जितना अधिकार जमाता चला जाता है, उतना-उतना वह अपने-आपको पराधीन बनाता चला जाता है। (६। ६)

१०. मूलमें परवशता प्रकृतिजन्य पदार्थोंको महत्त्व देने, उनको स्वीकार करनेमें ही है। इस परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशताके नामसे कहा गया है।.....यह परवशता तभीतक रहती है, जबतक यह प्राकृत पदार्थोंके संयोगसे सुख लेना चाहता है। इस संयोगजन्य सुखकी इच्छासे ही यह पराधीनता भोगता रहता है और ऐसा मानता रहता है कि यह पराधीनता छूटती नहीं, इसको छोड़ना बड़ा कठिन है। (८। १९)

११. अगर यह जीव प्रकृतिकी वस्तुओंमेंसे किसी भी वस्तुको अपनी मानता रहेगा तो उसको वहम तो यह होगा कि 'मैं इस वस्तुका मालिक हूँ', पर हो जायगा उस वस्तुके परवश, पराधीन। प्राकृत पदार्थोंको यह जितना ही अधिक ग्रहण करेगा, उतना ही यह महान् परतन्त्र बनता चला जायगा। (८। १९)

१२. भगवान् तो स्वाधीन-से-स्वाधीन हैं। जीव ही जड़ताके पराधीन हो जाता है। उस पराधीनताको मिटानेसे वह स्वाधीन हो जाता है। परन्तु भगवान्‌के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्‌की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं—'**अहं भक्तपराधीनः**' (श्रीमद्भा. ९। ४। ६३)। (८। १९ परि.)

१३. मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा

अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। (८। १९ परि.)

१४. अपनेको जो वस्तुएँ नहीं मिली हैं, उनकी कामना होनेसे मनुष्य उनके अभावका अनुभव करता है। वह अपनेको उन वस्तुओंके परतन्त्र मानता है और वस्तुओंके मिलनेपर अपनेको स्वतन्त्र मानता है। वह समझता तो यह है कि मेरे पास वस्तुएँ होनेसे मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ, पर हो जाता है उन वस्तुओंके परतन्त्र! (१८। ३०)

१५. यह एक विचित्र बात है कि अहंकारमें स्वाधीनता मालूम देती है, पर है वास्तवमें पराधीनता! कारण कि अहंकारसे प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें आसक्ति, कामना आदि पैदा हो जाती है, जिससे पराधीनतामें भी स्वाधीनता दीखने लग जाती है। (१८। ४०)

१६. परमात्मा और परमात्माका अंश—ये दोनों ही 'स्व' हैं तथा प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर आदि—ये दोनों ही 'पर' हैं। परन्तु परमात्माका अंश स्वयं प्रकृतिके वश होकर परतन्त्र हो जाता है अर्थात् क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है और उस क्रियाको यह अपनेमें मान लेता है तो परतन्त्र हो जाता है। (१८। ४८)

१७. यह अहंभाव जबतक रहता है, तबतक परिच्छिन्नता और पराधीनता रहती है। कारण कि यह अहंभाव प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति 'पर' है; इसलिये पराधीनता रहती है। (१८। ५५)

१८. जो किसी चीजको अपनी मान लेता है, वह उस चीजका गुलाम बन जाता है और वह चीज उसका मालिक बन जाती है। (१८। ५७)

१९. यह एक बड़ी मार्मिक बात है कि मनुष्य जिन प्राकृत पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उन पदार्थोंके सदा ही परवश (पराधीन) हो जाते हैं। वे वहम तो यह रखते हैं कि हम इन पदार्थोंके मालिक हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम!...... भगवान्‌को अपना माननेसे मनुष्यकी परवशता सदाके लिये समाप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है, और भगवान्‌को अपना मानता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है। (१८। ५९)

२०. किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी विशेषता दीखती है, यही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उस विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। (१८। ६६ वि.)

२१. संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्‌का भी मालिक! (१८। ६६ वि.)

❋❋❋

परिस्थिति

१. संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मतत्त्व प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान है। अतः साधकके सामने कोई भी

और कैसी भी परिस्थिति आये, उसका केवल सदुपयोग करना है। सदुपयोग करनेका अर्थ है—दुःखदायी परिस्थिति आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना; और सुखदायी परिस्थिति आनेपर सुखभोगका तथा 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना और उसको दूसरोंकी सेवामें लगाना। इस प्रकार सदुपयोग करनेसे मनुष्य दुःखदायी और सुखदायी—दोनों परिस्थितियोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है। (प्रा.)

२. मनुष्य जहाँ-कहीं और जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित है, वहीं रहकर वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके निष्काम हो सकता है और वहीं उसको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। (१। २१-२२)

३. मनुष्यके सामने जन्मना-मरना, लाभ-हानि आदिके रूपमें जो कुछ परिस्थिति आती है, वह प्रारब्धका अर्थात् अपने किये हुए कर्मोंका ही फल है। उस अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर शोक करना, सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता ही है। (२। ११)

४. संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। अगर परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! (२। २७ परि.)

५. मनुष्यके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री है, भोग-सामग्री नहीं। (२। ४४)

६. परिस्थितिके साथ तादात्म्य करके ही यह सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। अगर मनुष्य उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य न करके उसका सदुपयोग करे, तो वही परिस्थिति उसका उद्धार करनेके लिये साधन-सामग्री बन जायगी। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—दूसरोंकी सेवा करना; और दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखभोगकी इच्छाका त्याग करना। (२। ४७ मा.)

७. अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका आना तो कर्मोंका फल है, और उससे सुखी-दुःखी होना अपनी अज्ञता—मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिलकुल हाथकी बात है। जिसे मिटा सकते हैं, उस मूर्खताको तो मिटाते नहीं और जिसे बदल सकते नहीं, उस परिस्थितिको बदलनेका उद्योग करते हैं—यह महान् भूल है! (४। ३ वि.)

८. जो किसी भी परिस्थितिसे सम्बन्ध न जोड़कर उसका सदुपयोग करता है अर्थात् अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःखी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है। (४। ३ वि.)

९. प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष सहनेके समान दूसरा कोई तप नहीं है। (४। २८)

१०. पुराने पुण्योंके अनुसार जो अनुकूल परिस्थिति आती है और पुराने पापोंके अनुसार जो प्रतिकूल परिस्थिति आती है—ये दोनों ही केवल साधन-सामग्री हैं। इन दोनोंमेंसे अनुकूल परिस्थिति आनेपर दुनियाकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करना—यह साधकका काम है। ऐसा करनेसे ये दोनों ही परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हो जायँगी। (७। २८ वि.)

११. अनुकूल परिस्थितिमें पुराने पुण्योंका नाश होता है और वर्तमानमें भोगोंमें फँसनेकी सम्भावना भी रहती है। परन्तु प्रतिकूल परिस्थितिमें पुराने पापोंका नाश होता है और वर्तमानमें अधिक सजगता, सावधानी रहती है। इस दृष्टिसे सन्तजन सांसारिक प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते आये हैं। (७। २८ वि.)

१२. अगर कोई अनुकूलतामें प्रसन्न और प्रतिकूलतामें खिन्न होता है, तो वह भगवान्‌का दास नहीं है, प्रत्युत अपने मनका दास है। (९। २२)

१३. मनुष्य प्रतिकूल घटनाको चाहता नहीं, करता नहीं और उसमें उसका अनुमोदन भी नहीं रहता, फिर भी ऐसी घटना घटती है, तो उस घटनाको उपस्थित करनेमें कोई भी निमित्त क्यों न बने और वह भी भले ही किसीको निमित्त मान ले, पर वास्तवमें उस घटनाको घटानेमें मेरा (भगवान्‌का) ही हाथ है, मेरी ही मरजी है। (९। ३४)

१४. अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दु:खी बनाकर ही उसे बाँधती है। इसलिये सुख-दु:खमें सम होनेका अर्थ है—अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर अपनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना। (१२। १३)

१५. किसी परिस्थितिका ज्ञान होना अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, प्रत्युत उससे अन्त:करणमें विकार उत्पन्न होना ही दोष है। (१२। १३)

१६. भगवान् सबके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। उनके द्वारा अपने अंश (जीवात्मा)-का कभी अहित हो ही नहीं सकता। उनके मंगलमय विधानसे जो भी परिस्थिति हमारे सामने आती है, वह हमारे परमहितके लिये ही होती है। (१५। ५)

१७. जब हमारी सामान्य स्थितिमें कुछ भी परिवर्तन (सुख-दु:ख, आदर-निरादर आदि) हो, तब यह मानना चाहिये कि भगवान् हमें विशेषरूपसे याद करके नयी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं; हमें अपनी ओर खींच रहे हैं। ऐसा मानकर साधक प्रत्येक परिस्थितिमें विशेष भगवत्कृपाको देखकर मस्त रहे और भगवान्‌को कभी भूले नहीं। (१५। ७)

१८. अनुकूलतासे पुराने पुण्योंका नाश होता है और उसमें अपना स्वभाव सुधरनेकी अपेक्षा बिगड़नेकी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु प्रतिकूलता आनेपर पापोंका नाश होता है और अपने स्वभावमें भी सुधार होता है। (१६। २)

१९. भगवान् जिनसे अपनापन करते हैं, उनको शुद्ध बनानेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं, जिससे वे सदाके लिये सुखी हो जायँ—उनका उद्धार हो जाय। (१६। १९)

२०. प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप कटते हैं, आगे पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्त:करणकी शुद्धि होती है। (१८। १२ वि.)

२१. अनुकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर प्रतिकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। (१८। १२ वि.)

२२. जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दु:खी होते हैं, वे मूर्ख होते हैं; और जो उसको साधन-सामग्री बनाते हैं, वे बुद्धिमान् साधक होते हैं। कारण कि मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अत: इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-

सामग्री ही है। (१८। ४१ वि.)

२३. मैं प्रभुके चरणोंमें ही पड़ा हुआ हूँ ऐसा मनमें भाव रखते हुए जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, उसमें भगवान्‌का मंगलमय विधान मानकर परम प्रसन्न रहे। ......जो कुछ होता है, वह मेरे कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के द्वारा कृपा करके केवल मेरे हितके लिये भेजा हुआ विधान है। (१८। ६५)

२४. प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी घबराये नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते हुए उसका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे; क्योंकि प्रतिकूलता पहले किये पापोंका नाश करने और आगे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करनेके लिये ही आती है। अनुकूलताकी इच्छा जितनी ज्यादा होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी। (१८। ७०)

***

पाप-पुण्य

१. अन्यायी, पापी व्यक्ति कभी निर्भय और सुख-शान्तिसे नहीं रह सकता यह नियम है। (१। १०)

२. पाप लगनेमें हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत विषमता (पक्षपात), कामना, स्वार्थ, अहंकार है। (२। ३८)

३. परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय होनेपर पाप होना स्वतः रुक जाता है। (३। १३)

४. पाप-कर्म तो बन्धनकारक होते ही हैं, सकामभावसे किये गये पुण्य-कर्म भी (फलजनक होनेसे) बन्धनकारक होते हैं। (३। १३)

५. अपने सुखके लिये कर्म करनेवाले पापका ही भक्षण करते हैं अर्थात् सदा दुःखी ही रहते हैं और दूसरेके हितके लिये कर्म करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् सदाके लिये सुखी हो जाते हैं। (३। १३ परि.)

६. इन्द्रियोंके द्वारा भोगबुद्धिसे भोग भोगनेवाला मनुष्य हिंसारूप पापसे बच ही नहीं सकता। स्वार्थी, अभिमानी और भोग तथा संग्रहको चाहनेवाले मनुष्यके द्वारा दूसरोंका अहित होता है; अतः ऐसे मनुष्यका जीवन पापमय होता है। (३। १६)

७. कामना सम्पूर्ण पापों, तापों, दुःखों, अनर्थों, नरकों आदिकी जड़ है। (३। ३०)

८. भोग और संग्रहकी इच्छा ही समस्त पापोंका मूल है, जिसके न रहनेपर पाप होते ही नहीं। (३। ३६)

९. पापोंमें प्रवृत्तिका मूल कारण है—'काम' अर्थात् सांसारिक सुखभोग और संग्रहकी कामना। (३। ३६)

१०. उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना, प्रियता, आकर्षण ही समस्त पापोंका मूल है। (३। ३७)

११. 'काम' रजोगुणसे पैदा होता है। अतः पापोंका कारण तो रजोगुण है और कार्य तमोगुण है। सभी पाप रजोगुणसे पैदा होते हैं। (३। ३७ परि.)

१२. पुराने पाप उतने बाधक नहीं होते, जितने वर्तमानके पाप बाधक होते हैं। अगर मनुष्य वर्तमानमें पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्त्वज्ञानको

प्राप्त करूँगा, तो उसके पापोंका नाश होते देरी नहीं लगती। (४। ३६)

१३. भगवान्‌से विमुख होकर संसारकी कामना करना ही सब पापोंका मुख्य हेतु है। (५। १०)

१४. असत्‌के सम्बन्धसे ही पाप-पुण्यरूप कल्मष होता है, जिनसे मनुष्य बँधता है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पाप-पुण्य मिट जाते हैं। (५। १७)

१५. अनुकूलताकी इच्छा करना, आशा करना और अनुकूल विषय आदिमें राजी होना—यह सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है। इससे कोई-सा भी अनर्थ, पाप बाकी नहीं रहता। (६। ४)

१६. जिस आसनपर बैठकर ध्यान आदि किया जाय, वह आसन अपना होना चाहिये, दूसरेका नहीं; क्योंकि दूसरेका आसन काममें लिया जाय तो उसमें वैसे ही परमाणु रहते हैं।......इसी तरहसे गोमुखी, माला, सन्ध्याके पञ्चपात्र, आचमनी आदि भी अपने अलग रखने चाहिये। शास्त्रोंमें तो यहाँतक विधान आया है कि दूसरोंके बैठनेका आसन, पहननेकी जूती, खड़ाऊँ, कुर्ता आदिको अपने काममें लेनेसे अपनेको दूसरेके पाप-पुण्यका भागी होना पड़ता है। (६। ११)

१७. अहंता और ममतासे रहित होना ही पापोंसे रहित होना है; क्योंकि संसारके साथ अहंता-ममतापूर्वक सम्बन्ध रखना ही पाप है। (६।२८)

१८. दुनियामें बहुत-से पाप होते रहते हैं, पर वे पाप हमें नहीं लगते; क्योंकि उन पापोंमें हमारी विषम-बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत समबुद्धि रहती है। (६। ३३)

१९. सांसारिक पुण्य तो पापकी अपेक्षासे (द्वन्द्ववाला) है, पर भगवान्‌के सम्बन्ध (सत्संग, भजन आदि)-से होनेवाला पुण्य (योग्यता, सामर्थ्य) विलक्षण है। इसलिये सांसारिक पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में नहीं लगाता, पर भगवत्सम्बन्धी पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में ही लगाता है। यह पुण्य फल देकर नष्ट नहीं होता (गीता २। ४०)। सांसारिक कामनाओंका त्याग करना और भगवान्‌की तरफ लगना—दोनों ही भगवत्सम्बन्धी पुण्य हैं। (६। ४४ परि.)

२०. जो भगवान्‌के सम्मुख है, वह सुकृती है और जो भगवान्‌से विमुख है, वह दुष्कृती है। भगवान्‌के सम्मुख होनेका जैसा माहात्म्य है, वैसा माहात्म्य सकामभावपूर्वक किये गये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्मोंका भी नहीं है। (७। १५)

२१. जो हमारेसे अलग है, उस संसारको अपना मानना सबसे बड़ा दुष्कृत अर्थात् पाप है और जो हमारेसे अभिन्न है, उस भगवान्‌को अपना मानना सबसे बड़ा सुकृत अर्थात् पुण्य है। (७। १६ परि.)

२२. सन्तोंने कहा है कि डेढ़ ही पाप है और डेढ़ ही पुण्य है। भगवान्‌से विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है। ऐसे ही भगवान्‌के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्‌गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। तात्पर्य यह हुआ कि जब मनुष्य भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब उसके पापोंका अन्त हो जाता है। (७। २८)

२३. भगवान्‌का लक्ष्य होनेपर सब पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌का लक्ष्य होनेपर पुराने किसी संस्कारसे पाप हो भी जायगा, तो भी वह रहेगा नहीं; क्योंकि हृदयमें विराजमान भगवान् उस पापको नष्ट कर देते हैं। (७। २८)

२४. वास्तवमें कितने ही पाप क्यों न हों, वे भगवान्‌से विमुख कर ही नहीं सकते; क्योंकि जीव साक्षात् भगवान्‌का अंश है; अतः उसकी शुद्धि पापोंसे आच्छादित भले ही हो जाय, पर मिट

नहीं सकती। (७। २८ वि.)

२५. मनुष्यको कभी भी ऐसा नहीं मानना चाहिये कि पुराने पापोंके कारण मेरेसे भजन नहीं हो रहा है; क्योंकि पुराने पाप केवल प्रतिकूल परिस्थितिरूप फल देनेके लिये होते हैं, भजनमें बाधा देनेके लिये नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति देकर वे पाप नष्ट हो जाते हैं। (७। २८ वि.)

२६. भगवान्‌के सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है; क्योंकि यह सब पुण्योंका मूल है। परन्तु भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह सब पापोंका मूल है। (७। २८ परि.)

२७. जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी गायके काम नहीं आता, प्रत्युत उसके दूधसे निकाला हुआ घी ही उसके काम आता है, ऐसे ही संसारमें परिपूर्ण होनेमात्रसे भगवान्‌के द्वारा लोगोंके पाप नहीं कटते, प्रत्युत जो भगवान्‌के सम्मुख होते हैं, प्रेमपूर्वक उनका भजन करते हैं, उनके ही पाप कटते हैं। (९। २९ परि.)

२८. सात्त्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है। इस दृष्टिसे शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका ही महत्त्व है, पुण्यकर्म-विशेषका नहीं। इसलिये सात्त्विक भावका स्थान बहुत ऊँचा है। (१४। १४)

२९. कोई निन्दा करता है तो उसमें साधकको प्रसन्न होना चाहिये कि इससे मेरे पाप कट रहे हैं, मैं शुद्ध हो रहा हूँ। अगर कोई हमारी प्रशंसा करता है तो उससे हमारे पुण्य नष्ट होते हैं। अतः प्रशंसामें राजी नहीं होना चाहिये; क्योंकि राजी होनेमें खतरा है! (१४। २५)

३०. जो मनुष्य होकर भी दैवी-सम्पत्तिको धारण न करके आसुरी-सम्पत्तिको बनाये रखते हैं, वे मनुष्य कहलानेलायक नहीं हैं। वे पशुओंसे और नारकीय प्राणियोंसे भी गये-बीते हैं।...... पशु आदि इतने पापी नहीं हैं और उनके दर्शनसे पाप भी नहीं लगता, पर आसुर मनुष्योंमें विशेष पाप होते हैं और उनके दर्शनसे पाप लगता है, अपवित्रता आती है। (१६।७)

३१. भोग भोगना 'काम' है। संग्रह करना 'लोभ' है। भोग और संग्रहमें बाधा देनेवालेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों आसुरी-सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं। (१६।२१ परि.)

३२. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनके स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार कर्म करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। पाप लगता है—स्वार्थसे, अभिमानसे और दूसरोंका अनिष्ट सोचनेसे। (१६।२४)

३३. जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं, तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें। (१८। १२ टि.)

३४. जिन पापकर्मोंका फल यहीं कैद, जुर्माना, अपमान, निन्दा आदिके रूपमें भोग लिया गया है, उन पापोंका फल मरनेके बाद भोगना नहीं पड़ेगा।.........उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। (१८।१२ टि.)

३५. पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त हो सकता है; परन्तु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किये हुए कर्म भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकते हैं? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे कर सकता है? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये

हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। (१८।१२ वि.)

३६. यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है। (१८।१२ वि.)

३७. पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। हाँ, अगर मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे (प्रायश्चित्त-रूपसे) शुभकर्म करता है, तो उसके पाप कट सकते हैं। (१८।१२ वि.)

३८. अभी पुण्यात्मा जो दु:ख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं। (१८। १२ वि.)

३९. पाप लगनेमें हेतु अहंता और बुद्धिकी लिप्तता है। (१८। १७ परि.)

४०. पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। अत: पाप कर्मोंसे नहीं लगता, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है। (१८। ४७ परि.)

४१. दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्देश्य न होकर सेवाका उद्देश्य हो तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसको दोष नहीं लगता, प्रत्युत नि:स्वार्थभाव और हितकी दृष्टि होनेसे पुण्य होता है। (१८। ४८ परि.)

४२. प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके सम्बन्धको लेकर ही पाप-पुण्य होते हैं और उनका फल सुख-दु:ख भी भोगना पड़ता है। (१८। ५८)

***

प्रेम

१. साधक जिसको अपना मान लेता है, उसमें उसकी प्रियता स्वत: हो जाती है। परन्तु वास्तविक अपनापन उस वस्तुमें होता है, जिसमें ये चार बातें हों—१. जिससे हमारी सधर्मता अर्थात् स्वरूपगत एकता हो। २. जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला हो। ३. जिससे हम कभी कुछ न चाहें। ४. हमारे पास जो कुछ है, वह सब जिसको समर्पित कर दें। ये चारों बातें भगवान्‌में ही लग सकती हैं। (२। ३० परि.)

२. संसारके किसी एक विषयमें 'राग' होनेसे दूसरे विषयमें द्वेष होता है, पर भगवान्‌में 'प्रेम' होनेसे संसारसे वैराग्य होता है। (३। ३४)

३. शुद्ध स्वरूपमें अपने अंशी परमात्माकी ओर स्वत: एक आकर्षण या रुचि विद्यमान रहती है, जिसको 'प्रेम' कहते हैं। जब वह संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह 'प्रेम' दब जाता है और 'काम' उत्पन्न हो जाता है। जबतक 'काम' रहता है, तबतक 'प्रेम' जाग्रत् नहीं होता। जबतक 'प्रेम' जाग्रत् नहीं होता, तबतक 'काम' का सर्वथा नाश नहीं होता। (३। ४२ मा.)

४. अहंकाररहित होकर नि:स्वार्थभावसे कहीं भी प्रेम किया जाय, तो वह प्रेम स्वत: प्रेममय भगवान्‌की तरफ चला जाता है। कारण कि अपना अहंकार और स्वार्थ ही भगवत्प्रेममें बाधा लगाता है। इन दोनोंके कारण मनुष्यका प्रेमभाव सीमित हो जाता है और इनका त्याग करनेपर उसका प्रेमभाव व्यापक हो जाता है। (४। ११ वि.)

५. जो अन्तरात्मासे भगवान्‌में लग जाता है, भगवान्‌के साथ ही अपनापन कर लेता है, उसमें भगवत्प्रेम प्रकट हो जाता है। वह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है तथा सापेक्ष वृद्धि, क्षति और पूर्तिसे रहित है। (६। ४७)

६. एकमात्र प्रेम ही ऐसी चीज है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता। प्रेमका भेद नहीं कर सकते। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। ज्ञानमें तत्त्वभेद तो नहीं रहता, पर मतभेद रहता है। प्रेममें मतभेद भी नहीं रहता। अत: प्रेमसे आगे कुछ भी नहीं है। प्रेमसे त्रिलोकीनाथ भगवान् भी वशमें हो जाते हैं। (७। १० परि.टि.)

७. सन्तोंकी वाणीमें आता है कि प्रेम तो केवल भगवान् ही करते हैं, भक्त केवल भगवान्‌में अपनापन करता है। कारण कि प्रेम वही करता है, जिसे कभी किसीसे कुछ भी लेना नहीं है। भगवान्‌ने जीवमात्रके प्रति अपने-आपको सर्वथा अर्पित कर रखा है और जीवसे कभी कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छाकी कोई सम्भावना ही नहीं रखी है। इसलिये भगवान् ही वास्तवमें प्रेम करते हैं। जीवको भगवान्‌की आवश्यकता है, इसलिये जीव भगवान्‌से अपनापन ही करता है। (७। १६)

८. जब भक्त सर्वथा निष्काम हो जाता है अर्थात् उसमें लौकिक-पारलौकिक किसी तरहकी भी इच्छा नहीं रहती, तब उसमें स्वत:सिद्ध प्रेम पूर्णरूपसे जाग्रत् हो जाता है। (७। १७)

९. प्रेम कभी समाप्त भी नहीं होता; क्योंकि वह अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमानका तात्पर्य है कि प्रेममें प्रतिक्षण अलौकिक विलक्षणताका अनुभव होता रहता है अर्थात् इधर पहले दृष्टि गयी ही नहीं, इधर हमारा खयाल गया ही नहीं, अभी दृष्टि गयी—इस तरह प्रतिक्षण भाव और अनुभव होता रहता है। (७। १७)

१०. **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर फिर भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रेम-ही-प्रेम शेष रहता है। इसीको शास्त्रोंमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम, अनन्तरस आदि नामोंसे कहा गया है। (७। १७ परि.)

११. प्रेममें प्रेमी अपने-आपको प्रेमास्पदपर न्योछावर कर देता है अर्थात् प्रेमी अपनी अलग सत्ता नहीं मानता। ऐसे ही प्रेमास्पद भी स्वयं प्रेमीपर न्योछावर हो जाते हैं। (७। १८)

१२. ज्ञानमार्गका जो अद्वैतभाव है, वह नित्य-निरन्तर अखण्डरूपसे शान्त, सम रहता है। परन्तु प्रेमका जो अद्वैतभाव है, वह एक-दूसरेकी अभिन्नताका अनुभव कराता हुआ प्रतिक्षण वर्धमान रहता है। प्रेमका अद्वैतभाव एक होते हुए भी दो है और दो होते हुए भी एक है। इसलिये प्रेम-तत्त्व अनिर्वचनीय है। (७। १८)

१३. प्रेमीका प्रेमास्पदकी तरफ और प्रेमास्पदका प्रेमीकी तरफ प्रेमका एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है। उनका नित्ययोगमें वियोग और वियोगमें नित्ययोग—इस प्रकार प्रेमकी एक विलक्षण लीला अनन्तरूपसे अनन्तकालतक चलती रहती है। उसमें कौन प्रेमास्पद है और कौन प्रेमी है—इसका खयाल नहीं रहता। वहाँ दोनों ही प्रेमास्पद हैं और दोनों ही प्रेमी हैं। (७। १८)

१४. प्रेमी भक्तकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहे अर्थात् प्रेमीके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं—**'तस्मिंतज्जने भेदाभावात्'** (नारद ४१)। (७। १८ परि.)

१५. उस (महात्मा भक्त)-का भगवान्‌के साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है, जिससे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति (जागृति) हो जाती है। इस प्रेमकी जागृतिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है। (७।

३० अ. सा.)

१६. भगवान् ही मेरे हैं और मेरे लिये हैं—इस प्रकार भगवान्में अपनापन होनेसे स्वतः भगवान्में प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसका स्मरण अपने-आप और नित्य-निरन्तर होता है। (८। १४ परि.)

१७. जैसे लोभी व्यक्तिको जितना धन मिलता है, उतना ही उसको थोड़ा मालूम देता है और उसकी धनकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, ऐसे ही अपने अंशी भगवान्को पहचान लेनेपर भक्तमें प्रेमकी भूख बढ़ती रहती है, उसको प्रतिक्षण वर्धमान, असीम, अगाध, अनन्त प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम भक्तिकी अन्तिम सिद्धि है। इसके समान दूसरी कोई सिद्धि है ही नहीं। (८। १५)

१८. सबसे विलक्षण शक्ति भगवत्प्रेममें है। परन्तु मुक्ति (स्वाधीनता)-में सन्तोष करनेसे वह प्रेम प्रकट नहीं होता। जड़ताके सम्बन्धसे ही परवशता होती है और मुक्त होनेपर वह परवशता सर्वथा मिट जाती है और जीव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु प्रेम इस स्वाधीनतासे भी विलक्षण है। स्वाधीनता (मुक्ति)-में अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है। (८। १९ परि.)

१९. 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, तथा मैं अन्य किसीका भी नहीं हूँ और अन्य कोई भी मेरा नहीं है।' ऐसा होनेसे भगवान्में अतिशय प्रेम हो जाता है; क्योंकि जो अपना होता है, वह स्वतः प्रिय लगता है। प्रेमकी जागृतिमें अपनापन ही मुख्य है। (११। ५५)

२०. एकमात्र भगवान्में प्रेम होनेसे भक्तको भगवान्के साथ नित्य-निरन्तर सम्बन्धका अनुभव होता है, कभी वियोगका अनुभव होता ही नहीं। इसीलिये भगवान्के मतमें ऐसे भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता हैं। (१२। २)

२१. प्रेम (भक्ति) ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञान भगवान्तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्तक पहुँचता है। ज्ञानका अनुभव करनेवाला तो स्वयं होता है, पर प्रेमका अनुभव करनेवाले और ज्ञाता भगवान् होते हैं! भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। मुक्त होनेपर तो ज्ञानयोगी सन्तुष्ट, तृप्त हो जाता है (गीता ३।१७), पर प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अतः आखिरी तत्त्व प्रेम है, मुक्ति नहीं। (१२। २ परि.)

२२. ज्ञानमें परमात्मासे दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर अभिन्नता (मिलन) नहीं होती। परन्तु प्रेममें दूरी, भेद और अभिन्नता—तीनों ही मिट जाते हैं। इसलिये वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। (१२। २ परि.)

२३. प्रेममें इतनी शक्ति है कि इसमें भक्त भगवान्का भी इष्ट हो जाता है। (१२। २ परि.)

२४. प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है! (१२। २ परि.)

२५. मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। (१५। ४ परि.)

२६. जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता।१८। ५४)। (१५।४ परि.)

२७. मात्र जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये मात्र जीवोंकी अन्तिम इच्छा प्रेमकी ही है। प्रेमकी इच्छा

सार्वभौम इच्छा है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यजन्म पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता। (१५।७ परि.)

२८. परमात्माको अपना माननेके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंसे नहीं मिलता, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे मिलता है। (१५।२० अ. सा.)

२९. जब साधक भक्तका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, तब उसको भगवान् प्राणोंसे भी प्यारे लगते हैं। प्राणोंका मोह न रहनेसे उसके प्राणोंका आधार केवल भगवान् हो जाते हैं। (१६। ३)

३०. विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त त्याग नहीं करता, प्रत्युत सबको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। (१८। ५४ परि.)

३१. प्रेमकी प्राप्ति विवेकसाध्य नहीं है, प्रत्युत विश्वाससाध्य है। विश्वासमें केवल भगवत्कृपाका ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं। उसको भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)-को फीका करके प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है। (१८। ५४ परि.)

३२. भगवान्‌में रति या प्रियता प्रकट होती है—अपनेपनसे। परमात्माके साथ जीवका अनादिकालसे स्वत:सिद्ध सम्बन्ध है। अपनी चीज स्वत: प्रिय लगती है। अत: अपनापन प्रकट होते ही भगवान् स्वत: प्यारे लगते हैं। प्रियतामें कभी समाप्त न होनेवाला अलौकिक, विलक्षण आनन्द है। वह आनन्द प्राप्त होनेपर मनुष्यमें स्वत: निर्विकारता आ जाती है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि कोई भी विकार पैदा हो ही नहीं सकता। (१८। ५५ टि.)

३३. प्रेमकी दो अवस्थाएँ होती हैं—१. कभी भक्त प्रेममें डूब जाता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं और २. कभी भक्तमें प्रेमका उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी लीलाके लिये दो हो जाते हैं। (१८। ५५ परि.)

३४. प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। (१८। ५७ वि.)

३५. भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारके सम्बन्धसे ही आती है। इसलिये भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी। (१८। ५७ वि.)

३६. योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। (१८। ५७ टि.)

३७. प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। अत: एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है। (१८। ५७ वि.)

३८. प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं। (१८। ५७ वि.)

३९. विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्धमान है। (१८। ६६ वि.)

❋❋❋

बन्धन

१. शरीरके साथ सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन है, मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। (२। ३० परि.)

२. सांसारिक किसी कार्यमें राग होना और किसी कार्यमें द्वेष होना ही विषमता है, और इसी विषमतासे जन्म-मरणरूप बन्धन होता है। (२। ४०)

३. अपने सुखके लिये किया गया कर्म तो बन्धनकारक है ही, अपने व्यक्तिगत हितके लिये किया गया कर्म भी बन्धनकारक है। केवल अपने हितकी तरफ दृष्टि रखनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। (३। ९)

४. बन्धन भावसे होता है, क्रियासे नहीं। मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत कर्मोंमें वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही वह बँधता है। (३। ९)

५. लेनेका भाव ही बाँधनेवाला है। (३। १०-११)

६. शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी पदार्थ हमें संसारसे मिले हैं। ये कभी अपने नहीं हैं और अपने होंगे भी नहीं। अतः इनको अपना और अपने लिये मानकर इनसे सुख भोगना ही बन्धन है। (३। १२)

७. किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है। (३। १२)

८. ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनासे ही बन्धन होता है। (३। १३)

९. पाप-कर्म तो बन्धनकारक होते ही हैं, सकामभावसे किये गये पुण्य-कर्म भी (फलजनक होनेसे) बन्धनकारक होते हैं। (३। १३)

१०. अपने लिये कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही मनुष्य बँधता है। (३।१७)

११. कोई भी पदार्थ या क्रिया बन्धनकारक नहीं, उनका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। (३। २६ वि.)

१२. शास्त्रीय दृष्टिसे तो इस बन्धनका मुख्य कारण 'अज्ञान' है, पर साधककी दृष्टिसे 'राग' ही मुख्य कारण है। (३। २८)

१३. संसारमात्र परमात्माका है; परन्तु जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड़ जाता है। (३।३०)

१४. तादात्म्य-अहंता (अपनेको शरीर मानना), ममता (शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना) और कामना (अमुक वस्तु मिल जाय-ऐसा भाव)—इन तीनोंसे ही जीव संसारमें बँधता है। (३। ३७ वि.)

१५. पाप तो फल भुगताकर नष्ट हो जाते हैं, पर 'अहम्' से कामना दूर हुए बिना नये-नये पाप होते रहते हैं। इसलिये कामना ही जीवको बाँधनेवाली है। (३। ४०)

१६. विनाशी पदार्थोंकी कामना ही बन्धनका कारण है—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)।

अत: मनमें कामना-वासना रखकर परिश्रमपूर्वक बड़े-बड़े यज्ञ करनेपर भी जन्म-मरणका बन्धन बना रहता है। (४। २९-३०)

१७. संसारमें असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु जिन क्रियाओंसे मनुष्य अपना सम्बन्ध सम्बन्ध जोड़ता है, उन्हींसे वह बँधता है। संसारमें कहीं भी कोई क्रिया (घटना) हो, जब मनुष्य उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है—उसमें राजी या नाराज होता है, तब वह उस क्रियासे बँध जाता है। (४। ३२)

१८. कर्म स्वरूपसे बन्धनकारक हैं ही नहीं। कर्मोंमें फलेच्छा, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान ही बाँधनेवाला है। (४। ४१)

१९. संसारमें रात-दिन अनेक कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंमें राग-द्वेष न होनेसे हम संसारके उन कर्मोंसे बँधते नहीं, प्रत्युत निर्लिप्त रहते हैं। जिन कर्मोंमें हमारा राग या द्वेष हो जाता है, उन्हीं कर्मोंसे हम बँधते हैं। (४। ४२)

२०. मनुष्यमें भूख तो अविनाशी तत्त्वकी रहती है, पर रुचि नाशवान्‌की रहती है; क्योंकि अविनाशीकी भूखको वह नाशवान्‌के द्वारा मिटाना चाहता है। भूख और रुचिका यह द्वन्द्व मनुष्यके संसार-बन्धनको दृढ़ करता है। (५। ३ परि.)

२१. कर्मोंके बन्धनमें हेतु हैं—कर्मोंके प्रति ममता, कर्मोंके फलकी इच्छा, कर्मजन्य सुखकी इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान। सारांशमें कर्मोंसे कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा ही बन्धनमें कारण है। (५। ७)

२२. जड़ वस्तुओंसे सम्बन्ध मानना, उनकी आवश्यकता समझना, उनका सहारा लेना ही खास बन्धन है। (६। ५)

२३. स्वयंने ही अपना पतन किया है अर्थात् इसने ही संसारको पकड़ा है, संसारने इसको नहीं पकड़ा है। (६। ५)

२४. उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका जो लक्ष्य है, वही खास बन्धनकारक है। (६। १०)

२५. समबुद्धिपूर्वक सांसारिक काम करनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। (६। ३३)

२६. मनुष्यको व्यष्टि प्रकृति-शरीरसे ही बन्धन होता है, समष्टि प्रकृतिसे नहीं। कारण कि मनुष्य व्यष्टि शरीरके साथ अपनापन कर लेता है, जिससे बन्धन होता है। (७। ४-५)

२७. वास्तवमें मूल प्रकृति कभी किसीकी बाधक या साधक (सहायक) नहीं होती। जब साधक उससे अपना सम्बन्ध नहीं मानता, तब तो वह सहायक हो जाती है, पर जब वह उससे अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बाधक हो जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे व्यष्टि अहंता (मैं-पन) पैदा होती है। यह अहंता ही बन्धनका कारण होती है। (७। ४-५)

२८. जीव संसारसे नहीं, प्रत्युत संसारसे माने हुए सम्बन्धसे ही बँधता है।...... संसारसे माना हुआ सम्बन्ध सुखासक्तिपर ही टिका हुआ है। (७। ४-५)

२९. जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। (७।४-५परि.)

३०. जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। जीव जगत्‌को

धारण करता है, इसीसे सुख-दु:ख होते हैं, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाच, देवता आदि योनियाँ तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। (७। ४-५ परि.)

३१. गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। जीव स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दु:खी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। (७। ४-५ परि.)

३२. यह मनुष्य प्रभुकी दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही बन्धनमें पड़ा है। (७। १३)

३३. गुण प्रकृतिके कार्य हैं और वे गुण ही जीवको बाँधते हैं, स्वयं प्रकृति नहीं। (७। १४ टि.)

३४. शास्त्रोंकी दृष्टिसे तो जन्म-मरणका कारण अज्ञान है; परन्तु सन्तवाणीको देखा जाय तो जन्म-मरणका खास कारण रागके कारण प्राप्त परिस्थितिका दुरुपयोग है। (७। २७)

३५. जब मनुष्य 'मैं' और 'मेरा'-पनसे मुक्त हो जायगा, तब वह जरा, मरण आदिसे भी मुक्त हो जायगा; क्योंकि शरीरके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही वास्तवमें जन्मका कारण है। (७। २९)

३६. जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़नेवाले पुरुष आसुरी-सम्पत्तिवाले होते हैं; क्योंकि आसुरी-सम्पत्तिसे ही बन्धन होता है—'**निबन्धायासुरी मता।**' (८। १६ वि.)

३७. जैसे अशुभ-कर्म बन्धनकारक हैं, ऐसे ही शुभ-कर्म भी बन्धनकारक हैं। जैसे, बेड़ी लोहेकी हो चाहे सानेकी, पर बन्धन दोनोंसे ही होता है। शुभ-कर्म भी जन्मारम्भक होनेसे बन्धनकारक होता है और अशुभ-कर्म तो जबर्दस्ती बाँधनेवाला होता ही है। (९। २८ टि.)

३८. जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे सिवाय बन्धनके कुछ नहीं होता। अपना माननेसे वस्तु तो रहती नहीं, केवल बन्धन रह जाता है। (९। २८ परि.)

३९. जीव पदार्थों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्ता बन जाता है। भोक्ता बननेसे पदार्थ बन्धनकारक हो जाते हैं और कर्ता बनसे क्रियाएँ बन्धनकारक हो जाती हैं। अगर जीव कर्ता और भोक्ता न बने तो बन्धन है ही नहीं। (१०।८ परि.)

४०. संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। (१०। ४० परि.)

४१. मनुष्यको जिस-जिसमें विशेषता मालूम दे, उस-उसमें भगवान्‌की ही विशेषता मानते हुए भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये। अगर भगवान्‌को छोड़कर दूसरे वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता दीखती है, तो यह पतनका कारण है। (१०। ४१)

४२. कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे; क्योंकि ममता, आसक्ति और फलेच्छासे किये गये कर्म ही बाँधनेवाले होते हैं। (१२। ६)

४३. संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियोंका होना ही संसारमें बँधना है। (१२। ७)

४४. जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है और मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक (परमात्मामें स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी) अपनी स्थिति संसारमें ही समझनी चाहिये। संसारमें स्थिति अर्थात् संसारका संग रहनेसे ही संसारचक्रमें घूमना पड़ता है। (१२। ८)

४५. त्यागके अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदिके फलका त्याग भी समझना चाहिये। कारण कि जबतक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तबतक व्यक्तित्व बना रहनेसे

बन्धन बना रहता है। अतः अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही है। (१२। १२)

४६. मनुष्यको सांसारिक आसक्ति ही बाँधनेवाली है, न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे सम्बन्ध। (१२। १८-१९)

४७. नाशवान् शरीरके साथ तादात्म्य करना ही अपनी हत्या करना है, अपना पतन करना है, अपने-आपको जन्म-मरणमें ले जाना है। (१३। २८)

४८. गुणोंके कार्य पदार्थ, धन, परिवार, शरीर, स्वभाव, वृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, क्रियाएँ आदिको अपना मान लेनेसे यह जीव स्वयं अविनाशी होता हुआ भी बँध जाता है। (१४। ५)

४९. वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है (गीता १४। २१)। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, जीवन्मुक्त हो सकता ही नहीं। (१४। ५ परि.)

५०. रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाँधते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्य कर्मोंकी आसक्ति और फलेच्छासे ही बँधता है, कर्मोंको करनेमात्रसे नहीं। राग न रहनेपर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बँधता (४। १९)। (१४। ७ टि.)

५१. तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं प्रकृति और उसके कार्य गुणोंसे सर्वथा रहित है। गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वह स्वयं निर्लिप्त, गुणातीत होता हुआ भी गुणोंके द्वारा बँध जाता है। अतः अपने वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य रखनेसे ही साधक गुणोंके बन्धनसे छूट सकता है। (१४। ८ वि.)

५२. 'मैं सुखी हूँ'—यह सुखका संग है और 'मैं अच्छे कर्म करनेवाला हूँ', 'मेरे कर्म बड़े अच्छे हैं'—यह कर्मका संग है। संग करनेसे अर्थात् अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही मनुष्य बँधता है। (१४। ९ परि.)

५३. रजोगुणमें 'राग'-अंश ही बाँधनेवाला, जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'-अंश नहीं। (१४। १५ परि.)

५४. जब कामनाओंसे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संचित होकर भावी जन्म-मरणके कारण बन जाते हैं। (१५। २)

५५. यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहींसे छुटकारा होता है; जैसे—रस्सीकी गाँठ जहाँ लगी है, वहींसे वह खुलती है। मनुष्ययोनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है; अतः मनुष्ययोनिमें ही वह मुक्त हो सकता है। (१५। २)

५६. वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। (१५। ३ परि.)

५७. जीव (चेतन)-ने भगवत्प्रदत्त विवेकका अनादर करके शरीर (जड़)- को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया अर्थात् शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लिया। जीवके बन्धनका कारण यह माना हुआ सम्बन्ध ही है। (१५। ११)

५८. जिसने प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध जोड़ा हुआ है, वह शुभ-कर्म करके ब्रह्मलोकतक भी चला जाय तो भी वह बन्धनमें ही रहेगा। (१६। ५)

५९. जहाँ विवेक रहता है, वहाँ पुरुषने विवेककी उपेक्षा करके प्रकृतिसे सम्बन्धकी सद्भावना कर

ली अर्थात् सम्बन्धको सत्य मान लिया। सम्बन्धको सत्य माननेसे ही बन्धन हुआ है। (१८। ११ मा.)

६०. जो बाहरसे तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम-से-उत्तम कार्य करता है; परन्तु भीतरसे असत्, जड़, नाशवान् पदार्थोंको और स्वर्ग आदि लोकोंको चाहता है, उसके लिये वे सभी कर्म **'बन्ध'** अर्थात् बन्धनकारक ही हैं। (१८। ३०)

६१. कामना, आसक्ति, स्वार्थ, अभिमान आदिसे ही बन्धन होता है और पाप भी इन कामना आदिके कारणसे ही होते हैं। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ सहज कर्मोंको करना चाहिये, तभी बन्धन छूटेगा। (१८। ४८)

६२. अपरा प्रकृति भगवान्की है। परन्तु हमने गलती यह की है कि अपराके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया अर्थात् उसको अपना और अपने लिये मान लिया। यह सम्बन्ध हमने ही जोड़ा है और इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर ही है। अपराके साथ सम्बन्ध माननेसे ही भगवान्के नित्य-सम्बन्धकी विस्मृति हुई है और हम बन्धनमें पड़े हैं। (१८। ७३ परि.)

***

बल

१. जिसके भीतर नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय है, आदर है और जिसके भीतर अधर्म है, अन्याय है, दुर्भाव है, उसके भीतर वास्तविक बल नहीं होता। वह भीतरसे खोखला होता है और वह कभी निर्भय नहीं होता। परन्तु जिसके भीतर अपने धर्मका पालन है और भगवान्का आश्रय है, वह कभी भयभीत नहीं होता। उसका बल सच्चा होता है। (१। १०)

२. जिसकी दृष्टि भगवान्पर होती है, उसका हृदय बलवान् होता है; क्योंकि भगवान्का बल सच्चा है। परन्तु जिसकी दृष्टि सांसारिक वैभवपर होती है, उसका हृदय कमजोर होता है; क्योंकि संसारका बल कच्चा है। (१। १० परि.)

३. जो स्थिर परमात्मतत्त्व है, उसीसे अपार सामर्थ्य आती है। कारण कि वह निर्विकार परमात्मतत्त्व महान् सामर्थ्यशाली है। उसके समान सामर्थ्य किसीमें हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। मनुष्यमें आंशिकरूपसे वह सामर्थ्य निष्काम होनेसे आती है। कारण कि कामना होनेसे शक्तिका क्षय होता है और निष्काम होनेसे शक्तिका संचय होता है। (१०। ७)

४. प्रकृतिके सम्बन्धसे शक्ति क्षीण होती है और उससे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर महान् शक्ति आ जाती है। (१०। ७)

***

बुराई

१. जो बुराई बुराईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा सुगम होता है। परन्तु जो बुराई अच्छाईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा कठिन होता है; जैसे—सीताजीके सामने रावण और हनुमान्जीके सामने कालनेमि राक्षस आये तो उनको सीताजी और हनुमान्जी पहचान नहीं सके; क्योंकि उन दोनोंका वेश साधुओंका था। (२। ५)

२. आजकल समाजमें एकताके बहाने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाको मिटानेकी कोशिश की जा रही है, तो यह बुराई एकतारूप अच्छाईके वेशमें आनेसे बुराईरूपसे नहीं दीख रही है। अत: वर्ण-आश्रमकी मर्यादा मिटनेसे परिणाममें लोगोंका कितना पतन होगा, लोगोंमें कितना आसुरभाव आयेगा—इस तरफ दृष्टि ही नहीं जाती। (२।५)

३. हम दूसरेका भला करेंगे तो दूसरा हमारा बुरा कर सकेगा ही नहीं। उसमें हमारा बुरा करनेकी सामर्थ्य ही नहीं रहेगी। अगर वह बुरा करेगा भी तो पीछे पछतायेगा, रोयेगा। अगर वह हमारा बुरा करेगा तो हमारा भला करनेवाले, हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले कई पैदा हो जायँगे। (३। ११ परि.)

४. अपने सुखके लिये कुछ चाहनेसे ही बुराई होती है। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, वह बुराईरहित हो जाता है। (३। ३७ परि.)

५. प्राणिमात्रके हितके उद्देश्यसे कर्मयोगीके लिये बुराईका त्याग करना जितना आवश्यक है, उतना भलाई करना आवश्यक नहीं है। भलाई करनेसे केवल समाजका हित होता है; परन्तु बुराईरहित होनेसे विश्वमात्रका हित होता है। (५। ३)

६. वास्तवमें बुराईका त्याग होनेपर विश्वमात्रकी भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पड़ती। इसलिये बुराईरहित महापुरुष अगर हिमालयकी एकान्त गुफामें भी बैठा हो, तो भी उसके द्वारा विश्वका बहुत हित होता है। (५। ३ मा.)

७. बुराईरहित होनेका उपाय है—१. किसीको बुरा न मानें, २. किसीका बुरा न करें, ३. किसीका बुरा न सोचें, ४. किसीमें बुराई न देखें, ५. किसीकी बुराई न सुनें, ६. किसीकी बुराई न कहें। इन छ: बातोंका दृढ़तासे पालन करें तो हम बुराईरहित हो जायँगे। (६। ९ वि.)

८. बुराईरहित होते ही हमारेमें स्वत:-स्वाभाविक अच्छाई आ जायगी; क्योंकि अच्छाई हमारा स्वरूप है। (६। ९ वि.)

९. बुराईका सर्वथा त्याग किये बिना आंशिक अच्छाई बुराईको बल देती रहती है। कारण कि आंशिक अच्छाईसे अच्छाईका अभिमान होता है और जितनी बुराई है, वह सब-की-सब अच्छाईके अभिमानपर ही अवलम्बित है। (६। ९ वि.)

१०. बुराईरहित होनेसे मनुष्य संसारके लिये उपयोगी हो जाता है। शरीर-संसारसे असंग होनेसे अपने लिये उपयोगी हो जाता है। भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। (१५। ७ परि.)

***

भक्त

१. सच्चे भक्त वैभवकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌का भजन नहीं करते। वे वैभवको नहीं चाहते, अपितु भगवान्‌को ही चाहते हैं। (४।३)

२. भक्तलोग प्रतिकूलता (दु:खदायी परिस्थिति)-में विशेष प्रसन्न होते हैं; क्योंकि प्रतिकूलतासे जितना आध्यात्मिक लाभ होता है, उतना किसी दूसरे साधनसे नहीं होता। वास्तवमें भक्ति भी प्रतिकूलतामें ही बढ़ती है। सांसारिक राग, आसक्तिसे ही पतन होता है और प्रतिकूलतासे वह राग टूटता

है। (४।८)

३. सम्पूर्ण प्राणियोंके परम सुहृद् होनेसे भगवान्‌का कोई वैरी नहीं है; परन्तु जो मनुष्य भक्तोंका अपराध करता है, वह भगवान्‌का वैरी होता है। (४।८)

४. पापका विनाश भक्त करते हैं और पापीका विनाश भगवान् करते हैं। (४।८)

५. भक्त भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जाता है तो भगवान् भी भक्तके बिना व्याकुल हो जाते हैं। (४।११)

६. भगवान् विशेषरूपसे भक्तोंके लिये ही अवतार लेते हैं......भक्तलोग जिस भावसे, जिस रूपमें भगवान्‌की सेवा करना चाहते हैं, भगवान्‌को उनके लिये उसी रूपमें आना पड़ता है। (४।११)

७. भगवान्‌के सम्मुख होकर भक्तियोगी संसारमें रहकर सम्पूर्ण भगवदर्थ कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता। (५।१०)

८. जो किसीको भी अपना मानता है, वह वास्तवमें भगवान्‌को सर्वथा अपना नहीं मानता, कहनेको चाहे कहता रहे कि भगवान् मेरे हैं। (५।२९)

९. भगवान्‌का भक्त इस बातको जानता है कि यह सब संसार वासुदेवरूप है। अत: वह भक्त हरदम भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही बर्ताव करता है। (६।३१)

१०. कर्मयोगी, ज्ञानयोगी भी अन्तमें समय पाकर अहंकारसे रहित हो जाते हैं। परन्तु भक्तियोगी तो आरम्भसे ही भगवान्‌का हो जाता है। अत: उसका अहंकार आरम्भमें ही समाप्त हो जाता है। (६।४७ वि.)

११. युक्ततम भक्त कभी योगभ्रष्ट हो ही नहीं सकता। कारण कि उसका मन भगवान्‌को नहीं छोड़ता, तो भगवान् भी उसको नहीं छोड़ सकते। अन्तसमयमें वह पीड़ा, बेहोशी आदिके कारण भगवान्‌को याद न कर सके, तो भगवान् उसको याद करते हैं; अत: वह योगभ्रष्ट हो ही कैसे सकता है? (६।४७)

१२. जो संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, जिसको अपने बलका, उद्योगका, साधनका सहारा, विश्वास और अभिमान नहीं है, ऐसे भक्तको भगवान् योगभ्रष्ट नहीं होने देते; क्योंकि वह भगवान्‌पर ही निर्भर होता है। (६।४७)

१३. कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। (६।४७ परि.)

१४. भक्तोंको जैसे भगवान्‌की याद आती है तो वे उसमें तल्लीन हो जाते हैं—मस्त हो जाते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के सामने भक्तोंका विशेष प्रसंग आता है तो भगवान् उसमें मस्त हो जाते हैं। (७।१ अव.)

१५. भगवान् अपने भक्तकी बात कहते-कहते अघाते नहीं हैं और कहते हैं कि ज्ञानमार्गसे चलनेवाला तो मेरेको जान सकता है और प्राप्त कर सकता है; परन्तु भक्तिसे तो मेरा भक्त समग्ररूपको जान सकता है और इष्टका अर्थात् जिस रूपसे मेरी उपासना करता है, उस रूपका दर्शन भी कर सकता है। (७।१)

१६. जिसका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंच गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने स्वत:सिद्ध नित्ययोग (आत्मीय सम्बन्ध)-को

स्वीकार कर लिया है, वह भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। (७।१ परि.)

१७. कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं (गीता ७। १९)। (७। ३ परि.)

१८. मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्‌की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें सन्तुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं। (७। ३ परि.)

१९. यद्यपि निजानन्दकी प्राप्ति होनेपर साधकमें कोई कमी नहीं रहती, फिर भी जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌की कृपाका आश्रय है, उसको निजानन्दमें सन्तोष नहीं होता। उसके भीतर 'अनन्त आनन्द' की भूख रहती है। अतः भक्तियोगसे 'अनन्त आनन्द' की प्राप्ति होती है। (७।३ परि.)

२०. तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको समग्रका ज्ञान होता है (गीता ७।२९-३०)। (७।१६ परि.)

२१. भगवान्‌ने अपने प्रेमी भक्तको 'ज्ञानी' नामसे इसलिये कहा है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यही वास्तविक और अन्तिम ज्ञान है, इससे आगे कुछ नहीं है। इसलिये ऐसा अनुभव करनेवाला प्रेमी भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है (गीता ७।१९)। कारण कि ऐसे भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, जबकि विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सत् और असत्—दो सत्ता रहती है। (७।१७ परि.)

२२. गीतामें भगवान्‌ने मुख्य रूपसे भक्तको ही 'ज्ञानी' कहा है (७। १६—१८); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। (७।१७ परि.)

२३. एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि मनुष्यका किसी भी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाय तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह मूलमें भगवान्‌का ही अंश है। (७।१८ परि.)

२४. दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। श्रद्धा-विश्वास (भक्ति)-की दृष्टिसे देखें तो सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भक्तकी दृष्टि भगवान्‌को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसकी दृष्टिमें आता ही नहीं। (७।१९ परि.)

२५. भगवान्‌की उपासना करनेवालोंकी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ, यह नियम नहीं है। भगवान् उचित समझें तो पूरी कर भी दें और न भी करें अर्थात् उनका हित होता हो तो पूरी कर देते हैं और अहित होता हो तो कितना ही पुकारनेपर तथा रोनेपर भी पूरी नहीं करते। (७।२३)

२६. संसारको भगवान्‌का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती (जो वास्तवमें है ही नहीं), प्रत्युत भगवान् ही रह जाते हैं (जो वास्तवमें हैं)। अत: संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्‌की ही है (गीता ७। ४)। (७। २७ परि.)

२७. यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, पर भक्त जरा-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो आरम्भसे ही अपने साधनकी निष्ठा होती है (गीता ३।३), पर भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवत्परायण होता है। भगवन्निष्ठ होनेसे भगवान् कृपा करके उसको अपने समग्ररूपका ज्ञान करा देते हैं। (७। ३० परि.)

२८. कर्मयोगी तो कर्मयोगको ही जानता है और ज्ञानयोगी ज्ञानयोगको ही जानता है, पर भक्त भगवत्कृपासे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको ही जान लेता है।.......मेरा (भगवान्‌का) आश्रय लेनेसे भक्तको कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् वे दोनोंके फल (लक्ष्य)-रूप ब्रह्मको भी जान लेते हैं—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' और मेरे समग्ररूपको भी जान लेते हैं—'**मां ते विदुः।**' (७। ३० परि.)

२९. भक्तोंकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जायगा? क्यों जायगा? कैसे जायगा? उनके मनमें कुछ भी चिन्तन होगा तो भगवान्‌का ही चिन्तन होगा, फिर उनका मन विचलित कैसे होगा और मनके विचलित हुए बिना वह योगभ्रष्ट कैसे होगा? (७। ३० परि.)

३०. शरणागत भक्तोंमें भी जो 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाता है, वह महात्मा भक्त मुक्त पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ होनेके कारण अत्यन्त दुर्लभ है। वह महात्मा भक्त भगवान्‌की कृपासे परा-अपरासहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसके सिवाय अन्य चीज कोई है ही नहीं। (७। ३० अ.सा.)

३१. संसारी मनुष्य तो अपरामें आकृष्ट रहते हैं, पर जो अपराको छोड़कर भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। संसारी मनुष्य शरीर-संसारमें आसक्त होनेसे 'विभक्त' अर्थात् भगवान्‌से अलग हो जाते हैं, पर भगवान्‌में लगा हुआ साधक विभक्त नहीं रहता, प्रत्युत 'भक्त' अर्थात् भगवान्‌से एक (अभिन्न) हो जाता है। (८। १० परि.)

३२. ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्‌के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है।.......भगवान्‌के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्‌की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं। (८। १९ परि.)

३३. जो भगवद्भक्त हैं, जो केवल भगवान्‌के ही परायण हैं, जिनके मनमें भगवद्दर्शनकी ही लालसा है, ऐसे भक्त दिनमें या रातमें, शुक्लपक्षमें या कृष्णपक्षमें, उत्तरायणमें या दक्षिणायनमें, जब कभी शरीर छोड़ते हैं, तो उनको लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आते हैं। पार्षदोंके साथ वे सीधे भगवद्धाम

पहुँच जाते हैं। (८।२५)

३४. भक्तके सामने जो कुछ परिस्थिति आये, जो कुछ घटना घटे, मनमें जो कुछ संकल्प-विकल्प आये, उन सबमें उसको भगवान्‌की ही लीला देखनी चाहिये। भगवान् ही कभी उत्पत्तिकी लीला, कभी स्थितिकी लीला और कभी संहारकी लीला करते हैं। यह सब संसार स्वरूपसे तो भगवान्‌का ही रूप है और इसमें जो परिवर्तन होता है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है—इस तरह भगवान् और उनकी लीलाको देखते हुए भक्तको हरदम प्रसन्न रहना चाहिये। (९। ४-५)

३५. मेरे अनन्यभक्त निरन्तर मेरी (भगवान्‌की) उपासना करते हैं। निरन्तर उपासना करनेका तात्पर्य है कि वे कीर्तन-नमस्कार आदिके सिवाय जो भी खाना-पीना, सोना-जगना तथा व्यापार करना, खेती करना आदि साधारण क्रियाएँ करते हैं, उन सबको भी मेरे लिये ही करते हैं। उनकी सम्पूर्ण लौकिक, पारमार्थिक क्रियाएँ केवल मेरे उद्देश्यसे, मेरी प्रसन्नताके लिये ही होती हैं। (९।१४)

३६. भगवान्‌के भक्त अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियोंमें परम प्रसन्न रहते हैं। भगवान्‌पर निर्भर रहनेके कारण उनका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो भी परिस्थिति आती है, वह भगवान्‌की ही भेजी हुई है। अतः 'अनुकूल परिस्थिति ठीक है और प्रतिकूल परिस्थिति बेठीक है'—उनका यह भाव मिट जाता है। उनका भाव रहता है कि 'भगवान्‌ने जो किया है, वही ठीक है और भगवान्‌ने जो नहीं किया है, वही ठीक है, उसीमें हमारा कल्याण है।' (९।२२)

३७. अनन्यभक्त वे हैं, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है।.......यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अनन्यभक्तोंका योगक्षेम विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।......जैसे भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भी भक्तकी सेवामें आनन्द आता है। (९।२२ परि.)

३८. भक्तकी दृष्टि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंपर न रहकर भगवान्‌की कृपापर रहती है अर्थात् भक्त उनको भगवान्‌का विधान ही मानता है, कर्मोंका फल मानता ही नहीं। (९।२८)

३९. दुराचारी-से-दुराचारी भी भक्त बन सकते हैं, पर भक्त होनेके बाद उनका फिर पतन नहीं हो सकता अर्थात् वे फिर दुराचारी नहीं बन सकते। (९।३१)

४०. जैसे रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सर्वसमर्थताका विश्वास होनेसे मनुष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। (९।३१ परि.)

४१. भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं; उसका अपना बल नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही बल होता है।...... भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं और स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता ९। २२)। परन्तु ज्ञानीके योगक्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानका साधक तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता। (९। ३१ परि.)

४२. शरीर भगवान्‌का भक्त नहीं होता और भक्त शरीर नहीं होता, प्रत्युत स्वयं भक्त होता है।.......शरीरको लेकर जो व्यवहार है, वह लौकिक मर्यादाके लिये बहुत आवश्यक है और उस मर्यादाके अनुसार चलना ही चाहिये। परन्तु भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वयंकी मुख्यता है, शरीरकी नहीं। (९।३२ मा.)

४३. भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और खुदका सम्बन्ध भगवान्‌से

जोड़ता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये उसको संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छुट जाता है। (९।३४ परि.)

४४. भगवान्‌के भक्तोंका प्राणोंमें मोह नहीं रहता। उनमें 'हम जीते रहें' यह इच्छा नहीं होती और मरनेका भय भी नहीं होता। उनको न जीनेसे मतलब रहता है और न मरनेसे। उनको तो केवल भगवान्‌से मतलब रहता है। कारण कि वे इस बातको अच्छी तरहसे जान जाते हैं कि मरनेसे तो प्राणोंका ही वियोग होता है, भगवान्‌से तो कभी वियोग होता ही नहीं। (१०।९)

४५. भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्‌को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं। उनका तो एक ही काम है—हरदम भगवान्‌में लगे रहना।...... वे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य। जब वे पारमार्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि भी नहीं चाहते, तो फिर सांसारिक भोग तथा अष्टसिद्धि और नवनिधि चाह ही कैसे सकते हैं! (१०।१०)

४६. भक्त भगवान्‌के भजनमें इतने तल्लीन रहते हैं कि उनको यह पता ही नहीं रहता कि हमारेमें समता आयी है, हमें स्वरूपका बोध हुआ है अगर कभी पता लग भी जाता है तो वे आश्चर्य करते हैं कि ये समता और बोध कहाँसे आये! (१०।११ वि.)

४७. भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्कामभाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है। (१०।११ परि.)

४८. भक्तका खास कर्तव्य है—भगवान्‌को अपना मानना। (१०।११ परि.)

४९. ज्ञानी तो भक्तिसे रहित हो सकता है, पर भक्त ज्ञानसे रहित नहीं हो सकता। (१०।११ परि.)

५०. भगवान्‌के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा-भक्तिके अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान्‌में लीन हो जानेके बाद अगर कोई उनको याद करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान् दर्शन देते हैं। (१०।३०)

५१. भक्तकी थोड़ी-सी भी वास्तविक रुचि भगवान्‌की तरफ होनेपर भगवान् अपनी अपार शक्तिसे उसकी पूर्ति कर देते हैं। (११।९)

५२. यद्यपि भगवान्‌के सर्वथा शरण होनेपर भक्तकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि भगवान्‌की यह एक विलक्षणता है कि भक्तकी लीलामें प्रवेश होनेकी जो इच्छा रही है, उसको वे पूरी कर देते हैं। केवल पारमार्थिक इच्छाको ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं; किन्तु भक्तकी पहले जो सांसारिक यत्किंचित् इच्छा रही हो, उसको भी भगवान् पूरी कर देते हैं। (११।५४)

५३. भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब भगवान्‌के लिये ही करता है। कारण कि उसके पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, योग्यता, करनेकी सामर्थ्य, समझ आदि जो कुछ है, वह सब-की-सब भगवान्‌की ही दी हुई है और भगवान्‌की ही है, तथा वह स्वयं भी भगवान्‌का ही है। वह तो केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे निमित्तमात्र बनकर कार्य करता है। (११।५५)

५४. मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीको तो अन्तमें भक्ति प्राप्त होती है, पर भक्तियोगी आरम्भसे ही भक्तिमें लगा है (जो कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोगका फल है), इसलिये वह सबसे

श्रेष्ठ है। (१२। २ परि.)

५५. भगवान् तो अपने साथ भक्तके प्रेम और विश्वासको ही देखते हैं, उसके दोषोंको नहीं। (१२।५ वि.)

५६. भक्तोंके इष्ट भगवान् ही हैं; उनके सिवाय अन्य कोई साध्य उनकी दृष्टिमें है ही नहीं और उनकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है। वे भगवत्कृपासे ही साधनकी सिद्धि मानते हैं, अपने पुरुषार्थ या साधनके बलसे नहीं। वे उपाय भी भगवान्को मानते हैं और उपेय भी। वे एक भगवान्का ही लक्ष्य, ध्येय रखकर उपासना अर्थात् जप, ध्यान, कीर्तन आदि करते हैं। (१२।६)

५७. अपना अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी भक्तके द्वारा मित्रताका व्यवहार होता है; क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टरूपमें भगवान्का विधान ही प्रस्तुत किया है। (१२।१३)

५८. भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति ऐसा भाव रहता है कि उसको भगवान् अथवा अन्य किसीके द्वारा भी दण्ड न मिले। ऐसा क्षमाभाव भक्तकी एक विशेषता है। (१२।१३)

५९. भक्तको तो प्रायः इस बातकी जानकारी ही नहीं होती कि मेरेमें कोई गुण है। अगर उसको अपनेमें कभी कोई गुण दीखता भी है तो वह उसको भगवान्का ही मानता है, अपना नहीं। (१२।१५)

६०. किसी-किसी भक्तको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दें! भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो आनन्द! वह तो सदा भगवान्की प्रसन्नता और कृपाको देखकर मस्त रहता है। (१२।१६)

६१. किसी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्की भक्ति करनेवाला मनुष्य वस्तुतः उस इच्छित वस्तुका ही भक्त होता है; क्योंकि (वस्तुकी ओर लक्ष्य रहनेसे) वह वस्तुके लिये ही भगवान्की भक्ति करता है, न कि भगवान्के लिये। (१२। १६)

६२. जिसका उद्देश्य संसारका है और जो वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदिको लेकर अपनेमें विशेषता देखता है, वह भक्त नहीं होता। भक्त भगवन्निष्ठ होता है। अतः उसके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, क्रिया, फल आदि सब भगवान्के अर्पित होते हैं। (१२।१६)

६३. भक्त एक भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना नहीं मानता। वह अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। उसके द्वारा होनेवाले मात्र कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं। धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, मान-बड़ाई आदिके लिये किये जानेवाले कर्म उसके द्वारा कभी होते ही नहीं। (१२।१६)

६४. जैसे बालक अपनी माँको देखकर अभय हो जाता है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें साधक प्रह्लादजीकी तरह आरम्भसे ही सब जगह अपने प्रभुको ही देखता है, इसलिये वह आरम्भमें ही अभय हो जाता है। (१३।७)

६५. भक्तिपरायण साधक अगर तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर एकमात्र भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करता है, तो केवल इसी साधनसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है। गुणातीत होनेके उपायोंमें भी भगवान्ने अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही है (गीता १४।२६)। (१३। १०)

६६. भगवान्‌की उपासना करनेवालेको ज्ञानकी भूमिकाओंकी सिद्धिके लिये दूसरा कोई साधन, प्रयत्न नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसके लिये ज्ञानकी भूमिकाएँ अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं। (१४।२६)

६७. भगवान्‌की तरफ चलनेसे भक्त स्वत: और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्‌के समग्र रूपका भी ज्ञान हो जाता है। (१४।२६ परि.)

६८. जिन भक्तोंका केवल भगवान्‌में ही अपनापन होता है, उनका शरीरमें मैं-मेरापन नहीं रहता; अत: वे शरीरके मान-आदरसे प्रसन्न नहीं होते। (१५।५)

६९. केवल भगवान्‌के ही शरण रहनेसे भक्तोंकी अहंता बदल जाती है। मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है—इस प्रकार अहंता बदलनेसे उनकी स्थिति निरन्तर भगवान्‌में ही रहती है। (१५।५)

७०. भक्तोंका यह अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम् (मैं-पन) ये सभी भगवान्‌के ही हैं। भगवान्‌के सिवाय उनका अपना कुछ होता ही नहीं। (१५। ५)

७१. भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। (१५। १९ परि.)

७२. भगवान्‌का भक्त वस्तु देनेमें पात्र नहीं देखता, वह तो दिये जाता है; क्योंकि वह सबमें अपने प्यारे प्रभुको ही देखता है कि इस रूपमें तो हमारे प्रभु ही आये हैं। अत: वह दान नहीं करता, कर्तव्य-पालन नहीं करता, प्रत्युत पूजा करता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८। ४६)। (१७।२२)

७३. भक्तको जप, ध्यान, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रियतमका काम (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। (१८।९ टि.)

७४. भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। (१८।४४)

७५. भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अपने बल, विद्या आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल विश्वासपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय लेना पड़ता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।**' भगवान् भी केवल भक्तके आश्रयको देखते हैं, उसके दोषोंको नहीं देखते। (१८। ५६ परि.)

७६. भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है। (१८।५७)

७७. जो प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा ही विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, वह शास्त्रीय विधि-निषेध और वर्ण-आश्रमोंकी मर्यादाका दास नहीं रहता। वह विधि-निषेधसे भी ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसपर विधि-निषेध लागू नहीं होते; क्योंकि विधि-निषेधकी मुख्यता प्रकृतिके राज्यमें ही रहती है। प्रभुके राज्यमें तो शरणागतिकी ही मुख्यता रहती है। (१८।५८)

७८. जीव साक्षात् परमात्माका अंश है (गीता १५। ७)। यदि वह केवल अपने अंशी परमात्माकी ही तरफ चलता है तो उसपर देव, ऋषि, प्राणी, माता-पिता आदि आप्तजन और दादा-परदादा आदि पितरोंका भी कोई ऋण नहीं रहता; क्योंकि शुद्ध चेतन अंशने इनसे कभी कुछ लिया ही नहीं। (१८।५८)

७९. भक्त सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्‌को अपना इष्ट मानता है, तो भगवान् भी उसको अपना इष्ट मान लेते हैं।........भगवान्‌की दृष्टिमें भक्तके समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है। (१८।६४)

८०. भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। (१८।६६ वि.)

८१. जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। (१८।६६ वि.)

***

भक्तियोग

१. योगके बिना कर्म और ज्ञान—दोनों निरर्थक हैं, पर भक्ति निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है; अत: भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—**'ददामि बुद्धियोगं तम्'** (गीता १०। १०)। (२। ४९ परि.)

२. सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा तो साधन-साध्य हैं और साधकपर निर्भर है, पर भगवन्निष्ठा साधन-साध्य नहीं है। भगवन्निष्ठामें साधक भगवान् और उनकी कृपापर निर्भर रहता है। (३।३ मा.)

३. भक्ति इतनी विलक्षण है कि निराकार भगवान्‌को भी साकाररूपसे प्रकट कर देती है, भगवान्‌को भी खींच लेती है। (४।६)

४. भक्ति (प्रेम) कर्मजन्य अर्थात् किसी साधन-विशेषका फल नहीं है। भगवान्‌के सर्वथा शरण होनेवालेको भक्ति स्वत: प्राप्त होती है। (४।११)

५. भगवत्परायणतामें भगवान्‌का बल रहनेसे विकार शीघ्र ही दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। यह भक्तिकी विशेषता है। (६।१४ परि.)

६. 'ज्ञान' में तो दो होकर एक होते हैं, पर 'भक्ति' में प्रेमके विलक्षण आनन्दका आदान-प्रदान करनेके लिये, प्रेमका विस्तार करनेके लिये एक होकर दो हो जाते हैं; जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजी एक होकर भी दो हैं। (६।३१ टि.)

७. ज्ञानमार्गमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रहनेसे दार्शनिक मतभेद रह सकता है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌से आत्मीयता होनेपर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध तथा उससे होनेवाला दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। (६।३१ परि.)

८. ध्यानयोगीका पुनर्जन्म होता है—मनके विचलित होनेसे अर्थात् अपने साधनसे भ्रष्ट होनेसे, पर कर्मयोगी अथवा ज्ञानयोगीका पुनर्जन्म होता है—सांसारिक आसक्ति रहनेसे। भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय रहनेसे भगवान् अपने भक्तकी विशेष रक्षा करते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२), **'मच्चित्त: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (गीता १८। ५८)। (६।३७ परि.)

९. शान्ति, स्वाधीनता आदिका रस चिन्मय होते हुए भी 'अखण्ड' है। परन्तु भक्तिरस चिन्मय होते हुए भी 'प्रतिक्षण वर्धमान' है अर्थात् वह नित्य नवीनरूपसे बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और पूरा होता नहीं। ऐसे रसकी, प्रेमानन्दकी भूख भगवान्‌को भी है। भगवान्‌की इस भूखकी पूर्ति भक्त ही करता है। इसलिये भगवान् भक्तको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। (६। ४७

मा.)

१०. परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं, सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है।........भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है। (६। ४७ परि.)

११. केवल ज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर प्रेमका अनन्त आनन्द तभी मिलता है, जब उसके साथ विज्ञान भी हो। 'ज्ञान' धनकी तरह है और 'विज्ञान' आकर्षण है। जैसे धनके आकर्षणमें जो सुख है, वह धनमें नहीं है, ऐसे ही 'विज्ञान' (भक्ति)-में जो आनन्द है, वह 'ज्ञान' में नहीं है। 'ज्ञान' में तो अखण्डरस है, पर 'विज्ञान' में प्रतिक्षण वर्धमान रस है। (७। २ परि.)

१२. भक्तिमें श्रद्धा और मान्यताकी मुख्यता होती है तथा भगवान्‌में दृढ़ अनन्यता होती है। भक्तिमें अन्यका अभाव होता है। जैसे उत्तम पतिव्रताको एक पतिके सिवाय संसारमें दूसरा कोई पुरुष दीखता ही नहीं, ऐसे ही भक्तको एक भगवान्‌के सिवाय और कोई दीखता ही नहीं, केवल भगवान् ही दीखते हैं। (७। १२)

१३. मुक्तिमें लेनेकी इच्छा और भक्तिमें देनेकी इच्छा रहती है। इसलिये मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहम् रहता है, पर भक्तिमें अहम् बिलकुल नहीं रहता। (७। १६ मा.)

१४. जो भक्तिमार्गपर चलता है, वह 'यह सत् है और यह असत् है' इस विवेकको लेकर नहीं चलता। उसमें विवेक-ज्ञानकी प्रधानता नहीं रहती। उसमें केवल भगवद्भावकी ही प्रधानता रहती है। केवल भगवद्भावकी प्रधानता रहनेके कारण उसके लिये यह सब संसार चिन्मय हो जाता है। (७। १९)

१५. भक्ति अर्थात् प्रियता स्वयंसे ही होती है, मन-बुद्धि आदिसे नहीं। (८। १०)

१६. परमात्माके सिवाय प्रकृतिका यावन्मात्र कार्य 'अन्य' कहा जाता है। जो उस 'अन्य' की स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसको आदर देता है, महत्त्व देता है, उसकी अनन्य भक्ति नहीं है। (८। २२)

१७. भक्तिको अनन्य कहनेका तात्पर्य है कि भक्तिके साथ थोड़ा भी जड़ताका अंश, अहम्‌का संस्कार, अपने मतका संस्कार न रहे अर्थात् किसी भी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न रहे। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करना 'अनन्यभक्ति' है। (८। २२ परि.)

१८. सुखकी वासना तो एक ही है, पर सुख-सामग्रीकी तारतम्यता अनेक लोकोंमें है। ब्रह्मलोकतकका सुख भी आकृष्ट न करे, यहाँतक कि अपनी स्वाधीनता (मुक्ति)-का सुख भी सन्तुष्ट न कर सके, तब भक्ति प्राप्त होती है। (८। २२ परि.)

१९. ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वास तथा प्रेमकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें सत्-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य आदिका विवेक मुख्य होनेसे इसमें 'द्वैत' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है। (९। १९ परि.)

२०. जैसे दया, क्षमा, उदारता आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितकके सब प्राणी अधिकारी हैं। इसका कारण यह है कि मात्र जीव भगवान्‌के अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें, भगवान्‌की भक्ति करनेमें,

भगवान्‌के सम्मुख होनेमें अनधिकारी नहीं है। (९। ३२)

२१. भगवान्‌की तरफ चलनेमें भावकी प्रधानता होती है, जन्मकी नहीं। जिसके अन्त:करणमें जन्मकी प्रधानता होती है, उसमें भावकी प्रधानता नहीं होती और उसमें भगवान्‌की भक्ति भी पैदा नहीं होती। कारण कि जन्मकी प्रधानता माननेवालेके 'अहम्' में शरीरका सम्बन्ध मुख्य रहता है, जो भगवान्‌में लगने नहीं देता अर्थात् शरीर भगवान्‌का भक्त नहीं होता और भक्त शरीर नहीं होता, प्रत्युत स्वयं भक्त होता है। (९। ३२ मा.)

२२. भक्तिमें जो जितना छोटा और अभिमानरहित होता है, वह भगवान्‌को उतना ही अधिक प्यारा लगता है। (९। ३३ मा.)

२३. वर्ण (जन्म), आचरण और व्यक्तित्वसे भगवान्‌की भक्तिमें कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि इन तीनोंका सम्बन्ध शरीरके साथ है। परन्तु भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ नहीं। (९।३३ मा.)

२४. कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान् और उनकी भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। (९। ३३ परि.)

२५. जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्‌के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९। २९)। अत: दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। (९। ३३ परि.)

२६. जहाँ भक्तिरूपी माँ होगी, वहाँ उसके वैराग्य और ज्ञानरूपी बेटे रहेंगे ही। इसलिये भक्तिके आनेपर समता—संसारसे वैराग्य और अपने स्वरूपका बोध—ये दोनों स्वत: आ जाते हैं। (१०। ११ वि.)

२७. अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याणके लिये उन्हें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दीखती है। (१०। १६)

२८. अनन्यभक्तिका अर्थ है केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो, सहारा हो, आशा हो, विश्वास हो। भगवान्‌के सिवाय किसी योग्यता, बल, बुद्धि आदिका किंचिन्मात्र भी सहारा न हो। इनका अन्त:करणमें किंचिन्मात्र भी महत्त्व न हो। यह अनन्यभक्ति स्वयंसे ही होती है, मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिके द्वारा नहीं। (११। ५४)

२९. भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं होते। अत: भक्तिकी विशेष महिमा है। भक्तिमें समग्रकी प्राप्ति होती है। (११।५४)

३०. ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दु:ख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिमें अनन्तरसकी प्राप्ति होती है। (१२। २ परि.)

३१. श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी 'साधन भक्ति' है और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य भक्ति' है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है (गीता १८। ५४)। यह साध्य भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है। (१२।

२ परि.)

३२. मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। (१२। २ परि.)

३३. स्वरूप-बोध होनेपर भक्ति प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर भक्ति प्राप्त होनेपर स्वरूप-बोध भी हो जाता है।.........भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों दे देते हैं। (१२। ७ परि.)

३४. भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य है। भगवत्परायण होनेपर भगवत्कृपासे अपने-आप साधन होता है और असाधन (साधनके विघ्नों)-का नाश होता है। (१२। २०)

३५. जैसे सात्त्विक भोजनमें पुष्टिके लिये घी या दूधकी आवश्यकता होती है, तो वहाँ घी और दूध सात्त्विक भोजनके साथ मिलकर भी पुष्टि करते हैं और अकेले-अकेले भी पुष्टि करते हैं। ऐसे ही भगवान्‌की भक्ति ज्ञानके साधनोंमें मिलकर भी परमात्मप्राप्तिमें सहायक होती है और अकेली भी गुणातीत बना देती है। (गीता १४।२६)। (१३।१०)

३६. विचार करके देखा जाय तो आजकल आध्यात्मिक जिज्ञासाकी कमी और भोगासक्तिकी बहुलताके कारण विवेकप्रधान जिज्ञासु बहुत कम देखनेमें आते हैं। ऐसे साधकोंके लिये भक्तिरूप साधन बहुत उपयोगी है। (१३। १०)

३७. केवल भगवान्‌को ही अपना मानना और भगवान्‌का ही आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप, कीर्तन, चिन्तन, स्मरण आदि करना ही भक्तिका सुगम उपाय है। (१३। १०)

३८. समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है। अत: साधकको भक्त होना चाहिये। (१३। १८ परि.)

३९. ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्‌के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है। (८। १९ परि.)

४०. भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। (१४। २६ परि.)

४१. परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूलकर शरीरादि विजातीय पदार्थोंको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानना ही व्यभिचार-दोष है। यह व्यभिचार-दोष ही अनन्य भक्तियोगमें खास बाधक है। (१५ अव.)

४२. भगवान् अंशी हैं और जीव अंश है, और इनका परस्पर नित्य-सम्बन्ध है। केवल नाशवान् चीजको अपनी माना है, जिससे वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। नाशवान्‌को अपना न मानकर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना माननेसे वह स्वत: भगवान्‌के सम्मुख हो जायगा और उसे भगवत्प्रेम प्राप्त हो जायगा—यह भक्तियोग है। (१५। २ टि.)

४३. ज्ञानयोग और कर्मयोगके अन्तर्गत भक्ति नहीं आती, पर भक्तिके अन्तर्गत ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आ जाते हैं (गीता १०। १०-११)।(१५।५)

४४. संसारसे अपना सम्बन्ध मानना ही भक्तिमें व्यभिचार-दोष है। (१५।१९)

४५. 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताको दृढ़तापूर्वक मान लेनेसे स्वतः सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है। फिर भक्तकी मात्र क्रियाएँ (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि) भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं, अपने लिये नहीं। (१५। १९)

४६. यद्यपि मुक्तिके सभी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि) दैवी-सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**', तथापि दैवी-सम्पत्तिमें मुख्यता भक्तिकी ही है।......भक्तिके अन्तर्गत मुक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। (१६। ५ परि.)

४७. लोग प्रायः माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परन्तु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है, और वह मिठास आती है भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। अतः दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है। (१८। ५७)

४८. कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। (१८। ७३ परि.)

***

भगवान्

(देखें—सगुण-निर्गुण)

१. किसीकी बुद्धि कितनी ही तेज क्यों न हो और वह अपनी बुद्धिसे परमात्माके विषयमें कितना ही विचार क्यों न करता हो, पर वह परमात्माको अपनी बुद्धिके अन्तर्गत नहीं ला सकता। कारण कि बुद्धि सीमित है और परमात्मा असीम-अनन्त हैं। (२। ५७)

२. सर्वव्यापी परमात्माकी हमसे दूरी है ही नहीं और हो सकती भी नहीं। जिससे हम अपनी दूरी नहीं मानते, उस 'मैं'-पनसे भी परमात्मा अत्यन्त समीप हैं। 'मैं'-पन तो परिच्छिन्न (एकदेशीय) है, पर परमात्मा परिच्छिन्न नहीं हैं। (३। २०)

३. मनुष्य भगवान्‌को माने या न माने, इसमें भगवान्‌का कोई आग्रह नहीं है; परन्तु उसे भगवान्‌के मत (सिद्धान्त)-का पालन अवश्य करना चाहिये—इसमें भगवान्‌की आज्ञा है।.....भगवान्‌को माननेवालेको 'प्रेम' की प्राप्ति और भगवान्‌का मत माननेवालेको 'मुक्ति' की प्राप्ति होती है। (३। ३२)

[भगवान्‌का मत है—मिली हुई वस्तुओंको अपनी न मानकर कर्तव्य-कर्मका पालन करना। (गीता ३।३१)]

४. सूर्य तो सदा ही रहता है; किन्तु स्थानविशेषके लोगोंकी दृष्टिमें उसका उदय और अस्त होना दीखता है। ऐसे ही भगवान्‌का प्रकट होना और अन्तर्धान होना लोगोंकी दृष्टिमें है, वास्तवमें भगवान् सदा ही प्रकट रहते हैं। (४। ६)

५. दूसरे लोग जन्मते हैं तो शरीर पहले बालक होता है, फिर बड़ा होकर युवा हो जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है और फिर मर जाता है। परन्तु भगवान्‌में ये परिवर्तन नहीं होते। वे अवतार लेकर बाललीला करते हैं और किशोर-अवस्था (पंद्रह वर्षकी अवस्था) तक बढ़नेकी लीला करते हैं। किशोर-अवस्थातक पहुँचनेके बाद फिर वे नित्य किशोर ही रहते हैं। सैकड़ों वर्ष

बीतने पर भी भगवान् वैसे ही सुन्दर-स्वरूप रहते हैं। (४। ६)

६. जब भगवान्‌के विधानके अनुसार चलनेवाले पृथ्वी, अन्न, जल, वायु, सूर्य आदिमें भी इतनी उदारता, समता है, तब इस विधानके विधायक (भगवान्)-में कितनी विलक्षण उदारता, समता होगी। (४। ८)

७. भगवान्‌का दुष्ट पुरुषोंसे विरोध नहीं है, प्रत्युत उनके दुष्कर्मोंसे विरोध है। कारण कि वे दुष्कर्म संसारका तथा उन दुष्टोंका भी अहित करनेवाले हैं। भगवान् सर्वसुहृद् हैं; अतः वे संसारका तथा उन दुष्टोंका भी हित करनेके लिये ही दुष्टोंका विनाश करते हैं। (४। ८)

८. अवतारकालमें भगवान्‌के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदिसे, भविष्यमें उनकी दिव्य लीलाओंके श्रवण, चिन्तन और ध्यानसे तथा उनके उपदेशोंके अनुसार आचरण करनेसे लोगोंका सहज ही उद्धार हो जाता है। इस प्रकार लोगोंका सदा उद्धार होता ही रहे, ऐसी एक रीति भगवान् अवतार लेकर ही चलाते हैं। (४। ८)

९. भगवान्‌के अवतारोंमें तो भेद होता है, पर स्वयं भगवान्‌में कोई भेद नहीं होता। भगवान् सभी अवतारोंमें पूर्ण हैं और पूर्ण ही रहते हैं। (४। ८)

१०. भगवान्‌के अवतारके जो लीला-स्थल हैं, उन स्थानोंमें आस्तिकभावसे, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे एवं उनका दर्शन करनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। (४। ९)

११. साधक भगवान्‌के साथ जिस प्रकारका सम्बन्ध मानता है, भगवान् उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध माननेके लिये तैयार रहते हैं। (४। ११)

१२. यद्यपि यह संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, तथापि जो इसको जिस रूपसे देखता है, भगवान् भी उसके लिये उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं। हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो भगवान् भी उन वस्तुओंके रूपमें हमारे सामने आते हैं; हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। (४। ११ परि.)

१३. महान् शक्तिशाली भगवान् बिना किसी प्रयोजनके हमारे परम सुहृद् हैं, फिर भय, चिन्ता, उद्वेग, अशान्ति आदि कैसे हो सकते हैं? (५। २९)

१४. भक्तोंको जैसे भगवान्‌की याद आती है तो वे उसमें तल्लीन हो जाते हैं—मस्त हो जाते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के सामने भक्तोंका विशेष प्रसंग आता है तो भगवान् उसमें मस्त हो जाते हैं। (७। १ अव.)

१५. जिसका संसारकी तरफ खिंचाव है और जिसके अन्तःकरणमें उत्पत्ति विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व बैठा हुआ है, वह परमात्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। (७। १)

१६. हमें भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है? इसपर विचार करें तो मालूम होता है कि हमारी कोई ऐसी आवश्यकता है, जिसको हम न तो अपने द्वारा पूरी कर सकते हैं और न संसारके द्वारा ही पूरी कर सकते हैं। दुःखोंका नाश करनेके लिये और परमशान्तिको प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्‌की आवश्यकता नहीं है। कारण कि अगर हम कामनाओंका सर्वथा त्याग कर दें तो स्वतः हमारे दुःखोंका नाश होकर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२) अर्थात् हम मुक्त हो जायँगे। हमें परमप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌की आवश्यकता

है; क्योंकि हम भगवान्‌के ही अंश हैं।.......तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत भक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। (७। ३ परि.)

१७. जब मनुष्य इस बातको जान लेता है कि इतने बड़े संसारमें, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वही अपना है, तब उसके भीतर भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव होता है। कारण कि अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। जो कभी हमारेसे अलग न हो और हम कभी उससे अलग न हों। ऐसी वस्तु भगवान् ही हो सकते हैं। (७। ३ परि.)

१८. अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)। संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** किसी आचार्यका मत, दर्शन नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्‌का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं।........साधकको अगर जगत् दीखता है, तो यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि है। व्यक्तिगत दृष्टि सिद्धान्त नहीं होता। (७। ५ परि.)

१९. परमात्मामें कार्य-कारणका भेद नहीं है; क्योंकि उनके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। कार्य-कारणका भेद मनुष्योंकी दृष्टिमें ही हैं। इसलिये मनुष्योंको समझानेके लिये अन्य वस्तुकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि किया जाता है। (७। ८ परि.)

२०. भगवान् देश, काल आदि सभी दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जब भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टिका भी अन्त नहीं आ सकता तो फिर भगवान्‌का अन्त आ ही कैसे सकता है? आजतक भगवान्‌के विषयमें जो कुछ सोचा गया है, जो कुछ कहा गया है, जो कुछ लिखा गया है, जो कुछ माना गया है, वह पूरा-का-पूरा मिलकर भी अधूरा है। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपने विषयमें पूरी बात नहीं कह सकते, अगर कह दें तो अनन्त कैसे रहेंगे? (७। १० परि.)

२१. भगवान्‌का तो बड़ा ही उदार एवं प्रेमभरा स्वभाव है कि वे जिस किसीको कुछ देते हैं, उसको इस बातका पता ही नहीं लगने देते कि यह भगवान्‌की दी हुई है, प्रत्युत जिसको जो कुछ मिला है, उसको वह अपनी और अपने लिये ही मान लेता है। यह भगवान्‌का देनेका एक विलक्षण ढंग है। (७। १४)

२२. संसारकी रचना करनेमें भगवान्‌के पास अपने सिवाय कोई सामग्री नहीं थी, वे तो स्वयं संसारके रूपमें प्रकट हुए हैं। (७। १९)

२३. प्रायः मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं, अपना शिष्य या दास बनाना चाहते हैं, अपने सम्प्रदायमें लाना चाहते हैं, अपनेमें श्रद्धा करवाना चाहते हैं, अपना पूजन, आदर, मान-सम्मान करवाना चाहते हैं, अपनी बात मनवाना चाहते हैं। परन्तु भगवान् सर्वोपरि होते हुए भी किसीको अपने अधीन नहीं बनाते, प्रत्युत जो जहाँ श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको वहीं दृढ़ कर देते हैं—यह भगवान्‌की कितनी उदारता है, निष्पक्षता है! (७। २१ परि.)

२४. भगवान्‌में यह विशेषता है कि वे किसीपर शासन नहीं करते, किसीको अपना गुलाम नहीं बनाते, किसीको अपना चेला नहीं बनाते, प्रत्युत हर एकको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं। (७। २२ परि.)

२५. जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंपर विचार करें तो स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जगत्को जीवने ही धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५) अर्थात् जगत्को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है, इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं। (७। ३० अ.सा.)

२६. परमात्मतत्त्व अत्यन्त अलौकिक और विलक्षण है। उस तत्त्वका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। उस तत्त्वको इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि नहीं पकड़ सकते अर्थात् वह तत्त्व इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिकी परिधिमें नहीं आता। हाँ, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसमें विलीन हो सकते हैं। साधक उस तत्त्वमें स्वयं लीन हो सकता है, उसको प्राप्त कर सकता है, पर उस तत्त्वको अपने कब्जेमें, अपने अधिकारमें, अपनी सीमामें नहीं ले सकता। (८। ४ वि.)

२७. जिस दर्शनमें ईश्वर, भगवान्, परमात्मा सर्वोपरि हैं—ऐसी मान्यता नहीं है, उस दर्शनके अनुसार चलनेवाले असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त तो हो जाते हैं, पर अपने अंशीकी स्वीकृतिके बिना उनको परम प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती और परम प्रेमकी प्राप्तिके बिना उनको प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द नहीं मिलता। (८। १५)

२८. पवित्र परमात्माका नाम, रूप, लीला, धाम, स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, ज्ञान आदि सब पवित्र हैं अर्थात् भगवत्सम्बन्धी जो कुछ है, वह सब महान् पवित्र है और प्राणिमात्रको पवित्र करनेवाला है। (९। २)

२९. तत्त्वसे प्रकृति भगवान्से अभिन्न है। अत: वास्तवमें भगवान्का स्वरूप प्रकृतिसहित ही है। भगवान्को प्रकृतिरहित मानना उनको एकदेशीय मानना है, जो सम्भव ही नहीं है। (९। ८ परि.)

३०. सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है वह सब भगवान्के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्के अंग (स्वरूप) हैं। (९। ९ परि.)

३१. जैसे बिजलीमें सब शक्तियाँ हैं, पर वे मशीनोंके द्वारा ही प्रकट होती हैं, ऐसे ही भगवान्में अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे प्रकृतिके द्वारा ही प्रकट होती हैं। (९। १०)

३२. जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्का स्वरूप है। (९। १९ परि.)

३३. जीव भगवान्को अपनी क्रियाएँ और पदार्थ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्पर कोई असर नहीं पड़ता। अत: प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति आदिका मनुष्य उनके सम्मुख हो सकता है, उनका भक्त हो सकता है, उनको प्राप्त कर सकता है। (९। २९ परि.)

३४. भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर उनके द्वेष और प्रेमका विषय दूसरा कैसे हो सकता है? (९। २९ परि.)

३५. भगवान् जाननेका विषय नहीं है, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय है। जाननेका विषय खुद प्रकृति भी नहीं है; फिर प्रकृतिसे अतीत भगवान् जाननेका विषय कैसे हो सकते हैं। (१०। ३ परि.)

३६. मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्तिसे, सामर्थ्यसे, योग्यतासे, बुद्धिसे भगवान्‌को नहीं जान सकता।........त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय आदि अन्तःकरणको निर्मल करनेवाले हैं, पर इनके बलसे भी भगवान्‌को नहीं जान सकते। भगवान्‌को तो अनन्यभावसे उनके शरण होकर उनकी कृपासे ही जान सकते हैं (गीता १०। ११; ११। ५४)। (१०। १४)

३७. बड़े-बड़े भौतिक आविष्कारोंसे कोई भगवान्‌को नहीं जान सकता। (१०। १४ परि.)

३८. जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं। (१०। १७ परि.)

३९. सब ओर मुखवाले होनेसे भगवान्‌की दृष्टि सभी प्राणियोंपर रहती है। अतः सबका धारण-पोषण करनेमें भगवान् बहुत सावधान रहते हैं। किस प्राणीको कौन-सी वस्तु कब मिलनी चाहिये, इसका भगवान् खूब खयाल रखते हैं और समयपर उस वस्तुको पहुँचा देते हैं। (१०। ३३)

४०. सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्‌का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। (१०। ४० परि.)

४१. परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं।........अगर परमात्मामें विशेषता न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो विशेषता बीजमें होती है, वही वृक्षमें भी आती है। जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? (१०। ४१ परि.)

४२. भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानयोगी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य भक्तियोगी होता है। मनुष्यमें जो भी विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है। (१०। ४१ परि.)

४३. भगवान् ही जगत्-रूपसे स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक, सूक्ष्म और महान्, सत् और असत्—दोनों भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं, इसीलिये अनन्त ब्रह्माण्ड उनके किसी एक अंशमें स्थित है—**'एकांशेन स्थितो जगत्।'** (१०। ४२ परि.)

४४. मनुष्य भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ ले तो वह कल्याण ही करेगा। (११। २ परि.)

४५. संजय भगवान्‌को पहलेसे ही अर्जुनसे ज्यादा जानते थे। संजयसे भी ज्यादा वेदव्यासजी भगवान्‌को जानते थे। वेदव्यासजीकी कृपासे ही संजयने भगवान् और अर्जुनका संवाद सुना (गीता १८। ७५)। वेदव्यासजीसे भी ज्यादा भगवान्‌को स्वयं भगवान् ही जानते हैं (गीता १०। २, १५)।

(११। ९ परि.)

४६. भगवान् साकार हों या निराकार हों, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे हों, उनका अनन्तपना नहीं मिटता। सम्पूर्ण सृष्टि उनसे ही उत्पन्न होती है, उनमें ही रहती है और उनमें ही लीन हो जाती है, पर वे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं! (११। १५ परि.)

४७. भगवान्के एक अंशमें भी अनन्तता है। जैसे स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? ऐसे ही भगवान्में क्या नहीं है? अर्थात् भगवान्में स्वाभाविक ही सब कुछ है। (११। १६ परि.)

४८. परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी रूप अप्रमेय (अपरिमित) हैं और उनका अंश जीवात्मा भी अप्रमेय है—'**अनाशिनोऽप्रमेयस्य**' (गीता २।१८)। वे परमात्मा ज्ञानका विषय नहीं हैं; क्योंकि वे ज्ञानके भी ज्ञाता हैं—'**वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्**' (गीता १५।१५)।........भगवान्की दी हुई शक्तिसे भी भगवान्को पूरा नहीं जान सकते। भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे? (११। १७ परि.)

४९. निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—ये सब मिलकर भगवान्का समग्ररूप है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता (गीता ७। २); क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। (११। १८ परि.)

५०. सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही समग्र परमात्माके रूप हैं। (११। ३७ परि.)

५१. वास्तवमें भगवान्की महिमाको सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्की महिमा अनन्त है। अगर वह सर्वथा जाननेमें आ जायगी तो उसकी अनन्तता नहीं रहेगी, वह सीमित हो जायगी। (११। ४१)

५२. वास्तवमें भगवान्के द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य अव्यय हैं। इसी तरह भगवान्के सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार आदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं। (११। ४५)

५३. माधुर्य-लीलामें तो भगवान् द्विभुजरूपसे ही रहते हैं; परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखलानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान् पात्र, अधिकार, भाव आदिके भेदसे अपना विराट् भी दिखा देते हैं। (११। ४५)

५४. द्विभुजरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुजरूप (विराट्रूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्के रूप हैं। (११। ५१ परि.)

५५. परमात्मतत्त्व सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे परे (सहज निवृत्त) और दोनोंको समानरूपसे प्रकाशित करनेवाला है। ऐसे निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये और बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये ही भिन्न-भिन्न विशेषणोंसे परमात्माका वर्णन (लक्ष्य) किया जाता है। (१२। ३-४)

५६. भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं। अत: उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है। (१२। १३-१४ परि.)

५७. ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं.....अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण

चेतन है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका मालिक है, वह ईश्वर है। (१३। २ परि.)

५८. उस तत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते और 'असत्' भी नहीं कह सकते।......उस परमात्मतत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं—ऐसा वह करणनिरपेक्ष तत्त्व है। (१३। ११)

५९. वास्तवमें परमात्मतत्त्वका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्‌की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। (१३। १२ परि.)

६०. परमात्मामें सब जगह सब कुछ है। (१३। १३ परि.)

६१. प्राणिमात्रके सुहृद् होनेसे वे अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके द्वारा पाप-पुण्योंका नाश करके प्राणिमात्रको शुद्ध, पवित्र करते रहते हैं। (१३। १४)

६२. परमात्मा प्रकृति और उसके कार्यसे अतीत हैं। वे चाहे सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार, सदा प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। अवतारके समय वे प्रकृतिको अपने वशमें करके प्रकट होते हैं। (१३। १४)

६३. उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका संग्रह और सुख-भोगकी इच्छा करनेवालेके लिये परमात्मा (तत्त्वतः समीप होनेपर भी) दूर हैं। परन्तु जो केवल परमात्माके ही सम्मुख है, उसके लिये परमात्मा नजदीक हैं। (१३। १५)

६४. परमात्मा जितने नजदीक हैं, उतना नजदीक दूसरा कोई भी नहीं है। (१३। १५ टि.)

६५. वस्तुतः चेतन तत्त्व (परमात्मा) एक ही हैं। वे ही परमात्मा रजोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाले, सत्त्वगुणको स्वीकार करनेसे विष्णुरूपसे सबका भरण-पोषण करनेवाले और तमोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे रुद्ररूपसे सबका संहार करनेवाले हैं। (१३। १६)

६६. परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है। (१३। १६ परि.)

६७. वास्तवमें परमात्माका स्वरूप समग्र है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव नहीं है। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति)-के रहनेका स्थान कहाँ होगा? (१३। २० परि.)

६८. जैसे जलती हुई अग्नि साकार है और काष्ठ आदिमें रहनेवाली अग्नि निराकार है—ये अग्निके दो रूप हैं, पर तत्त्वतः अग्नि एक ही है। ऐसे ही भगवान् साकार-रूपसे हैं और ब्रह्म निराकार-रूपसे हैं—ये दो रूप साधकोंकी उपासनाकी दृष्टिसे हैं, पर तत्त्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। (१४। २७)

६९. सबके मूल प्रकाशक और आश्रय परमात्मा ही हैं। देश, काल, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, विद्या आदि सभी दृष्टियोंसे परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं। उनसे ऊपर अथवा श्रेष्ठकी तो बात ही क्या

है, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं है (गीता ११। ४३)। (१५।१)

७०. पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सभीका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं। (१५। १७ मा.)

७१. परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। (१५। १७ परि.)

७२. संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखने-सुननेमें आता है, वह सब एक भगवान् (पुरुषोत्तम)-का ही है—ऐसा मान लेनेसे संसारका खिंचाव सर्वथा मिट जाता है। यदि संसारका थोड़ा-सा भी खिंचाव रहता है, तो यही समझना चाहिये कि अभी भगवान्‌को दृढ़तासे माना ही नहीं। (१५। १९)

७३. परमात्मा उसको कहते हैं, जो अभी हो, सबमें हो, सबका हो, सर्वसमर्थ हो, परम दयालु हो और अद्वितीय हो। (१५। २० अ.सा.)

७४. भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हम भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते, उनको छोड़ नहीं सकते। सर्वसमर्थ भगवान् भी जीवसे अलग नहीं हो सकते, जीवको छोड़ नहीं सकते। अगर भगवान् जीवको छोड़ दें तो जीव एक नया भगवान् हो जायगा अर्थात् भगवान् एक नहीं रहेंगे, प्रत्युत अनेक हो जायँगे, जो कभी सम्भव नहीं है। जिसको हम छोड़ नहीं सकते, उसके विषयमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वह कैसा है? अतः भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, यह विचार न करके उनमें प्रेम करना चाहिये। (१५। २० अ.सा.)

७५. जिसने किसीको बड़ा मानकर उसका सहारा लिया, उसने वास्तवमें 'ईश्वरवाद' के सिद्धान्तको स्वीकार कर ही लिया, चाहे वह ईश्वरको माने या न माने। इसलिये आयु, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पद, अधिकार, ऐश्वर्य आदिमेंसे एक-एकसे बड़ा देखे, तो बड़प्पन देखते-देखते अन्तमें बड़प्पनकी जहाँ समाप्ति हो, वही ईश्वर है। (१७। ३ मा.)

७६. भगवान्‌का जीवमात्रपर अत्यधिक स्नेह है। अपना ही अंश होनेसे कोई भी जीव भगवान्‌को अप्रिय नहीं है। भगवान् जीवोंको चाहे चौरासी लाख योनियोंमें भेजें, चाहे नरकोंमें भेजें, उनका उद्देश्य जीवोंको पवित्र करनेका ही होता है। (१८। ६५)

७७. संसार विवेक-विचारका विषय है। परन्तु जो विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारका प्रकाशक है, उसको विवेक-विचारद्वारा नहीं जान सकते। कारण कि जो वस्तु प्रकाश्य होती है, वह प्रकाशकको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होती है। इसलिये जो सबका प्रकाशक और आश्रय है, वह परमात्मतत्त्व श्रद्धा-विश्वासका विषय है, विचारका नहीं। (१८। ७३ टि.)

७८. सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जितने भी वैभवशाली गुण हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌में स्वतः रहते हैं। वे गुण भगवान्‌में नित्य रहते हैं, असीम रहते हैं। जैसे पिताका पिता, फिर पिताका पिता—यह परम्परा अन्तमें जाकर परम-पिता परमात्मामें समाप्त होती है, ऐसे ही जितने भी गुण हैं, उन सबकी समाप्ति परमात्मामें ही होती हैं। (१८। ७८)

***

भगवत्प्राप्ति

१. मनुष्य जहाँ-कहीं और जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित है, वहीं रहकर वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके निष्काम हो सकता है और वहीं उसको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कारण कि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें सदा एकरूपसे रहते हैं। (१। २१)

२. भोग और संग्रहकी रुचिको रखते हुए कोई परमात्माको प्राप्त करना चाहे, तो परमात्माकी प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्तिका एक निश्चय भी नहीं हो सकता। (२। ४४)

३. अन्त:करणमें भोक्तृत्व (फलेच्छा, फलासक्ति) अधिक रहनेके कारण ही मनुष्य भगवत्प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, प्रेमप्राप्ति आदिमें कर्मोंको कारण मानता है। वास्तवमें भगवत्प्राप्ति आदि कर्मोंपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत भाव और बोधपर ही निर्भर है। (२। ४७ टि.)

४. भगवद्विषयक प्रसन्नता हो अथवा व्याकुलता हो—इन दोनोंमेंसे कोई एक भी अगर अधिक बढ़ जाती है, तो वह शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। (२। ६५ परि.)

५. जो अपना है, अभी है और अपनेमें है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती; क्योंकि उसकी अप्राप्ति कभी होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। (३। ४ परि.)

६. अपने लिये कर्म करनेसे तथा जड़ता (शरीरादि)-के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा (आड़) लग जाती है। (३। १५)

७. जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं। अत: परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। (३। १५)

८. कर्मोंसे नाशवान् वस्तु (संसार)-की प्राप्ति होती है, अविनाशी वस्तु (परमात्मा)-की नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म नाशवान् (शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि)-के सम्बन्धसे ही होते हैं, जबकि परमात्माकी प्राप्ति नाशवान्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है। (३। २० मा.)

९. सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति इच्छामात्रसे नहीं होती; परन्तु परमात्माकी प्राप्ति उत्कट अभिलाषामात्रसे हो जाती है। इस उत्कट अभिलाषाके जाग्रत् होनेमें सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छा ही बाधक है, दूसरा कोई बाधक है ही नहीं। यदि परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा अभी जाग्रत् हो जाय तो अभी ही परमात्माका अनुभव हो जाय। (३। २० मा.)

१०. सेवा, परहित-चिन्तन, स्थिरता आदिका सुख लेना और इनके बने रहनेकी इच्छा करना भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है (गीता १४।६)। इसलिये साधकको सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों ही गुणोंसे असंग होना है; क्योंकि स्वरूप असंग है। (३। ३७ टि.)

११. शास्त्रोंके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिमें तीन दोष बाधक हैं—मल, विक्षेप और आवरण। ये दोष असत् (संसार)-के सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। असत्‌का सम्बन्ध कामनासे होता है। अत: मूल दोष कामना ही है। (३। ३८ वि.)

१२. कामनाका त्याग करना और परमात्माको प्राप्त करना—ये दो काम नहीं हैं। कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप हो जायगी। केवल कामनाके कारण ही परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं। (३। ३८ परि.)

१३. वास्तवमें अपने स्वरूपमें स्थिति अथवा परमात्माकी प्राप्ति संसारकी सहायतासे नहीं होती, प्रत्युत संसारके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से, अपने-आपसे होती है। (३। ४३)

१४. मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए ही अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करके सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति कर सकता है। उसे परमात्मप्राप्तिके लिये आश्रम बदलनेकी जरूरत नहीं है। (४। १)

१५. भगवान् मानो इस बातको कह रहे हैं कि तुम अपना सब कुछ मुझे दे दोगे तो मैं भी अपना सब कुछ तुम्हें दे दूँगा और तुम अपने-आपको मुझे दे दोगे तो मैं भी अपने-आपको तुम्हें दे दूँगा। भगवत्प्राप्तिका कितना सरल और सस्ता सौदा है! (४। ११)

१६. भगवान् भक्तकी चालसे नहीं चलते, प्रत्युत अपनी चाल (शक्ति)- से चलते हैं। भगवान् सर्वत्र विद्यमान, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सत्यसंकल्प हैं। भक्तको केवल अपनी पूरी शक्ति लगा देनी है, फिर भगवान् भी अपनी पूरी शक्तिसे उसे प्राप्त हो जाते हैं। (४। ११)

१७. भगवत्प्राप्तिमें बाधा साधक स्वयं लगाता है; क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिये वह समझ, सामग्री, समय और सामर्थ्यको अपनी मानकर उन्हें पूरा नहीं लगाता, प्रत्युत अपने पास बचाकर रख लेता है। यदि वह उन्हें अपना न मानकर उन्हें पूरा लगा दे तो उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। कारण कि यह समझ, सामग्री आदि उसकी अपनी नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्से मिली हैं, भगवान्की हैं। अत: इन्हें अपनी मानना ही बाधा है। (४। ११)

१८. 'केवल भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ; दूसरा कोई भी मेरा नहीं है और मैं किसीका भी नहीं हूँ'—इस प्रकार भगवान्में अपनापन करनेसे उनकी प्राप्ति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। (४।११)

१९. सांसारिक वस्तुएँ कर्मजन्य हैं, एकदेशीय हैं, हमें नित्यप्राप्त नहीं हैं, हमारेसे अलग हैं और परिवर्तनशील हैं, इसलिये उनकी प्राप्तिके लिये कर्म करने आवश्यक हैं। परन्तु भगवान् कर्मजन्य नहीं हैं, सर्वत्र परिपूर्ण हैं, हमें नित्यप्राप्त हैं, हमारेसे अलग नहीं हैं और अपरिवर्तनशील हैं, इसलिये भगवत्प्राप्तिमें सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिका नियम नहीं चल सकता। भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें खास कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है। (४। १२)

२०. परमात्मा सब जगह परिपूर्ण होनेसे अपनेमें भी हैं। जहाँ साधक 'मैं हूँ'-रूपसे अपने-आपको मानता है, वहीं परमात्मा विराजमान हैं; परन्तु परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण अपने-आपमें स्थित परमात्माका अनुभव नहीं होता। (४। ३८)

२१. जबतक परमात्मतत्त्वका अनुभव न हो, तबतक परमात्मामें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होना चाहिये। वास्तवमें परमात्मासे देश, काल आदिकी दूरी नहीं है, केवल मानी हुई दूरी है। दूरी माननेके कारण ही परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी अनुभवमें नहीं आ रहे हैं। (४। ३९)

२२. ऐसा एक तत्त्व या बोध है, जिसका अनुभव मेरेको हो सकता है और अभी हो सकता है—यही वास्तवमें श्रद्धा है। तत्त्व भी विद्यमान है, मैं भी विद्यमान हूँ और तत्त्वका अनुभव करना भी चाहता हूँ, फिर देरी किस बातकी? (४। ३९)

२३. परमशान्तिका तत्काल अनुभव न होनेका कारण है—जो वस्तु अपने-आपमें है, उसको अपने-आपमें न ढूँढ़कर बाहर दूसरी जगह ढूँढ़ना। (४। ३९)

२४. संसार विषम है। घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सांसारिक सम्बन्धमें भी विषमता रहती है। परन्तु परमात्मा सम हैं। अतः समरूप परमात्माकी प्राप्ति संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होती है। (५। ५)

२५. परमात्मा किसी साधनसे खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ मिलकर भी चिन्मय और अविनाशी परमात्माकी किंचिन्मात्र भी समानता नहीं कर सकते। दूसरी बात, मूल्य देकर जो वस्तु मिलती है, वह उस मूल्यसे कमजोर (कम मूल्यवाली) ही होती है। यदि कर्मोंसे परमात्मा मिल जायँ तो वे कमजोर ही सिद्ध होंगे। (५। १२ मा.)

२६. तत्त्वप्राप्तिमें करनेका भाव ही बाधक है। करनेके भावसे ही कर्तृत्व आता है और कर्तृत्वसे व्यक्तित्व आता है। क्रिया प्रकृतिमें है, स्वरूपमें स्वतः अक्रियता है।........मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भाव भी 'करने' के ही अन्तर्गत है। अतः करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये और न करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये (गीता ३। १८)। (५। १३ परि.)

२७. सम्पूर्ण मनुष्योंको एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। मुक्ति चाहे ब्राह्मणकी हो अथवा चाण्डालकी, दोनोंको एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। भेद केवल शरीरोंको लेकर है, जो उपादेय है। तत्त्वको लेकर कोई भेद नहीं है। पहले जितने सनकादिक महात्मा हुए हैं, उनको जो तत्त्व प्राप्त हुआ है, वही तत्त्व आज भी प्राप्त होता है। (५। १९)

२८. परमात्मासे अलग होकर परमात्माका अनुभव नहीं होता। परमात्माका अनुभव होनेमें अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य—यह त्रिपुटी नहीं रहती, प्रत्युत त्रिपुटीरहित अनुभवमात्र (ज्ञानमात्र) रहता है। वास्तवमें ब्रह्मको जाननेवाला कौन है—यह बताया नहीं जा सकता। कारण कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है। (५।२०)

२९. ब्रह्मका अनुभव होनेपर सर्वत्र एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है। उसमें स्थिति माननेवाला दूसरा कोई रहता ही नहीं। जबतक कोई ब्रह्ममें अपनी स्थिति मानता है, तबतक ब्रह्मकी वास्तविक अनुभूतिमें कमी है, परिच्छिन्नता है। (५। २०)

३०. अपने लिये कुछ भी चाहना, किसी भी वस्तुको अपनी मानना और भगवान्‌को अपना न मानना—ये तीनों बातें भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधक हैं।.......इन तीनोंमेंसे एक बात भी मान लेनेसे शेष बातें स्वतः आ जाती हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है। (५। २९)

३१. जो अपने हैं, अपनेमें हैं, अभी हैं और यहाँ हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि असत्‌के द्वारा सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के त्यागसे सत्‌की प्राप्ति होती है। (६। ५)

३२. वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन या दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत इधर सच्ची लगनसे तत्परतापूर्वक लगनेवाले बहुत कम हैं। इधर दृढ़तासे न लगनेमें संयोगजन्य सुखकी तरफ आकृष्ट होना और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा रखना ही खास कारण है। (७। ३)

३३. परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सब वस्तुओंमें, सब घटनाओंमें, सब परिस्थितियोंमें और सम्पूर्ण क्रियाओंमें स्वतः परिपूर्णरूपसे मौजूद हैं; अतः उनकी प्राप्तिमें भविष्यका कोई कारण ही नहीं है। परमात्मतत्त्व कर्मजन्य नहीं है। जो वस्तु कर्मजन्य होती है, वह भविष्यमें मिलती है। कारण कि जो वस्तु कर्मजन्य होती है, वह उत्पत्ति-विनाशवाली होती है और उसमें देश, कालकी दूरी होती है; अतः उसीके लिये भविष्य होता है। (७। ३ टि.)

३४. परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत तत्त्वप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होना और अभिलाषाकी पूर्तिके लिये तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका मिलना दुर्लभ है, कठिन है।......वास्तवमें देखा जाय तो केवल उत्कट अभिलाषा होना ही दुर्लभ है। कारण कि अभिलाषा होनेपर उसको जनानेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है। (७।३)

३५. मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके बिना सुख-आरामसे रहता है, वह अपनी आवश्यकताको भूले रहता है। वह मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यमें ही सन्तोष कर लेता है। अगर वह भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करे, उनके बिना चैनसे न रह सके तो भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। कारण कि जो नित्यप्राप्त है, उसकी प्राप्तिमें क्या देरी? भगवान् कोई वृक्ष तो हैं नहीं कि आज बोयेंगे और वर्षोंके बाद फल मिलेगा! वे तो सब देशमें, सब समयमें, सब वस्तुओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे हमसे कभी विमुख नहीं हुए। (७। ३ परि.)

३६. वास्तवमें जो नित्यप्राप्त है, उसमें सुलभता-दुर्लभता कहना बनता ही नहीं। परन्तु लोगोंने उसको दुर्लभ (कठिन) मान रखा है।....जिसकी खुदकी सत्ता है ही नहीं, उस असत् (शरीर-संसार)-को सत्ता और महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्यप्राप्त परमात्मा दुर्लभ हो रहे हैं। असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है। असत् है और वह अपना तथा अपने लिये है—ऐसा मानना ही असत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है। (८। १४ परि.)

३७. जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। (८। १५ परि.)

३८. बालक माँकी गोदीमें जाय तो उसके लिये किसी विधिकी जरूरत नहीं है। वह तो अपनेपनके सम्बन्धसे ही माँकी गोदीमें जाता है। ऐसे ही मेरी (भगवान्‌की) प्राप्तिके लिये विधि, मन्त्र आदिकी आवश्यकता नहीं है, केवल अपनेपनके दृढ़ भावकी आवश्यकता है। (९। २६)

३९. दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है। अत: जाति और आचरणको लेकर मनुष्यको भगवत्प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। जाति और आचरण अनित्य तथा बनावटी हैं, पर भगवान्‌के साथ मनुष्यका सम्बन्ध नित्य तथा वास्तविक है। इसलिये भगवान् केवल भक्तिका नाता (सम्बन्ध) ही मानते हैं, जाति-आचरणका नहीं। (९। ३३ परि.)

४०. वर्ण, आश्रम, वेश-भूषा, जाति, सम्प्रदाय आदि अलग-अलग होते हुए भी सभी मनुष्य अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं और भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके विषयमें सब एक हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी किसी भी योनिमें कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। (९। ३३ परि.)

४१. कामना, महत्त्वबुद्धि, आसक्ति आदि होनेपर सब जगह परिपूर्ण रहते हुए भी मेरी (भगवान्‌की) प्राप्ति नहीं होती। (९। ३४)

४२. जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ देखने, सुनने, सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, स्वीकार हो या न हो, पर बात यही सच्ची है।........उसको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि जो कुछ भी दीखे, उसमें अपने

इष्ट भगवान्‌को देखकर वह प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो, हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो।' ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं। (११। ४० परि.)

४३. भगवान्‌को न तो देवत्व-शक्तिसे देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मोंसे ही देखा जा सकता है (गीता ११। ५३)। उनको तो अनन्यभक्तिसे ही देखा जा सता है (गीता ११। ५४)। (११। ५२)

४४. पुण्यकर्म ऊँचे लोक, ऊँचे भोग तो दे सकते हैं, पर भगवान्‌के दर्शन करानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। (११। ५२)

४५. मेरे (भगवान्‌के) दर्शन मेरी कृपासे ही हो सकते हैं, किसी योग्यतासे नहीं। (११। ५३)

४६. भगवान्‌की प्राप्ति केवल भगवान्‌की कृपासे ही होती है। वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदिको भगवान्‌के सर्वथा अर्पण करके अपनेमें सर्वथा निर्बलता, अयोग्यताका अनुभव करता है अर्थात् अपने बल, योग्यता आदिका किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं करता। इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्बल होकर अपने-आपको भगवान्‌के सर्वथा समर्पित करके अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं। (११। ५३)

४७. केवल स्वयंकी व्याकुलतापूर्वक उत्कण्ठा हो, भगवान्‌के दर्शन बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ऐसी जो भीतरमें स्वयंकी बेचैनी है, वही भगवत्प्राप्तिमें खास कारण है। (११। ५४)

४८. भक्तकी खुदकी जो उत्कट अभिलाषा है, उस अभिलाषामें ऐसी ताकत है कि वह भगवान्‌में भी भक्तसे मिलनेकी उत्कण्ठा पैदा कर देती है। (११। ५४ वि.)

४९. जबतक प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है, तभीतक भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही भगवान्‌से अपना वास्तविक और नित्यसिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। (१२। २)

५०. भगवान्‌की प्राप्ति किसी साधन-विशेषसे नहीं होती।..... तपस्यादि साधनोंसे जहाँ भगवान्‌की प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी वह जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेसे ही हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधन (जड़के साथ माने हुए सम्बन्ध)-का त्याग करानेमें ही है।.......भगवत्प्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं, प्रत्युत जड़ताके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से होती है। अत: जो साधक अपने साधनके बलसे भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। (१२। ८ वि.)

५१. जबतक हृदयमें जड़ताका किंचिन्मात्र भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति कठिन है। (१२। ८ वि.)

५२. साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्‌के वियोगको सहन कर रहा है। यदि उसको भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाय, तो भगवान्‌के मिलनेमें देरी नहीं होगी। (१२। ९)

५३. साधकका यदि आरम्भसे ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मेरेको तो केवल भगवत्प्राप्ति ही करनी है (चाहे लौकिक दृष्टिसे कुछ भी बने या बिगड़े) तो कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी

भी मार्गसे उसे बहुत जल्दी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। (१२। ९)

५४. भगवान् किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते। भगवान्‌के महत्त्वके सामने सृष्टिमात्रका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्तिके द्वारा अर्पित सीमित सामग्री और साधनसे उनका मूल्य चुकाया ही कैसे जा सकता है! अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी योग्यता, सामर्थ्य आदिको मेरी प्राप्तिमें लगा दे अर्थात् अपने पास बचाकर कुछ न रखे और इन योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना भी न समझे। (१२। १०)

५५. सम्पूर्ण कर्मोंके फल (फलेच्छा)-का त्याग भगवत्प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है।........केवल आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेसे भी परमशान्ति अथवा भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। (१२। ११)

५६. नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ 'परमात्माकी प्राप्ति' कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्यप्राप्तकी प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिये। वह प्राप्ति जड़तासे नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है। ममता, कामना और आसक्ति ही जड़ता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदिको 'मैं' या 'मेरा' मानना ही जड़ता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते-करते जब जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, तभी नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है। (१२। १२ वि.)

५७. भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यताको साधनमें लगा दे।........वास्तवमें अपने उद्योग, बल, ज्ञान आदिकी कीमतसे भगवान्‌की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अगर भगवान्‌के दिये हुए बल, ज्ञान आदिको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही लगा दिया जाय तो वे साधकको कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं। (१२। १२ वि.)

५८. संसारमें भगवत्प्राप्ति ही सबसे सुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है। (१२। १२ वि.)

५९. भगवान्‌की प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। इन दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनके तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। फिर भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठामें विशेष शक्ति है। (१२। १२ वि.)

६०. परमात्माकी प्राप्ति होनेपर असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। (१२। २०)

६१. सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि साधक परमात्माको सर्वत्र परिपूर्ण मान ले। ऐसा मानना भी जाननेकी तरह ही है।......'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लेनेपर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे परे जो अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा हैं, उनका अनुभव हो जायगा। (१३। १५)

६२. स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-वर्णन करनेसे नहीं। (१३। १५ परि.)

६३. परमात्मतत्त्व सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें है, सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। वह सबमें एक रूपसे, समान रीतिसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। अब उसको प्राप्त करना कठिन है तो सुगम क्या होगा? जहाँ

चाहो, वहीं प्राप्त कर लो। (१३। २८)

६४. परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं, केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवमें बाधा लग रही है। (१५। ४)

६५. परमात्मप्राप्ति किसी भी कर्म (साधन, तपस्यादि)-का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो।.....वास्तवमें त्याग, तपस्या आदिसे जड़ता (संसार और शरीर)-से सम्बन्ध-विच्छेद ही होता है, जो भूलसे माना हुआ है। सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जो तत्त्व सर्वत्र है, सदा है, नित्यप्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है—उसकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है। (१५। ४)

६६. परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वत:सिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता।...... जिस परमात्माको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मा नित्य-निरन्तर अपनेमें ही मौजूद हैं! (१५। ४ परि.)

६७. परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना—**'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।'** छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध न जोड़ना, उसको अस्वीकार करना। अत: संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है। (१५। ४ परि.)

६८. जिसे मालिकपना या अधिकार प्यारा लगता है, वह परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदिका स्वामी बनता है, वह अपने स्वामीको भूल जाता है—यह नियम है। (१५।८)

६९. अपने-आपमें स्थित तत्त्व ('है')-का अनुभव अपने-आप ('है')-से ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि ('नहीं')-से बिलकुल नहीं।........अपने-आपमें स्थित तत्त्वका अनुभव करनेके लिये किसी दूसरेकी सहायता लेनेकी जरूरत भी नहीं है। (१५। ११ मा.)

७०. जड़ताके आश्रयसे चिन्मयतामें स्थितिका अनुभव हो ही नहीं सकता। जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर)-का आश्रय लेकर जो परमात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहते हैं, वे पुरुष समाधि लगाकर भी परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते; क्योंकि समाधि भी कारणशरीरके आश्रित रहती है। (१५। ११ मा.)

७१. **'आत्मनि अवस्थितम्'** पदोंमें भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मामें स्थित (सर्वव्यापी) बताया है। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको ये चार बातें दृढ़तापूर्वक मान लेनी चाहिये—१. परमात्मा यहाँ हैं, २. परमात्मा अभी हैं, ३. परमात्मा अपनेमें हैं, ४. परमात्मा अपने हैं। (१५। ११ मा.)

७२. यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं। (१५। ११ परि.)

७३. पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्डित, निर्धन-धनवान्, रोगी-नीरोग आदि कोई भी स्त्री-पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्तिका वह पूरा अधिकारी है। आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्तिकी ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलताकी

है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके बिना रहा न जाय। (१५। १५)

७४. किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदिके बदलेमें परमात्मप्राप्ति होगी—यह बिलकुल गलत धारणा है। किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है—यह सिद्धान्त है।......इसलिये वे किसी साधन आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। इसके सिवाय अगर किसी मूल्य (साधन, योग्यता आदि)-के बदलेमें परमात्माकी प्राप्ति मानी जाय, तो उनसे हमें लाभ भी क्या होगा? क्योंकि उनसे अधिक मूल्यकी वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहलेसे है ही! (१५। १५ वि.)

७५. अगर जड़ताका आश्रय और विश्वास छूट जाय तथा एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय और विश्वास हो जाय, तो परमात्मप्राप्तिमें देरी लग ही नहीं सकती। (१५। १५ वि.)

७६. परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण यही है कि हम उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार नहीं करते और उसको अपना नहीं मानते। अगर हम उसकी सत्ता, महत्ता और अपनेपनको स्वीकार करते तो फिर वह हमें अप्राप्त नहीं लगता। (१५। २० अ.सा.)

७७. परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं। (१८। ४४)

७८. जबतक असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य नहीं आती। (१८। ५१—५३)

७९. काम, भय, द्वेष आदि किसी तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वंचित रह गये! (१८। ६६ वि.)

८०. जो भगवान्‌से मुक्ति चाहता है, उसे भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको दे देते हैं। (१८। ६६ वि.)

८१. सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी भी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है, तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! (१८। ६६)

***

भय

१. जिसके भीतर नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय है, आदर है और जिसके भीतर अधर्म है, अन्याय है, दुर्भाव है, उसके भीतर वास्तविक बल नहीं होता। वह भीतरसे खोखला होता है और वह कभी निर्भय नहीं होता। परन्तु जिसके भीतर अपने धर्मका पालन है और भगवान्‌का आश्रय है, वह कभी भयभीत नहीं होता। (१। १०)

२. जिनके हृदयमें अधर्म, पाप, अन्याय नहीं है अर्थात् जो धर्मपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, उनका हृदय मजबूत होता है, उनके हृदयमें भय नहीं होता।......परन्तु जो अधर्म, पाप, अन्याय आदि करते हैं, उनके हृदय स्वाभाविक ही कमजोर होते हैं। उनके हृदयमें निर्भयता,

नि:शंकता नहीं रहती। उनका खुदका किया पाप, अन्याय ही उनके हृदयको निर्बल बना देता है। अधर्म अधर्मीको खा जाता है। (१। १९)

३. शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेसे ही रोगका, निन्दाका, अपमानका, मरने आदिका भय पैदा होता है। परन्तु जब मनुष्य शरीरके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनकी मान्यताको छोड़ देता है, तब उसमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता। (६। १४)

४. जिस-किसीको जहाँ-कहीं जिस-किसीसे भी भय होता है, वह शरीरमें अहंता-ममता होनेसे ही होता है। शरीरमें अहंता-ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु (प्राणों)-को रखना चाहता है। यही मनुष्यकी मूर्खता है और यही आसुरी सम्पत्तिका मूल है। परन्तु जो भगवान्की तरफ चलनेवाले हैं, उनका प्राणोंमें मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है और एकमात्र भगवान्से प्रेम रहता है। इसलिये वे निर्भय हो जाते हैं। उनका भगवान्की तरफ चलना दैवी सम्पत्तिका मूल है। (११। ४९)

५. इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। (१२। १५)

६. सभी भय केवल शरीर (जड़ता)-के आश्रयसे ही पैदा होते हैं। भक्त सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदा-सर्वदा भयरहित होता है। साधकको भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित नहीं हो जाता। (१२। १५)

७. सर्वत्र परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप परमात्मासे विमुख होनेपर अन्धकारस्वरूप संसारकी स्वतन्त्र सत्ता सर्वत्र दीखने लग जाती है और तरह-तरहके भय सताने लग जाते हैं। परन्तु वास्तविक बोध होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और सब भय मिट जाते हैं। (१३। ३४)

८. शरीरके साथ सम्बन्ध माननेके कारण ही उस (जीव)-को मरनेका भय लगने लगता है; क्योंकि शरीर मरनेवाला है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे, तो फिर न तो नित्य बने रहनेकी इच्छा होगी और न मरनेका भय ही होगा। (१४। ५ वि.)

९. मनुष्यशरीर प्राप्त करके यह जीव जबतक करनेयोग्यको नहीं करता, जाननेयोग्यको नहीं जानता और पानेयोग्यको नहीं पाता, तबतक वह सर्वथा अभय नहीं हो सकता; उसके जीवनमें भय रहता ही है। (१६। १)

१०. भगवान्की तरफ चलनेवाला साधक भगवान्पर जितना-जितना अधिक विश्वास करता है और उनके आश्रित होता है, उतना-ही-उतना वह अभय होता चला जाता है। (१६। १)

११. भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़नेपर, भगवान्को ही अपना माननेपर शरीर, कुटुम्ब आदिमें ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे मरनेका भय नहीं रहता और साधक अभय हो जाता है। (१६। १)

१२. मनुष्य जब करनेलायक कार्यसे च्युत होकर अकार्यमें प्रवृत्त होता है, तब उसके मनमें अपनी मान-बड़ाईकी हानि और निन्दा-अपमान होनेकी आशंकासे भय पैदा होता है। (१८। ३०)

१३. आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, पतंजलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है, वह भय भी सर्वथा मिट जाता है। (१८। ६६)

१४. भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इसलिये इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता।.... भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। अत: भगवान्के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है? (१८। ६६)

***

भोग

१. शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय, शरीरका आराम, मान और नामकी बड़ाई—इन (आठों)-के द्वारा सुख लेनेका नाम 'भोग' है। (२। ४४)

२. जो भोग भोगे जा चुके हैं, जो भोग भोगे जा सकते हैं, जिन भोगोंको सुन रखा है और जो भोग सुने जा सकते हैं, उनके संस्कारोंके कारण बुद्धिमें जो मलिनता रहती है, उस मलिनताके कारण संसारसे सर्वथा विरक्त होकर एक परमात्माकी तरफ चलना है—ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं होता। ऐसे ही संसारकी अनेक विद्याओं, कलाओं आदिका जो संग्रह है, उससे 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं जानकार हूँ'—ऐसा जो अभिमानजन्य सुखका भोग होता है, उसमें आसक्त मनुष्योंका भी परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता। (२। ४४)

३. वास्तवमें सांसारिक पदार्थ परमात्माकी तरफ चलनेमें बाधा नहीं देते, प्रत्युत वर्तमानमें जो भोगोंका महत्त्व अन्त:करणमें बैठा हुआ है, वही बाधा देता है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। (२। ४४ वि.)

४. भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे अन्त:करणमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म खिंचाव, प्रियता, मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है।.....तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, सन्तकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो सकता है। (२। ५९ परि.)

५. जबतक अन्त:करणमें किंचिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता। परमात्माके अलौकिक रसकी तो बात ही क्या, परमात्माकी प्राप्ति करनी है—यह निश्चय भी नहीं होता (गीता २। ४४)। (२। ५९ परि.)

६. रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परन्तु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता (गीता २। ७०)। (२। ५९ परि.)

७. नाशवान् रसका भोग करनेसे परिणाममें जड़ता, अभाव, शोक, रोग, भय, उद्वेग आदि अनेक विकार पैदा होते हैं। इन विकारोंसे भोगी मनुष्य बच नहीं सकता; क्योंकि यह भोगोंका अवश्यम्भावी परिणाम है। (२।५९ परि.)

८. भोगबुद्धिसे किया हुआ विषय-सेवन ही पतनका कारण होता है। (२। ६४)

९. सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे भोग भोगना और मनसे उनके चिन्तनका रस (सुख) लेना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बाहरसे रागपूर्वक भोग भोगनेसे जैसा संस्कार पड़ता है, वैसा ही संस्कार मनसे भोग भोगनेसे अर्थात् मनसे भोगोंके चिन्तनमें रस लेनेसे पड़ता है।...... मनसे भोग भोगना साधकके लिये बहुत नुकसान करनेवाली बात है। वास्तवमें मनसे भोगोंका त्याग ही वास्तविक त्याग है (गीता २। ६४)। (३। ६ परि.)

१०. 'सांसारिक सुखोंको भोगो'—ऐसी आज्ञा या विधान किसी भी सत्-शास्त्रमें नहीं है। समाज भी स्वच्छन्द भोग भोगनेकी आज्ञा नहीं देता। इसके विपरीत दूसरोंको सुख पहुँचानेकी आज्ञा या विधान शास्त्र और समाज दोनों ही देते हैं। (३। १०)

११. जो अपनी कामना-पूर्तिके लिये आसक्तिपूर्वक भोग भोगता है, वह स्वयं तो अपनी हिंसा (पतन) करता ही है, साथ ही जिनके पास भोग-सामग्रीका अभाव है, उनकी भी हिंसा करता है अर्थात् दु:ख देता है।.....स्वयं सुख भोगनेवाला व्यक्ति हिंसासे कभी बच नहीं सकता। (३। ११)

१२. जो प्रतिक्षण मर रहा है—नष्ट हो रहा है, उस संसारसे सुख लेनेकी इच्छा कैसे हो सकती है? पर 'संसार प्रतिक्षण मर रहा है' इस जानकारीका तिरस्कार करनेसे ही सांसारिक सुखभोगकी इच्छा होती है। (३। ३७)

१३. वास्तविक तत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही नहीं जा सकता और रागपूर्वक सांसारिक भोग भोगनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो ही जाता है। (३। ३७)

१४. भोगबुद्धिसे सांसारिक भोग भोगनेवाला मनुष्य हिंसारूप पापसे बच ही नहीं सकता। वह अपनी भी हिंसा (पतन) करता है और दूसरोंकी भी।.......भोगबुद्धिसे भोग भोगनेवाला पुरुष अपना तो पतन करता है, भोग्य वस्तुओंका दुरुपयोग करके उनका नाश करता है, और अभावग्रस्त पुरुषोंकी हिंसा करता है। (३। ३७)

१५. शरीर-निर्वाहमात्रके लिये पदार्थोंको स्वीकार करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। शरीर-निर्वाहमें भी शास्त्रोंमें केवल अपने लिये भोग भोगनेका निषेध है। अपने माता, पिता, गुरु, बालक, स्त्री, वृद्ध आदिको शरीर-निर्वाहके पदार्थ पहले देकर फिर स्वयं लेने चाहिये। (३। ३७)

१६. पदार्थको नित्य और स्थिर माने बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, साधक भी भोगोंको नित्य और स्थिर माननेपर ही उनमें फँसता है। (३। ३९)

१७. कामनाके कारण ही भोगोंमें सुख प्रतीत होता है। कामना न हो तो भोगपदार्थ सुख नहीं दे सकते। (३। ३९)

१८. किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य उत्पन्न होती है—यह नियम है।........ मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसे स्थायी नहीं बनाता। वह अरुचिको ही तृप्ति (फल) मान लेता है। परन्तु वास्तवमें अरुचिमें थकावट अर्थात् भोगनेकी शक्तिका अभाव ही होता है। (४। १ वि.)

१९. जो सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, ऐसे मनुष्योंके द्वारा 'श्रवण' होता है शास्त्रोंका, 'मनन' होता है विषयोंका, 'निदिध्यासन' होता है रुपयोंका और 'साक्षात्कार' होता है दु:खोंका! (४। ३३ टि.)

२०. सुख-सुविधा और मान-बड़ाई मिलनेपर प्रसन्न होना भोग है। (५। २२)

२१. अपनी बुद्धिमें जिस सिद्धान्तका आदर है, दूसरे व्यक्तिसे उसी सिद्धान्तकी प्रशंसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, सुख होता है, वह भी एक प्रकारका भोग ही है। (५। २२)

२२. परमात्माके सिवाय जितने भी प्रकृतिजन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ, अवस्थाएँ आदि हैं, उनसे किसी भी प्रकृतिजन्य करणके द्वारा सुखकी अनुभूति करना भोग ही है। (५। २२)

२३. शास्त्रनिषिद्ध भोग तो सर्वथा त्याज्य हैं ही, शास्त्रविहित भोग भी परमात्मप्राप्तिमें बाधक होनेसे त्याज्य ही हैं। कारण कि जड़ताके सम्बन्धके बिना भोग नहीं होता, जब कि परमात्मप्राप्तिके लिये जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। (५। २२)

२४. सभी भोग दोषजनित होते हैं। अन्त:करणमें कोई दोष न हो तो कोई भोग नहीं होता। (५। २२ परि.)

२५. सुखके भोगीको नियमसे दु:ख भोगना ही पड़ता है। (५। २२ परि.)

२६. साधकको चाहिये कि अनुकूल वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मिलनेकी इच्छा न करे और बिना इच्छाके अनुकूल वस्तु आदि मिल भी जाय तो उसमें राजी न हो। ऐसा होनेसे इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति नहीं होगी। (६। ४)

२७. वास्तवमें भोगी मनुष्य अपना जितना नुकसान करता है, उतना शत्रु भी नहीं कर सकता। (६। ६ परि.)

२८. मांस आदि सर्वथा निषिद्ध वस्तु खानेसे पतन तो होता ही है, पर उससे भी ज्यादा पतन होता है—रागपूर्वक विषयभोगोंको भोगनेसे।.........मांस आदि खानेसे जो पाप लगता है, वह दण्ड भोगकर नष्ट हो जायगा। वह पाप आगे नये पापोंमें नहीं लगायेगा। परन्तु रागपूर्वक विषयभोगोंका सेवन करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरतक विषयभोगोंमें और उनकी रुचिके परिणामस्वरूप पापोंमें लगाते रहेंगे। (६। ३६)

२९. जैसे स्त्री वास्तवमें जनन-शक्ति है; परन्तु स्त्रीमें आसक्त पुरुष स्त्रीको मातृरूपसे नहीं देख सकता, ऐसे ही संसार वास्तवमें भगवत्स्वरूप है; परन्तु संसारको अपना भोग्य माननेवाला भोगासक्त पुरुष संसारको भगवत्स्वरूप नहीं देख सकता। यह भोगासक्ति ही जगत्‌को धारण कराती है अर्थात् जगत्‌को धारण करानेमें हेतु है। (७। ५)

३०. भोगी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगता, इसलिये 'अर्थार्थी' तो भगवान्‌का भक्त हो सकता है, पर 'भोगार्थी' भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। कारण कि भोगार्थीमें संसारकी लिप्तता अधिक होती है और अर्थार्थीमें लिप्तता कम होती है तथा भगवान्‌की मुख्यता होती है। (७। १६ परि.)

३१. जबतक मनुष्योंकी पदार्थोंमें भोगबुद्धि रहती है, तबतक उनको उन पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप समझमें नहीं आता। परन्तु जब भोगबुद्धि सर्वथा हट जाती है, तब केवल भगवत्स्वरूप ही देखनेमें आ जाता है। (७। १९)

३२. जब मनुष्य भोगबुद्धिसे भोग भोगता है, भोगोंसे सुख लेता है, तब अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका विनाश होता है। (१०। ७ वि.)

३३. जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्‌का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है। (१०। ४० परि.)

३४. देहाभिमान और भोगोंकी पृथक् सत्ता माननेके कारण ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं। (१२। ३-४)

३५. राजस मनुष्य अपने सुखके लिये बढ़िया-बढ़िया सुख भोगता है तो उसको देखकर जिनको वे भोग नहीं मिलते, उनके हृदयमें जलन होती है, यह हिंसा उस भोग भोगनेवालेको ही लगती है। कारण कि कोई भी भोग बिना हिंसाके होता ही नहीं। (१८। २७)

३६. जिन्होंने भोग नहीं भोगे हैं, जिनके पास भोग-सामग्री नहीं है, जो संसारसे विरक्त हैं, उनकी अपेक्षा जिन्होंने बहुत भोग भोगे हैं और भोग रहे हैं, उनमें क्या विलक्षणता, विशेषता आयी? कुछ नहीं, प्रत्युत भोग भोगनेवाले तो शोक-चिन्तामें डूबे हुए हैं। (१३। ८)

३७. सांसारिक स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता आदि कितने ही प्राप्त हो जायँ, यहाँतक कि संसारके समस्त भोग एक ही मनुष्यको मिल जायँ, तो भी उनसे मनुष्यको तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीव स्वयं अविनाशी है और सांसारिक भोग नाशवान् हैं। नाशवान्से अविनाशी कैसे तृप्त हो सकता है? (१५। ३ वि.)

३८. प्रत्येक भोगसे स्वाभाविक उपरति होती है—यह सबका अनुभव है। भोगोंमें प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि स्वत: होती है।.... भोग तो स्वत: छूटते हैं, उनसे अरुचि स्वत: होती है, पर आदत बिगड़नेसे जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है और 'ईश्वर' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशताका अनुभव करता रहता है। (१५। ८ परि.)

३९. भोग-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेनेकी इच्छासे जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धैर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग पैदा हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्राय: दु:ख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम विचारशील व्यक्तिके प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। (१५। ९ वि.)

४०. भोग-सामग्री, भोक्ता और भोगरूप क्रिया—इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। (१५। १०)

४१. जो रागपूर्वक, भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है, वह कभी सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता। वह अपना पतन तो करता ही है, जिन पदार्थों आदिको वह भोगता है, उनका भी नाश करता है। (१६। २)

४२. जो संसारके सीमित पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपने) न होनेपर भी व्यक्तिगत मानकर सुखबुद्धिसे भोगता है, वह हिंसा ही करता है। (१६। २)

४३. भोग और संग्रहमें लगा हुआ मनुष्य अन्धा हो जाता है। वह न तो संसारको जान सकता है और न परमात्माको ही जान सकता है। (१६। ११ परि.)

४४. सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है। परन्तु विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—**'न तेषु रमते बुध:'** (गीता ५। २२)। परिणामको

देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है।.... आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग होता है। (१८। ३८ परि.)

❋❋❋

मन

१. लोगोंके भीतर प्राय: यह बात बैठी हुई है कि मन लगनेसे ही भजन-स्मरण होता है, मन नहीं लगा तो राम-राम करनेसे क्या लाभ? परन्तु गीताकी दृष्टिमें मन लगना कोई ऊँची चीज नहीं है। गीताकी दृष्टिमें ऊँची चीज है—समता। (२। ४० वि.)

२. मन एकाग्र होनेसे सिद्धियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, पर कल्याण नहीं होता। (२। ४० वि.)

३. कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। (२। ५५ परि.)

४. वास्तवमें मनका न लगना उतना बाधक नहीं है, जितने बाधक राग-द्वेष हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मनकी एकाग्रताको महत्त्व न दे और जहाँ-जहाँ राग-द्वेष दिखायी दें, वहाँ-वहाँसे उनको तत्काल हटा दे। राग-द्वेष हटानेपर मन लगना भी सुगम हो जायगा। (३। ३४)

५. शुद्ध करनेसे अन्त:करण शुद्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्ध करनेसे अन्त:करणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्त:करण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्त:करणकी शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ममता ही खास अशुद्धि है। (५। ११ परि.)

६. जबतक मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके आश्रयका त्याग नहीं करता और मनसे उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तबतक वह कितना ही अक्रिय हो जाय, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध कर ले, पर वह योगी नहीं हो सकता। हाँ, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध होनेसे उसको तरह-तरहकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर कल्याण नहीं हो सकता। (६। १)

७. चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी तभी होता है, जब वह कर्मफलका त्याग कर देता है। कारण कि जबतक कर्मफलकी चाहना है, तबतक वृत्तिनिरोध करनेसे सिद्धियोंकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कल्याण नहीं हो सकता। (६। १ परि.)

८. साधककी यह शिकायत रहती है कि भगवान्‌में मन नहीं लगता, तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि साधक संसारसे सम्बन्ध तोड़कर ध्यान नहीं करता, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध जोड़कर करता है। अत: अपने सुख, सेवाके लिये भीतरसे किसीको भी अपना न माने अर्थात् किसीमें ममता न रखे; क्योंकि मन वहीं जायगा, जहाँ ममता होगी। इसलिये उद्देश्य केवल परमात्माका रहे और सबसे निर्लिप्त रहे तो भगवान्‌में मन लग सकता है। (६।१०)

९. जिस किसी आसनसे बैठे, उसीमें लगातार तीन घण्टेतक बैठा रहे। उतने समयतक इधर-उधर हिले-डुले नहीं। ऐसा बैठनेका अभ्यास सिद्ध होनेसे मन और प्राण स्वत:-स्वाभाविक शान्त (चंचलतारहित) हो जाते हैं। कारण कि मनकी चंचलता शरीरको स्थिर नहीं होने देती और शरीरकी चंचलता, क्रिया-प्रवणता मनको स्थिर नहीं होने देती। (६।१२)

१०. जब यह पता लगे कि मन पदार्थोंका चिन्तन कर रहा है, तभी ऐसा विचार करे कि चिन्तनकी वृत्ति और उसके विषयका आधार और प्रकाशक परमात्मा ही हैं। यही परमात्मामें मन लगाना है। (६।२६)

११. 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं शरीर-संसारका नहीं हूँ और शरीर-संसार मेरे नहीं हैं'—इस तरह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे भगवान्‌का चिन्तन स्वाभाविक ही होने लगेगा, चिन्तन करना नहीं पड़ेगा। (६।२६)

१२. मनको परमात्मामें लगानेका एक बहुत श्रेष्ठ साधन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको ही देखे अथवा मनमें जो-जो चिन्तन आये, उसको परमात्माका ही स्वरूप समझे। (६।२६ परि.)

१३. एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक परमात्माकी सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। (६।२६ परि.)

१४. मनकी चंचलता भी तभीतक बाधक होती है, जब तक स्वयंमें कुछ भी कामका अंश रहता है। कामका अंश सर्वथा निवृत्त होनेपर मनकी चंचलता किंचिन्मात्र भी बाधक नहीं होती। (६।३४)

१५. जब मन शुद्ध हो जाता है, तब वह स्वतः वशमें हो जाता है। मनमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग रहना ही मनकी अशुद्धि है। जब साधकका एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाता है, तब उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग हट जाता है और मन शुद्ध हो जाता है। (६।३६)

१६. व्यवहारमें साधक यह सावधानी रखे कि कभी किसी अंशमें पराया हक न आ जाय; क्योंकि पराया हक लेनेसे मन अशुद्ध हो जाता है। (६।३६)

१७. चित्तकी चंचलताको रोकनेके विषयमें भगवान् ज्यादा नहीं बोले; क्योंकि चित्तको निरुद्ध करना भगवान्‌का ध्येय नहीं है।......स्वयं केवल परमात्मतत्त्वको चाहता है, तो उसको मनको एकाग्र करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता प्रकृतिके कार्य मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी, मनसे अपनापन हटानेकी है। (६।३६ मा.)

१८. वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये मनका निग्रह करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना उसको वशमें करना अर्थात् शुद्ध करना आवश्यक है। शुद्ध करनेका तात्पर्य है मनमें विषयोंका राग न रहना। (६।३६ परि.)

१९. वास्तवमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है, प्रत्युत सबमें भगवद्‌बुद्धि न होना और राग-द्वेष होना बाधक है। जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक सबमें भगवद्‌बुद्धि नहीं होती और जबतक सबमें भगवद्‌बुद्धि नहीं होती अर्थात् भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होता। (६।३६ परि.)

२०. वृत्तिका निरोध करनेसे कुछ कालके लिये मनका निरोध होगा, फिर व्युत्थान हो जायगा। अगर दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहे, तो फिर व्युत्थानका प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। कारण कि दूसरी सत्ता न हो तो मन है ही नहीं! (६।३६ परि.)

२१. मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार जब स्वयंका भगवान्‌में अपनापन हो जाता है, तब मन स्वतः ही भगवान्‌में लग जाता है, तल्लीन हो जाता है। (६।४७)

२२. भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन अन्य जगह कैसे जायगा? क्यों जायगा? कहाँ जायगा? (८।१४ परि.)

२३. जहाँ स्वयं भगवान्‌में नहीं लगता, प्रत्युत 'मैं तो संसारी हूँ', 'मैं तो गृहस्थ हूँ'—इस प्रकार स्वयंको संसारमें लगाकर चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहता है, उसका चित्त भगवान्‌में निरन्तर नहीं लगता। तात्पर्य है कि स्वयं तो संसारी बना रहे और चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहे, तो भगवान्‌में चित्त लगना असम्भव-सा है। (१०।९)

२४. स्वयंका दृढ़ उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होनेपर मन-बुद्धि स्वत: भगवान्‌में लगते हैं। इसके विपरीत स्वयंका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न हो तो मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका यत्न करनेपर भी वे पूरी तरह भगवान्‌में नहीं लगते। (१२।२)

२५. साधकसे भूल यह होती है कि वह स्वयं भगवान्‌में न लगकर अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका अभ्यास करता है। स्वयं भगवान्‌में लगे बिना मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाना कठिन है। इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लगते। मन-बुद्धि एकाग्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयंके भगवान्‌में लगनेसे ही होगा। (१२।२)

२६. जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, उनके मन-बुद्धि भी, वे जिस विषयमें लगाना चाहेंगे, उस विषयमें लग सकते हैं। उस विषयमें मन-बुद्धि लग जानेपर उन्हें सिद्धियाँ तो प्राप्त हो सकती हैं, पर (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य न होनेसे) भगवत्प्राप्ति नही हो सकती। (१२।८)

२७. मन-बुद्धि प्रकृतिकी जातिके हैं अर्थात् वे प्रकृतिके अंश हैं, पर हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। अत: स्वयं और मन-बुद्धिमें जातीय भिन्नता है। आकर्षण एवं मिलन सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं—यह नियम है। इसलिये मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। (१२।८ परि.)

२८. जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं।.......जैसे सुनार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसको अग्निमें तपाता है तो सोनेमें मिला हुआ विजातीय पदार्थ (खोट) अलग हो जाता है और शुद्ध सोना रह जाता है, ऐसे ही भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि अलग हो जाते हैं और स्वयं भगवान्‌में मिल जाता है अर्थात् केवल भगवान् रह जाते हैं।..... भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में लगते नहीं, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। (१२।८ परि.)

२९. प्रेममें मन लगता है और श्रद्धामें बुद्धि लगती है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा होना अर्थात् संसारकी प्रियता और महत्ता न रहकर केवल भगवान्‌में ही प्रियता और महत्ता हो जाना। (१२।८ परि.)

३०. 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रखना अपने-आपको भगवान्‌में लगाना है। साधकोंसे भूल यह होती है कि वे अपने-आपको भगवान्‌में न लगाकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेकी कोशिश करते हैं। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस वास्तविकताको भूलकर 'मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ' आदि भी मानते रहें और मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाते रहें तो यह दुविधा कभी मिटेगी नहीं, और बहुत प्रयत्न करनेपर भी मन-बुद्धि जैसे भगवान्‌में लगने चाहिये, वैसे लगेंगे नहीं। (१५।७)

३१. भगवान्‌में केवल मन-बुद्धि लगानेकी अपेक्षा अपने-आपको भगवान्‌में लगाना श्रेष्ठ है। अपने-आपको भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि स्वत: सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लग जाते हैं। (१५।७)

३२. मनका संयोग होनेपर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघनेका ज्ञान होता है।

जीवात्माको मनके बिना इन्द्रियोंसे सुख-दुःख नहीं मिल सकता। (१५।९)

३३. मनुष्य अपने मनमें निरन्तर कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, जिसे संकल्प-विकल्प, मनोरथ या मनोराज्य कहते हैं। निद्राके समय यही 'स्वप्न' होकर दीखने लगता है। मनपर बुद्धिका परदा (प्रभाव) रहनेके कारण हम मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको प्रकट नहीं करते। परन्तु बुद्धिका परदा हटनेपर मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको कहना या उसके अनुसार आचरण करना 'पागलपन' कहलाता है। इस प्रकार मनोराज्य, स्वप्न तथा पागलपन—ये तीनों एक ही हैं। (१५।९)

३४. किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक तथा बुद्धि श्रद्धापूर्वक लगती है। (१५।१९)

३५. मनको शुद्ध बनानेके लिये भोजन शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। (१७।१० वि.)

३६. मनमें अशान्ति, हलचल आदि कब होते हैं? जब मनुष्य धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि नाशवान् चीजोंका सहारा ले लेता है। (१७।१६)

३७. भगवान्का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान्का हूँ' इस प्रकार अहंता भगवान्में लग जायगी। अहंता भगवान्में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्में लग जाता है। (१८।५७)

३८. अपनेको भगवान्का मान लेनेपर भगवान्में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है। जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है और जहाँ प्रियता होती है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है। (१८।६५)

***

मनुष्य

१. भगवान्ने मनुष्यको विवेक दिया है, नया कर्म करनेका अधिकार दिया है। अतः यह कर्म करनेमें अथवा न करनेमें, अच्छा करनेमें अथवा मन्दा करनेमें स्वतन्त्र है। (१।४४)

२. मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको मैं-मेरा मानना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है। (२।११ परि.)

३. यह मनुष्ययोनि सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं मिली है, प्रत्युत सुख-दुःखसे ऊँचा उठकर महान् आनन्द, परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये मिली है, जिस आनन्द, सुख-शान्ति प्राप्त होनेके बाद और कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता (गीता ६। २२)। (२।१५)

४. मनुष्यमें एक इच्छाशक्ति है, एक प्राणशक्ति है। इच्छाशक्तिके रहते हुए प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, तब नया जन्म होता है। अगर इच्छाशक्ति न रहे तो प्राणशक्ति नष्ट होनेपर भी पुनः जन्म नहीं होता। (२।२२ परि.)

५. परमदयालु प्रभुने कृपा करके इस मनुष्यशरीरमें एक ऐसी विलक्षण विवेकशक्ति दी है, जिससे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय, अपना उद्धार कर ले, सबकी सेवा करके भगवान्तकको अपने वशमें कर ले। इसीमें मनुष्यशरीरकी सार्थकता है। (२।४४)

६. पशु-पक्षी तो भोगयोनि है; अतः उनके सामने कर्तव्यका प्रश्न ही नहीं है। परन्तु मनुष्यजन्म तो केवल अपने कर्तव्यका पालन करके अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं। (२।४४ वि.)

७. मनुष्यशरीरमें दो बातें हैं—पुराने कर्मोंका फलभोग और नया पुरुषार्थ। दूसरी योनियोंमें केवल पुराने

कर्मोंका फलभोग है।.......मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल-प्राप्तिमें परतन्त्र है। परन्तु अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके मनुष्य उसको अपने उद्धारकी साधन-सामग्री बना सकता है; क्योंकि यह मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये ही मिला है।.......तात्पर्य यह हुआ कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियोंके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म—ये दोनों ही भोगरूपमें हैं, और मनुष्यके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म (पुरुषार्थ)—ये दोनों ही उद्धारके साधन हैं। (२।४७)

८. मनुष्योंमें भगवान्‌की कृपासे वह विवेक-शक्ति जाग्रत् है, जिससे वह अपना कल्याण कर सकता है, प्राणिमात्रकी सेवा कर सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। (२।६९)

९. मात्र मनुष्य परमात्मप्राप्तिके अधिकारी हैं; क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। (३।अव.)

१०. वास्तवमें मनुष्यकी स्थिति उसके उद्देश्यके अनुसार होती है, क्रियाके अनुसार नहीं। (३।९)

११. यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीको मना नहीं है, तथापि कल्याणका मुख्य एवं स्वतः अधिकारी मनुष्य ही है। (३।११ परि.)

१२. मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो बुद्धिपूर्वक सभीको अपने कर्तव्यकर्मोंसे तृप्त कर सकता है। अतः सबसे ज्यादा जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। (३।१२)

१३. देवता आदि तो अपने कर्तव्यका पालन करते ही हैं। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो देवताओंमें ही नहीं, प्रत्युत त्रिलोकीभरमें हलचल उत्पन्न हो जाती है और परिणामस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक प्रकोप होने लगते हैं। (३।१२)

१४. मनुष्यको अपने कर्मोंका फल स्वयं भोगना पड़ता है; परन्तु उसके द्वारा किये गये कर्मोंका प्रभाव सम्पूर्ण संसारपर पड़ता है। 'अपने लिये' कर्म करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, और अपने कर्तव्यसे च्युत होनेपर ही राष्ट्रमें अकाल, महामारी, मृत्यु आदि महान् कष्ट होते हैं। अतः मनुष्यके लिये उचित है कि वह अपने लिये कुछ भी न करे, अपना कुछ भी न माने तथा अपने लिये कुछ भी न चाहे। (३।१३)

१५. वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म है। यदि मनुष्य परमात्मप्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्मप्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है। (३।१३ टि.)

१६. अपने सुखके लिये कर्म करना मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत राक्षसपना है, असुरपना है! वास्तवमें मनुष्य वही है, जो दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। (३।१३ परि.)

१७. मनुष्यसे इतर सभी स्थावर-जंगम प्राणियों द्वारा स्वतः यज्ञ (परोपकार) होता रहता है, पर वे यज्ञका अनुष्ठान बुद्धिपूर्वक नहीं कर सकते। बुद्धिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान मनुष्य ही कर सकता है; क्योंकि इसकी योग्यता और अधिकार मनुष्यको ही है। (३।१५ टि.)

१८. प्रत्येक मनुष्यका जीवन-निर्वाह दूसरोंके आश्रित है। अतः हरेक मनुष्यपर दूसरोंका ऋण है, जिसे उतारनेके लिये यथाशक्ति दूसरोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा (हित) करना आवश्यक है। अपने कहलानेवाले शरीरादि सम्पूर्ण पदार्थोंको किंचिन्मात्र भी अपना और अपने लिये न माननेसे मनुष्य ऋणसे मुक्त हो जाता है। (३।२०)

१९. भगवान्‌ने मनुष्यशरीरकी रचना बड़े विचित्र ढंगसे की है। मनुष्यके जीवन-निर्वाह और साधनके लिये जो-जो आवश्यक सामग्री है, वह उसे प्रचुर मात्रामें प्राप्त है। उसमें भगवत्प्रदत्त विवेक भी विद्यमान है। (३।३०)

२०. यह सिद्धान्त है कि नौकर अच्छा हो, पर मालिक तिरस्कारपूर्वक उसे निकाल दे तो फिर उसे अच्छा नौकर नहीं मिलेगा। ऐसे ही मालिक अच्छा हो, पर नौकर उसका तिरस्कार कर दे तो फिर उसे अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। इसी प्रकार मनुष्य परमात्मप्राप्ति किये बिना शरीरको सांसारिक भोग और संग्रहमें ही खो देता है तो फिर उसे मनुष्यशरीर नहीं मिलेगा। (३।४०)

२१. मनुष्यशरीर कर्मयोगका पालन करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करनेके लिये ही मिला है। (४।२)

२२. पवित्रता प्राप्त करनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। ऐसा अधिकार किसी अन्य शरीरमें नहीं है। अलग-अलग लोकोंके अधिकार भी मनुष्यलोकसे ही मिलते हैं। (४।३८)

२३. जो मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व नहीं देते, वे वास्तवमें जन्तु अर्थात् पशु ही हैं; क्योंकि उनके और पशुओंके ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। आकृतिमात्रसे कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य वही है, जो अपने विवेकको महत्त्व देता है। (५।१५)

२४. इन्द्रियोंके द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं; पर उन भोगोंको भोगना मनुष्य-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य सुख-दुःखसे रहित तत्त्वको प्राप्त करना है। जिनको अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान है, वे मनुष्य ही साधक कहलानेयोग्य हैं। (५।१५)

२५. जिसमें लाभका तो अन्त नहीं और दुःखका लेश भी नहीं—ऐसा दुर्लभ पद मनुष्यमात्रको मिल सकता है! परन्तु वह भोग और संग्रहमें लगकर कितना अनर्थ कर लेता है, जिसका कोई पारावार नहीं! (६।२२ परि.)

२६. भगवान्‌ने यह अन्तिम जन्म इस मनुष्यको केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही दिया है। अगर यह मनुष्य अपना कल्याण करनेका अधिकारी नहीं होता, तो भगवान् इसको मनुष्यजन्म ही क्यों देते? अब जब मनुष्यशरीर दिया है, तो यह मुक्तिका पात्र है ही। अतः मनुष्यको अपने उद्धारके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करना चाहिये। (६।४५)

२७. जीव इस मनुष्यजन्ममें ही अपने उद्धारके लिये मिले हुए अवसरका दुरुपयोग करके अर्थात् पाप, अन्याय करके अशुद्ध होता है। स्वर्ग, नरक तथा अन्य योनियोंमें इस प्राणीकी शुद्धि-ही-शुद्धि होती है, अशुद्धि होती ही नहीं। (६।४५ टि.)

२८. परमात्माको उत्साहपूर्वक प्राप्त करनेका जो प्रयत्न है, वही वास्तवमें पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति करनेमें ही मनुष्योंकी मनुष्यता है। उसके बिना मनुष्य कुछ नहीं है अर्थात् निरर्थक है। (७।८)

२९. भगवान्‌का संकल्प मनुष्यमात्रके उद्धारके लिये बना है; अतः मनुष्यमात्र भगवान्‌की प्राप्तिका अधिकारी है। तात्पर्य है कि उस संकल्पमें भगवान्‌ने मनुष्यको अपने उद्धारकी स्वतन्त्रता दी है, जो कि अन्य प्राणियोंको नहीं मिलती; क्योंकि वे भोगयोनियाँ हैं और यह मानवशरीर कर्मयोनि है। वास्तवमें केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही होनेके कारण मानवशरीरको साधनयोनि ही मानना चाहिये। (७।१६)

३०. यह मनुष्यजन्म सम्पूर्ण जन्मोंका आदि जन्म भी है और अन्तिम जन्म भी है।......भगवान्‌ने मनुष्यको पूरा अधिकार दिया है अर्थात् मनुष्यके उद्धारके लिये भगवान्‌ने अपनी तरफसे यह अन्तिम जन्म

दिया है। अब इसके आगे यह नये जन्मकी तैयारी कर ले अथवा अपना उद्धार कर ले—इसमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है। (७।१९)

३१. मनुष्यजन्मकी महिमा तो इसीमें है कि मनुष्य भगवान्‌का आश्रय लेकर अपने कल्याणके मार्गमें लग जाय। (७।१९)

३२. मनुष्य अपने स्वभावको निर्दोष, शुद्ध बनानेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। (७।२०)

३३. मनुष्यशरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको यह स्वतन्त्रता है कि वे अपने अनन्त जन्मोंके संचित कर्म-समुदायका नाश करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी मुक्ति कर सकते हैं। (७।२६)

३४. मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर अपना उद्धार करनेका अधिकार, सामर्थ्य, समझ आदि पूरी सामग्री मिलती है। ऐसा अमूल्य अवसर पाकर भी जो अपना उद्धार नहीं करता, वह अपनी हत्या करता है और इसीसे वह जन्म-मरणमें जाता है। (७।२६)

३५. यह मनुष्यशरीर विवेक-प्रधान है; अतः मनुष्यकी प्रवृत्ति और निवृत्ति पशु-पक्षियोंकी तरह न होकर अपने विवेकके अनुसार होनी चाहिये। परन्तु मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व न देकर राग और द्वेषको लेकर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है, जिससे उसका पतन होता है। (७। २७)

३६. सकाम पुण्यकर्मोंकी मुख्यता होनेसे जीव स्वर्गमें जाते हैं और पापकर्मोंकी मुख्यता होनेसे नरकोंमें जाते हैं। परन्तु भगवान् विशेष कृपा करके पापों और पुण्योंका पूरा फल-भोग न होनेपर भी अर्थात् चौरासी लाख योनियोंके बीचमें ही जीवको मनुष्यशरीर दे देते हैं। (७। २८ वि.)

३७. यह मनुष्यशरीरकी महत्ता है कि वह जो चाहे, वही पा सकता है। ऐसा कोई दुर्लभ पद नहीं है, जो मनुष्यको न मिल सके। जिसमें लाभ (सुख)-का तो कोई अन्त न हो और दुःखका लेश भी न हो, ऐसा पद मनुष्य प्राप्त कर सकता है (गीता ६। २२)। (८। ६ परि.)

३८. सन्त, भक्त आदिके दर्शन, सम्भाषण, चिन्तन आदिका माहात्म्य इस मृत्युलोकके मनुष्योंके लिये ही है। (८। १६)

३९. चर-अचर प्राणी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे कभी-न-कभी मनुष्यजन्ममें आते ही हैं और मनुष्यजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति होती है। (८। २६)

४०. भगवान्‌ने कृपा करके इस मनुष्यको ऐसी शक्ति, योग्यता दी है, जिससे वह सत्संग, विचार, स्वाध्याय आदिके द्वारा विवेक जाग्रत् करके परमात्माको जान सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। (९। ३ वि.)

४१. मनुष्य इसी जन्ममें मुक्त हो सकता है और मुक्तिसे भी बढ़कर प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकता है। (९। ३ परि.)

४२. मनुष्यशरीर पानेके बाद किसी पूर्वकर्मके कारण भविष्यमें इस जीवका दूसरा जन्म होगा—ऐसा कोई विधान भगवान्‌ने नहीं बनाया है, प्रत्युत केवल अपनी प्राप्तिके लिये ही यह अन्तिम जन्म दिया है। (९। ३३)

४३. मनुष्यमें जो कुछ विलक्षणता आती है, वह सब भजन करनेसे ही आती है। (९। ३३)

४४. मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? (१०। ४१ परि.)

४५. भगवान्‌को प्राप्त करके जिसने अपना मनुष्यजीवन सफल (सार्थक) कर लिया है, वही वास्तवमें नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य है। जो मनुष्यशरीरको पाकर सांसारिक भोग और संग्रहमें ही लगा हुआ है, वह नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य नहीं है। (१२। १९)

४६. जिन मनुष्योंमें सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) नहीं है, वे मनुष्य होते हुए भी चौरासी लाख योनियोंवाले प्राणियोंके समान ही हैं अर्थात् जैसे पशु-पक्षी आदि प्राणी खा-पी लेते हैं और सो जाते हैं, ऐसे ही वे मनुष्य भी हैं। (१४। ८)

४७. मनुष्यको चाहिये कि वह रजोगुण और तमोगुणपर विजय प्राप्त करके सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठे। इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है। भगवान्‌ने कृपापूर्वक मनुष्यशरीर देकर इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करनेका पूरा अवसर, अधिकार, योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता दी है। (१४। ११)

४८. अच्छे काम करनेवाला मनुष्य यदि अन्तसमयमें तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मूढ़योनियोंमें भी चला जाय, तो वहाँ भी उसके गुण, आचरण अच्छे ही होंगे, उसका स्वभाव अच्छे काम करनेका ही होगा। (१४। १५)

४९. मनुष्ययोनिमें किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये ही मनुष्यको दूसरी योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य करनेका अथवा पाप-पुण्यसे रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। (१५। २)

५०. भोगोंके परिणामपर दृष्टि रखनेकी योग्यता भी मनुष्यशरीरमें ही है। परिणामपर दृष्टि न रखकर भोग भोगनेवाले मनुष्यको पशु कहना भी मानो पशुयोनिकी निन्दा ही करना है; क्योंकि पशु तो अपने कर्मफल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहा है, पर यह मनुष्य तो निषिद्ध भोग भोगकर पशुयोनिकी तरफ ही जा रहा है। (१५। ३)

५१. वास्तवमें भगवान्‌को अपना जानकर उनके शरण हो जानेसे ही मनुष्य बड़ा बनता है, ऊँचा उठता है। (१५। ७)

५२. मनुष्य निर्बल नहीं है, पराधीन नहीं है, प्रत्युत यह सर्वथा सबल है, स्वाधीन है। (१६। ५ मा.)

५३. जिन प्राणियोंको भगवान् मनुष्य बनाते हैं, उनपर भगवान् विश्वास करते हैं कि ये अपना कल्याण (उद्धार) करेंगे। इसी आशासे वे मनुष्यशरीर देते हैं। भगवान्‌ने विशेष कृपा करके मनुष्यको अपनी प्राप्तिकी सामग्री और योग्यता दे रखी है और विवेक भी दे रखा है। (१६। ६)

५४. पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी, वृक्ष, लता आदि जितने भी जंगम-स्थावर प्राणी हैं, उन सभीमें दैवी और आसुरी-सम्पत्तिवाले प्राणी होते हैं। मनुष्यको उन सबकी रक्षा करनी ही चाहिये; क्योंकि सबकी रक्षाके लिये, सबका प्रबन्ध करनेके लिये ही यह मनुष्य बनाया गया है। (१६। ६)

५५. जीवमात्र परमात्माका अंश है। इसलिये किसी मनुष्यमें रजोगुण-तमोगुणकी प्रधानता देखकर उसे नीचा नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि कौन-सा मनुष्य किस समय समुन्नत हो जाय—इसका कुछ पता नहीं है। (१७। ३ मा.)

५६. अपना कल्याण करनेके उद्देश्यसे मिले हुए अमूल्य शरीरको पाकर भी जो कामना, दम्भ, मूढ़ता आदि दोषोंको पकड़े हुए हैं, वे मनुष्य कहलानेके लायक ही नहीं हैं। (१७। १७)

५७. मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।' (१८। १२ वि.)

५८. जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता ४। १२; १५। २), पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं। (१८। १२ टि.)

५९. प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है। (१८। १२ वि.)

६०. मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्र साधक है। अतः दैवी-सम्पत्तिके जितने भी सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे सभीके अपने होनेसे मनुष्यमात्रके लिये स्वधर्म है। (१८।४७)

६१. मनुष्यका अगर कुछ अपराध हुआ है तो वह यही हुआ है कि उसने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्‌से विमुख हो गया। (१८। ५८)

६२. परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म होना चाहिये; क्योंकि मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। (१८। ५८)

६३. संसारमें कामनाओंकी पूर्ति कर लेना कोई महत्त्वकी, बहादुरीकी बात नहीं है। देवता, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि सभी योनियोंमें कामनाकी पूर्ति करनेका अवसर मिलता है; परन्तु कामनाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्ति करनेका अवसर तो केवल मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। (१८। ६९)

६४. अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जीवको जन्म-मरणसे छुड़ाकर सदाके लिये महान् सुखी करनेके लिये अर्थात् केवल अपनी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्‌ने जीवको मनुष्यशरीर दिया। (१८। ७३)

***

ममता

१. यदि हम निर्मम हो जायँ तो निष्काम होनेकी शक्ति आ जायगी और निष्काम होनेसे असंग होनेकी शक्ति आ जायगी। जब निर्ममता, निष्कामता और असंगता आ जाती है, तब निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता स्वतः आ जाती है। (३। ३७ वि.)

२. नाशवान् पदार्थोंमें ममता ही मल (अपवित्रता) है। (४। १०)

३. विचारपूर्वक देखा जाय तो शरीरादि पदार्थ किसी भी दृष्टिसे अपने नहीं हैं। मालिककी दृष्टिसे देखें तो ये भगवान्‌के हैं, कारणकी दृष्टिसे देखें तो ये प्रकृतिके हैं और कार्यकी दृष्टिसे देखें तो ये संसारके (संसारसे अभिन्न) हैं। इस प्रकार किसी भी दृष्टिसे इनको अपना मानना, इनमें ममता रखना भूल है। (५। ११)

४. जैसे लड़कीसे विवाह होनेपर अर्थात् सम्बन्ध जुड़नेपर सास, ससुर आदि ससुरालके सभी सम्बन्धियोंसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है, ऐसे ही संसारकी किसी भी वस्तु (शरीरादि)-से सम्बन्ध

जुड़नेपर अर्थात् उसे अपनी माननेपर पूरे संसारसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है। (५। ११)

५. वास्तवमें कर्ताका स्वयं निर्मम होना ही आवश्यक है। यदि कर्ता स्वयं निर्मम हो तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब जगहसे ममता सर्वथा मिट जाती है। कारण कि वास्तवमें शरीर, इन्द्रियाँ आदि स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं; अतः इनमें ममता केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। (५। ११)

६. साधारणतः मल, विक्षेप और आवरण-दोषके दूर होनेको अन्तःकरणकी शुद्धि माना जाता है। परन्तु वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि है—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ममताका सर्वथा मिट जाना। (५। ११)

७. अहंतामें भी ममता रहती है। ममता सर्वथा मिटनेपर जब अहंतामें भी ममता नहीं रहती, तब सर्वथा शुद्धि हो जाती है। (५। ११)

८. जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा। (५। १८ परि.)

९. सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र स्वामी भगवान् ही हैं, फिर कोई ईमानदार व्यक्ति सृष्टिकी किसी भी वस्तुको अपनी कैसे मान सकता है?.... मनुष्य जबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिको अपने मानता है, तबतक भगवान्‌को सारे संसारका स्वामी कहना अपने-आपको धोखा देना ही है। (५। २९)

१०. मनुष्यको शरीरादि पदार्थोंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपने माननेका बिलकुल नहीं। (५। २९)

११. प्राकृत पदार्थोंमें जो अपनापन दीखता है, उसका तात्पर्य है कि उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेका दायित्व हमारेपर है। (६। ३)

१२. इस जीवने घर, परिवार, जमीन, धन आदि जिन चीजोंमें ममता कर ली है, अपनापन कर लिया है, उस ममता (अपनापन)-के कारण इस जीवको मरनेके बाद फिर लौटकर आना पड़ता है। (८।१६ वि.)

१३. जब कर्म करनेके साधन शरीर, मन, बुद्धि आदि ही अपने नहीं हैं, तो फिर कर्मोंमें ममता हो ही कैसे सकती है। (१२। ६)

१४. प्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली होती है। (१२। १३)

१५. साधकसे भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थोंसे तो ममताको हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ममता हटानेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। इसीलिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता। (१२। १३)

१६. मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्धरहित ही है। (१३। २२ परि.)

१७. ममताका सम्बन्ध मृत्युके बाद भी बना रहता है। इसी कारण मृत शरीरको जला देनेके बाद भी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे जीव (जिसने शरीरमें ममता की है)-की आगे गति होती है। 'विवेक' (जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष अथवा शरीर-शरीरीकी भिन्नताका ज्ञान) जाग्रत् होनेपर ममताका

नाश हो जाता है। (१५। ३ वि.)

१८. अपनी तरफसे छोड़े बिना शरीरादिमें ममताका सम्बन्ध मरनेपर भी नहीं छूटता। इसलिये मृत शरीरकी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे उस जीवकी आगे गति होती है। इस माने हुए सम्बन्धको छोड़नेमें हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल हैं। यदि शरीरके रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीते-जी ही मुक्त हो जायँ! (१५। ८)

१९. वास्तवमें तो साधकका कर्तव्य वृत्तियोंको शुद्ध करनेका ही होना चाहिये और वह शुद्धि अन्त:करण तथा उसकी वृत्तियोंको अपना न माननेसे बहुत जल्दी हो जाती है; क्योंकि उनको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है। (१६। १)

२०. उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी तरफ आकृष्ट होते ही आसक्ति-ममतारूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्यका शरीर और शरीरकी हड्डियाँतक अधिक अपवित्र हो जाती हैं। (१८। २७)

२१. जिन वस्तुओं, क्रियाओं आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। (१८। ४६)

२२. केवल सांसारिक व्यवहारके लिये वस्तुओंमें अपनापन करना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको सदाके लिये अपना मान लेना दोषी है। (१८। ५१—५३ टि.)

✻✻✻

मुक्ति (कल्याण)

१. जबतक 'मैं देह हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक कितना ही उपदेश सुनते रहें, सुनाते रहें और साधन भी करते रहें, कल्याण नहीं होगा। (२। ११ परि.)

२. माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति (असंगता), स्वाधीनता स्वत:सिद्ध है। (२। १३ परि.)

३. सुख-दु:खके भोगी बनकर हम भोगयोनिके ही पात्र बनते जा रहे हैं, फिर हमें मुक्ति कैसे मिलेगी? हमें भुक्ति (भोग)-की ही रुचि है, तो फिर भगवान् हमें मुक्ति कैसे देंगे? (२। १५)

४. अपने मनका आग्रह छोड़े बिना कल्याण नहीं होता। वह आग्रह चाहे किसी रीतिका हो, पर वह उद्धार नहीं होने देता। (२। ३८ वि.)

५. अपने कल्याणमें अगर कोई बाधा है तो वह है—भोग और ऐश्वर्य (संग्रह)-की इच्छा। (२। ४४ परि.)

६. मनुष्य कर्म-बन्धनसे तभी मुक्त हो सकता है, जब वह संसारसे मिले हुए शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य (बल) संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ न चाहे। (३। ९ परि.)

७. यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधता ही जाता है। कृतकृत्य वही होता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। (३। १२)

८. मुक्ति स्वाभाविक है और बन्धन अस्वाभाविक है। (३। ११)

९. कल्याणके लिये नया काम करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसीको स्वार्थ,

अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करें तो कल्याण हो जायगा। (३। ११ परि.)

१०. हमारेमें जो कुछ भी विशेषता है, वह दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं। अगर सभी मनुष्य ऐसा करने लगें तो कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, सब जीवन्मुक्त हो जायँगे। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया तो अपने घरका क्या खर्च हुआ? मुफ्तमें कल्याण होगा। इसके सिवाय मुक्तिके लिये और कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है। (३। १३ परि.)

११. केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और अपने लिये कुछ न करने तथा कुछ न चाहनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस तरह जब पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और नया ऋण उत्पन्न नहीं होता, तब बन्धनका कोई कारण न रहनेसे मनुष्य स्वतः मुक्त हो जाता है। (३। १९)

१२. यदि मनुष्य जैसा जानता है, वैसा ही मान ले और वैसा ही आचरणमें ले आये तो उसका उद्धार होनेमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। (३। ३०)

१३. शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, कर्म आदि कुछ भी अपना नहीं है—इस वास्तविकताको जान लेनेवाले सभी मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं। (३। ३१)

१४. मनुष्यजीवनमें अन्तकालतक मुक्तिकी सम्भावना रहती है (गीता ८।५)। (३। ३२)

१५. बाँधनेवाली तो कामना, ममता, आसक्ति है, चाहे यह प्रवृत्तिमार्गमें हो, चाहे निवृत्तिमार्गमें हो। यदि कामना, ममता, आसक्ति न हो तो मनुष्य प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग—दोनोंसे स्वतः मुक्त है। (४। १६)

१६. पापी-से-पापी मनुष्य भी यदि चाहे तो इसी जन्ममें अभी अपना कल्याण कर सकता है। पुराने पाप उतने बाधक नहीं होते, जितने वर्तमानके पाप बाधक होते हैं। अगर मनुष्य वर्तमानमें पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्त्वज्ञानको प्राप्त करूँगा, तो उसके पापोंका नाश होते देरी नही लगती। (४। ३६)

१७. कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर' (संसार)-के साथ है, 'स्व'(स्वरूप)- के साथ बिलकुल नहीं। इस दृष्टिसे अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि अपना कल्याण दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ही होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं। (४। ४१)

१८. संसारमें रात-दिन अनेक कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंमें राग-द्वेष न होनेसे हम संसारके उन कर्मोंसे बँधते नहीं, प्रत्युत निर्लिप्त रहते हैं। जिन कर्मोंमें हमारा राग या द्वेष हो जाता है, उन्हीं कर्मोंसे हम बँधते हैं। कारण कि राग या द्वेषसे कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब राग-द्वेष नहीं रहते अर्थात् समता आ जाती है, तब कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। (४। ४२)

१९. कल्याणकी प्राप्तिमें इच्छाकी प्रधानता है। साधनकी सफलतामें देरीका कारण भी यही है कि कल्याणकी इच्छा पूरी तरह जाग्रत् नहीं हुई। (५। १)

२०. जबतक मनुष्य कर्म करते हुए अपने लिये किसी प्रकारका सुख चाहता है अर्थात् किसी फलकी इच्छा रखता है और शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्म-सामग्रीको अपनी मानता है, तबतक वह

कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। (५। ११)

२१. सम्पूर्ण मनुष्योंको एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। मुक्ति चाहे ब्राह्मणकी हो अथवा चाण्डालकी, दोनोंको एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। भेद केवल शरीरोंको लेकर है, जो उपादेय है। तत्त्वको लेकर कोई भेद नहीं है। पहले जितने सनकादिक महात्मा हुए हैं, उनको जो तत्त्व प्राप्त हुआ है, वही तत्त्व आज भी प्राप्त होता है। (५। १९)

२२. यदि साधकका यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि मुझे एक परमात्मप्राप्तिके सिवाय कुछ नहीं चाहिये, तो वह वर्तमानमें ही मुक्त हो सकता है।......मुक्त होनेके लिये इच्छारहित होना आवश्यक है।...... जिसने वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया है, वह जीते-जी मुक्त हो जाता है, अमर हो जाता है। (५। २८)

२३. उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही बन्धन है। इस माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग करना ही मुक्ति है। (५। २८)

२४. शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। (५। २८ परि.)

२५. उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको पकड़नेका नाम बन्धन है और उनसे छूटनेका नाम मुक्ति है। उन उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे छूटनेका उपाय है—उनका आश्रय न लेना अर्थात् उनके साथ ममता न करना और अपने जीवनको उनके आश्रित न मानना। (६। १)

२६. अपनी मुक्तिका भी संकल्प न हो; क्योंकि मुक्तिके संकल्पसे बन्धनकी सत्ता दृढ़ होती है। अतः कोई भी संकल्प न रखकर उदासीन रहे। (६। ४ परि.)

२७. एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है। (६। ४ परि.)

२८. शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं—इस वास्तविकतापर मनुष्य दृढ़ रहे, तो अपने आपसे अपना उद्धार हो जायगा। (६।५)

२९. भगवान्, सन्त-महात्मा आदिके रहते हुए हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इसमें उद्धारकी सामग्रीकी कमी नहीं रही है अथवा हम अपना उद्धार करनेमें असमर्थ नहीं हुए हैं। हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार नहीं हुए, इसीसे वे सब मिलकर भी हमारा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं हुए। अगर हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार हो जायँ, सम्मुख हो जायँ तो मनुष्यजन्म-जैसी सामग्री और कलियुग-जैसा मौका प्राप्त करके हम कई बार अपना उद्धार कर सकते हैं! पर यह तब होगा, जब हम स्वयं अपना उद्धार करना चाहेंगे। (६। ५ वि.)

३०. भगवान्ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है। (६। ५ परि.)

३१. भगवान्की तरफसे मनुष्यमात्रका जन्म अन्तिम जन्म है। कारण कि भगवान्का यह संकल्प है कि मेरे लिये दिये हुए इस शरीरसे यह अपना कल्याण कर ले।......अगर मनुष्य भगवान्से विमुख होकर संसारके रागमें न फँसे, तो भगवान्के उस संकल्पसे अनायास ही मुक्त हो जाय। (७। १९)

३२. कामनाएँ, देवता, मनुष्य और नियम—ये सभी अनेक हुआ करते हैं। अगर अनेक कामनाएँ होनेपर भी उपास्यदेव एक परमात्मा हों तो वे उपासकका उद्धार कर देंगे। परन्तु कामनाएँ भी अनेक

हों और उपास्यदेव भी अनेक हों तो उद्धार कौन करेगा? (७। २० परि.)

३३. अगर यह जीव मनुष्यशरीर पाकर शास्त्र और भगवान्‌से विरुद्ध न चले तथा मिली हुई सामग्रीका ठीक-ठीक उपयोग करे, तो इसकी मुक्ति स्वत:सिद्ध है। (७। २६)

३४. बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायोंमें चलनेवाले जितने मनुष्य हैं, जो कि ईश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने-अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करके असत्-जड़रूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो संसारसे विमुख होकर भगवान्‌का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, उनको भगवान्‌के समग्ररूपका बोध होकर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। (७। २९)

३५. मुक्ति सभी वर्णों, आश्रमोंमें हो सकती है। इसलिये भगवान्‌ने आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है और वर्णोंका स्पष्टरूपसे वर्णन भी कर्तव्यपालनकी दृष्टिसे किया है। (८। ११ परि.)

३६. प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अत: साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। (८।१९ परि.)

३७. असत् (संसार)-के साथ अपना सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तविक नहीं है। जिसके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, उसीसे मुक्ति होती है। अपने स्वरूपसे कभी किसीकी मुक्ति नहीं होती। अत: मुक्ति उसीसे होती है, जो अपना नहीं है; किन्तु जिसको भूलसे अपना मान लिया है। इस भूलजनित मान्यतासे ही मुक्ति होती है। (९। १)

३८. मनुष्य खुद अपने कल्याणमें लग जाय तो इसमें धर्म, ग्रन्थ, महात्मा, संसार, भगवान् सब सहायता करते हैं! (९। ३ परि.)

३९. वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है (गीता ८। १६)। (९।२५ परि.)

४०. बन्धन, नरकोंकी प्राप्ति, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति—ये सभी कृतिसाध्य हैं और मुक्ति, कल्याण, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम आदि सभी स्वत:सिद्ध हैं। (११। ३३)

४१. वास्तवमें कल्याण 'अहम्' के मिटनेपर ही होता है। (१२। ३-४)

४२. एकान्तके बिना, कर्मोंको छोड़े बिना, वस्तुओंका त्याग किये बिना, स्वजनोंके त्यागके बिना—प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है! (१२। १२ वि.)

४३. फलासक्तिका त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रम, देश आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, प्रत्युत साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। (१२। १२ वि.)

४४. मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है। (१२। १२ परि.)

४५. यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहाँसे खोलनेपर ही (बन्धनसे) छुटकारा हो सकता है। अत: मनुष्यशरीरसे ही बन्धन होता है और मनुष्यशरीरके द्वारा ही बन्धनसे मुक्ति हो सकती है। अगर मनुष्यका अपने शरीरके साथ किसी प्रकारका भी अहंता-ममतारूप सम्बन्ध न रहे, तो वह मात्र संसारसे मुक्त ही है। (१३। १)

४६. जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता। (१३। २३ परि.)

४७. प्रेम और बोध—दोनोंमें ही गुणोंका संग नहीं रहता। दोनोंमें अन्तर यह है कि बोधमें तो जन्म-मरणसे मुक्ति होती है, पर प्रेममें मुक्तिके साथ-साथ भगवान्से अभिन्नता होती है। (१३। २३ परि.)

४८. कई ऐसे तत्त्वप्राप्तिकी उत्कण्ठावाले मनुष्य हैं, जो ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग आदि साधनोंको समझते ही नहीं; अतः वे साधन उनके अनुष्ठानमें भी नहीं आते। ऐसे मनुष्य केवल तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। (१३। २५)

४९. जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरनेकी उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं। (१३। २५ परि.)

५०. अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व (निष्कामता-निर्ममता)-का अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। (१३। ३१ परि.)

५१. मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। (१५। ४ परि.)

५२. संसारकी चीज संसारको दे दे और परमात्माकी चीज परमात्माको दे दे—यह ईमानदारी है। इस ईमानदारीका नाम ही 'मुक्ति' है। जिसकी चीज है, उसको न दे; संसारकी चीज भी ले ले और परमात्माकी चीज भी ले ले—यह बेईमानी है। इस बेईमानीका नाम ही 'बन्धन' है। (१५। ७ वि.)

५३. संसारमें लाखों-करोड़ों घर हैं, अरबों आदमी हैं, अनगिनत रुपये हैं, पर उनकी चिन्ता नहीं होती; क्योंकि उनको वह अपना नहीं मानता। जिनको अपना नहीं मानता, उनसे तो मुक्त है ही। अतः ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी ही मुक्ति बाकी है! (१५। ७ वि.)

५४. शरीरको निष्कामभावपूर्वक परिवारकी, समाजकी और संसारकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी इच्छा मिट जाती है। भोगकी इच्छा मिटनेसे तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और साधकको स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। (१५। ७ परि.)

५५. भगवान्ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दे रखी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है। अपनी भूल मिटानेके लिये केवल अपनी मान्यता बदलनेकी आवश्यकता है कि प्रकृतिके अंश इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंसे मेरा (जीवात्माका) कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर जन्म-मरणके बन्धनसे सहज ही मुक्ति है। (१५। ८)

५६. जड़का संग करनेसे कुछ करने और पानेकी इच्छा बनी रहती है। प्राणशक्तिके रहते हुए इच्छाशक्ति अर्थात् कुछ करने और पानेकी इच्छा मिट जाय तो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नष्ट हो जाय और इच्छाएँ बनी रहें तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलनेपर इच्छाशक्ति तो वही (पूर्वजन्मकी) रहती है, प्राणशक्ति नयी मिल जाती है। (१५। ८)

५७. परमात्माका संकल्प तो हमारे कल्याणका ही है। यदि हम अपना अलग कोई संकल्प न रखें, प्रत्युत परमात्माके संकल्पमें ही अपना संकल्प मिला दें, तो फिर उनकी कृपासे स्वतः कल्याण हो ही जाता है। (१६। ५ मा.)

५८. कर्मोंका ग्रहण और त्याग—दोनों ही कल्याणमें हेतु नहीं हैं। कल्याणमें हेतु तो परिवर्तनशील नाशवान् प्रकृतिसे अपरिवर्तनशील अविनाशी अपने स्वरूपका सम्बन्ध-विच्छेद ही है। (१८। १२)

५९. केवल परमात्मासे ही सम्बन्ध रखना, परमात्माके सिवाय कभी किसी अवस्थामें असत् संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना 'मोक्ष' अर्थात् मोक्षदायक है। (१८। ३०)

६०. शास्त्रोंमें प्रायः ऐसी बात आती है कि संसारकी निवृत्ति करनेसे ही मनुष्य पारमार्थिक मार्गपर चल सकता है और उसका कल्याण हो सकता है। मनुष्योंमें भी प्रायः ऐसी ही धारणा बैठी हुई है कि घर, कुटुम्ब आदिको छोड़कर साधु-संन्यासी होनेसे ही कल्याण होता है। परन्तु गीता कहती है कि कोई भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, देश, काल आदि क्यों न हो, उसीके सदुपयोगसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। (१८। ७४)

६१. जब हर एक परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे ही कल्याण होता है, तब तो प्राकृत परिस्थितिका घटिया या बढ़िया होना कोई महत्त्व नहीं रखता। हाँ, उससे अलग होनेके उपाय (कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि) अलग-अलग हो सकते हैं। परन्तु इनमें राग मिटाना ही खास उपाय है; क्योंकि राग मिटनेसे द्वेष मिट जाता है और राग-द्वेष मिटनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होना ही मुक्ति है। (१८। ७४ टि.)

६२. वास्तवमें जो बद्ध होता है, वह मुक्त नहीं होता और जो मुक्त होता है, वह मुक्त क्या होगा? क्योंकि वह तो मुक्त ही है। तो फिर मुक्त होना क्या है? वास्तवमें मुक्त होते हुए भी जिस बन्धनको स्वीकार किया है, उस बन्धनसे छूटनेका नाम ही मुक्त होना है। (१८। ७४ टि.)

❋❋❋

मोह

१. जैसे कोई फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकानेकी चेष्टा करते हैं और जब वह पक जाता है, तब उसको चीरा देकर साफ कर देते हैं; ऐसे ही भगवान् भक्तके भीतर छिपे हुए मोहको पहले जाग्रत् करके फिर उसको मिटाते हैं। (१। २५)

२. जहाँ मोह होता है, वहाँ मनुष्यका विवेक दब जाता है। विवेक दबनेसे मोहकी प्रबलता हो जाती है। मोहके प्रबल होनेसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान नहीं होता। (१। ३७)

३. शरीरमें अहंता और ममता करना तथा शरीर-सम्बन्धी माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र, वस्तु, पदार्थ आदिमें ममता करना 'मोह' है। (२। ५२)

४. मोहरूपी कलिलसे तरनेके दो उपाय हैं—विवेक और सेवा। (२।५२)

५. शरीर, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदिमें राग होना 'सांसारिक मोह' है और द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतभेदोंमें उलझ जाना 'शास्त्रीय मोह' है। इन दोनोंका त्याग करनेपर मनुष्यका भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। (२।५३ परि.)

६. मनुष्यका केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका

सम्बन्ध न हो तो वह 'सांसारिक मोह' से तर जाता है। पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वका अनुभव करनेका उद्देश्य हो तो वह 'शास्त्रीय मोह' से तर जाता है। (२। ५३ परि.)

७. वास्तविक बोध होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता।..... बोध होनेपर जब संसारसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध नहीं रहता, तब पुनः मोह होनेका प्रश्न ही नहीं रहता। (४। ३५)

८. मोहके रहते हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहके चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है, और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं। (११। १)

९. जब मनुष्य मोहसे संसारमें आसक्त हो जाता है, तब भगवान्‌की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती।....ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसका विवेक काम नहीं करता। अगर मनुष्य मोहमें न फँसकर अपनी विवेकदृष्टिको महत्त्व देता, तो वह अपना उद्धार करके संसारमात्रका उद्धार करनेवाला बन जाता! (११। ४९)

१०. आने-जानेवाले पदार्थोंको प्राप्त करनेकी इच्छा या चेष्टा करना तथा उनसे सुखी-दुःखी होना 'मूढ़ता' है। (१५। ५)

११. संसार जैसा दिखायी देता है, वैसा ही है—इस प्रकार संसारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। (१५। ५)

१२. नाशवान् पदार्थोंसे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध मानना ही मोह है। (१५। १९)

१३. प्राणोंमें मनुष्यका ज्यों-ज्यों मोह होता जाता है, त्यों-ही-त्यों आसुरी-सम्पत्ति अधिक बढ़ती जाती है। (१६। ४)

१४. तामस मनुष्यमें मोह रहता है—'**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्**' (गीता १४। ८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं। (१८। ३९ परि.)

१५. यह एकदम पक्का नियम है कि जो दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक गीताके उपदेशको सुनता है, उसका मोह नष्ट हो ही जाता है। (१८। ७२)

❋❋❋

योग

१. वास्तवमें 'योग' की आवश्यकता कर्ममें ही है, ज्ञानमें भी योगकी आवश्यकता नहीं है और भक्तिमें तो योगकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और भक्ति वास्तवमें 'योग' ही है।.....इसलिये गीतामें 'योग' शब्द विशेषकर 'कर्मयोग' का ही वाचक आता है। (न.नि.)

२. संयोगका तो वियोग होता है, पर योगका कभी वियोग नहीं होता। योगकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसको स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समताकी प्राप्ति हो जाती है। (न.नि.)

३. गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। उस समतामें स्थिति (नित्ययोग) होनेपर फिर कभी उससे वियोग नहीं होता, कभी

वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। (प्रा.)

४. वास्तवमें देखा जाय तो परमात्मासे वियोग कभी हुआ ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं। केवल संसारसे माने हुए संयोगके कारण परमात्मासे वियोग प्रतीत हो रहा है। संसारसे माने हुए संयोगका त्याग करते ही परमात्मतत्त्वके अभिलाषी मनुष्यको तत्काल नित्ययोगका अनुभव हो जाता है और उसमें स्थायी स्थिति हो जाती है। (प्रा.)

५. आसक्ति रहते हुए योग सिद्ध नहीं हो सकता। आसक्तिका त्याग करनेपर ही योग सिद्ध होता है। (३। ७)

६. प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही 'योग' (परमात्मासे नित्य-सम्बन्धका अनुभव) होता है, अन्यथा केवल 'ज्ञान' और 'कर्म' ही होता है। (३। २८)

७. योग (परमात्माका नित्य-सम्बन्ध) तो स्वत:सिद्ध और स्वाभाविक है। अत: योग अथवा परमात्मप्राप्ति कर्मजन्य नहीं है। (४। १२)

८. जबतक मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके आश्रयका त्याग नहीं करता और मनसे उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तबतक वह कितना ही अक्रिय हो जाय, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध कर ले, पर वह योगी नहीं हो सकता। (६।१)

९. संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी अर्थात् कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, हठयोगी, लययोगी आदि नहीं होता। कारण कि उसका सम्बन्ध उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड़ पदार्थोंके साथ है; अत: वह योगी कैसे होगा? वह तो भोगी ही होगा। (६।२)

१०. परमात्माके साथ सम्बन्धका नाम 'योग' है और जिसकी भीतरसे ही पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि है, वह (भीतरसे पदार्थोंके साथ सम्बन्ध माननेसे) भोगी ही होगा, योगी हो ही नहीं सकता। (६।२)

११. असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए वह कितना ही अभ्यास कर ले, समाधि लगा ले, गिरि-कन्दराओंमें चला जाय, तो भी गीताके सिद्धान्तके अनुसार वह योगी नहीं कहा जा सकता। (६।२)

१२. जैसे, किसीने यह निश्चय कर लिया कि 'मैं आजसे कभी इच्छापूर्तिका सुख नहीं लूँगा।' अगर वह अपने इस निश्चय (प्रतिज्ञा)-पर दृढ़ रहे, तो वह आज ही योगारूढ़ हो जायगा। (६।४)

१३. जिसकी न तो पदार्थोंमें आसक्ति है और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति है; न क्रियाओंमें आसक्ति है और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति है तथा न कोई संकल्प है, वह 'योगारूढ़' है। (६।४ परि.)

१४. दु:खोंका नाश करनेवाला योग वही होता है, जिसमें भोगका अत्यन्त अभाव होता है। (६।१७)

१५. दु:खसंयोग (शरीर-संसार)-का वियोग करते ही स्वाभाविक 'योग'की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् स्वरूपके साथ हमारा जो नित्ययोग है, उसकी हमें अनुभूति हो जाती है। (६।२३)

१६. 'संयोग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते और जो हमारे साथ सदा नहीं रह सकता। 'योग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा रह सकते हैं और जो हमारे साथ सदा रह सकता है। इसलिये संसारमें एक-दूसरेके साथ संयोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। (६। २३ परि.)

१७. परमात्माके साथ जीवका योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वत:सिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है।........दु:खरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। (६। २३ परि.)

१८. प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिका नाम भी योग है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिका नाम भी योग है। (६। २३ परि.)

१९. योगकी सिद्धिमें मनका वशमें न होना जितना बाधक है, उतनी मनकी चंचलता बाधक नहीं है। जैसे, पतिव्रता स्त्री मनको वशमें तो रखती है, पर उसे एकाग्र नहीं करती। (६। ३६)

२०. जो परमात्मतत्त्वको, समताको चाहता है और राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें नहीं फँसता, वह योगी है। (६। ४५)

२१. जो संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गया है, वही वास्तवमें योगी है। ऐसा योगी बड़े-बड़े तपस्वियों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और कर्मकाण्डियोंसे भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वियों आदिका उद्देश्य संसार है तथा सकामभाव है और योगीका उद्देश्य परमात्मा है तथा निष्कामभाव है। (६। ४६)

२२. भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। जिनमें सकामभाव होता है, वे भोगी होते हैं और जिनमें निष्कामभाव होता है, वे योगी होते हैं। इसलिये सकामभाववाले तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी निष्कामभाववाला योगी श्रेष्ठ है। (६। ४६ परि.)

२३. जो किसीको भी पराया मानता है, किसीका भी बुरा चाहता, देखता तथा करता है और संसारसे कुछ भी चाहता है, वह न तो कर्मयोगी हो सकता है, न ज्ञानयोगी हो सकता है और न भक्तियोगी ही हो सकता है। (७। ३० अ.सा.)

२४. अभ्यासमें मन लगनेसे प्रसन्नता होती है और मन न लगनेसे खिन्नता होती है। यह अभ्यास तो है, पर अभ्यासयोग नहीं है। अभ्यासयोग तभी होगा, जब प्रसन्नता और खिन्नता—दोनों ही न हों। अगर चित्तमें प्रसन्नता और खिन्नता हो भी जायँ, तो भी उनको महत्त्व न दे, केवल अपने लक्ष्यको ही महत्त्व दे। अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना भी 'योग' है। (८। ८)

२५. भगवत्स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌में लगना भी 'योग' है और समतामें स्थित होना अर्थात् संसारसे हटना भी 'योग' है। दोनोंका परिणाम एक ही है। (८। २७ परि.)

२६. 'योग' नाम समता, सम्बन्ध और सामर्थ्यका है। (१०। ७)

२७. भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (मालिक) भगवान् न हों अर्थात् सब योग भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं। (११। ९ परि.)

२८. वास्तवमें किसी भी मनुष्यका परमात्मासे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और सम्भव ही नहीं। इस वास्तविकताका जिसने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है। (१२। १४)

२९. योग-साधनसे होनेवाली अणिमा, महिमा, गरिमा आदि जितनी सिद्धियाँ हैं, वे सभी वास्तवमें असिद्धियाँ ही हैं। कारण कि वे सभी जन्म-मरण देनेवाली, बन्धनमें डालनेवाली, परमात्मप्राप्तिमें

बाधा डालनेवाली हैं। (१४। १)

३०. भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। (१८। ३६-३७ परि.)

३१. जीवका भगवान्‌के साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसका नाम 'योग' है। (१८। ७५)।

राग-द्वेष

१. संसार अपने रागके कारण ही दीखता है। रागके कारण ही दूसरी सत्ता दीखती है। राग न हो तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। (न.नि.)

२. जिसके भीतर दूसरोंको सुख पहुँचानेका, उनका हित करनेका, उनकी सेवा करनेका भाव जाग्रत् हो जाता है, उसका राग स्वाभाविक ही मिट जाता है। (२। ५६)

३. साधकको न तो रागपूर्वक विषयोंका सेवन करना चाहिये और न द्वेषपूर्वक विषयोंका त्याग करना चाहिये; क्योंकि राग और द्वेष-इन दोनोंसे ही संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। (२। ६४)

४. राग-द्वेषसे युक्त 'भोगी' मनुष्य अगर विषयोंका चिन्तन भी करे तो उसका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)। परन्तु राग-द्वेषसे रहित 'योगी' मनुष्य अगर विषयोंका सेवन भी करे तो उसका पतन नहीं होता, प्रत्युत वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। (२। ६४-६५ परि.)

५. राग-द्वेषसे रहित होनेका सुगम उपाय है—मिले हुए शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानते हुए दूसरोंकी सेवामें लगाना और बदलेमें दूसरोंसे कुछ भी न चाहना। (३।३३)

६. वास्तवमें राग-द्वेष माने हुए 'अहम्' (मैं-पन)-में रहते हैं। शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है। जबतक शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध रहता है, तबतक उसमें राग-द्वेष रहते हैं।..... राग और द्वेषके ही स्थूल रूप काम और क्रोध हैं। (३।३४)

७. भगवान् साधकको आश्वासन देते हैं कि राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होनेपर उसे साधन और साध्यसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, अपितु राग-द्वेषकी वृत्तिके वशीभूत होकर उसे किसी कार्यमें प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होना चाहिये। (३।३४)

८. जबतक शरीरके प्रति ममता रहती है, तभीतक राग-द्वेष होते हैं अर्थात् मनुष्य रुचि या अरुचिपूर्वक वस्तुओंका ग्रहण और त्याग करता है। यह रुचि-अरुचि ही राग-द्वेषका सूक्ष्म रूप है। (३।३४)

९. वास्तवमें राग-द्वेष अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं।..... धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते हैं। राग-द्वेष अन्तःकरणमें आने-जानेवाले हैं; अतः इनको मिटाया जा सकता है। (३।३४)

१०. जड़-चेतनकी ग्रन्थिरूप अहंता (मैं-पन)-के मिटनेपर राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि अहंतापर ही राग-द्वेष टिके हुए हैं। मैं सेवक हूँ; मैं जिज्ञासु हूँ; मैं भक्त हूँ—ये सेवक, जिज्ञासु और भक्त जिस 'मैं' में रहते हैं, उसी 'मैं' में राग-द्वेष भी रहते हैं। (३।३४)

११. यदि सत्संग, भजन, ध्यान आदिमें 'राग' होगा तो संसारसे द्वेष होगा; परन्तु 'प्रेम' होनेपर संसारसे द्वेष नहीं होगा, प्रत्युत संसारकी उपेक्षा (विमुखता) होगी। (३।३४)

१२. निष्कामभावपूर्वक संसारकी सेवा करना राग-द्वेषको मिटानेका अचूक उपाय है। (३।३४)

१३. सुख-दु:खका कारणदूसरेको माननेसे ही राग-द्वेष होते हैं अर्थात् जिसको सुख देनेवाला मानते हैं, उसमें राग हो जाता है और जिसको दु:ख देनेवाला मानते हैं, उसमें द्वेष हो जाता है। अत: राग-द्वेष अपनी भूलसे पैदा होते हैं, इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है। (३।३४ परि.)

१४. अगर मन-बुद्धिमें राग-द्वेषादि कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् उसके अनुसार कोई निषिद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। (३।३४ परि.)

१५. भगवान्‌में आकर्षण होनेसे संसारका आकर्षण (राग) स्वत: मिट जाता है। (४।१०)

१६. नाशवान् पदार्थोंके रागसे ही भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषोंकी उत्पत्ति होती है। रागके मिटनेपर ये सभी दोष मिट जाते हैं। पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर, दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवा करनेसे राग मिटता है। (४।१०)

१७. फलकी इच्छा न रखनेसे नया राग उत्पन्न नहीं होता और दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना राग नष्ट हो जाता है। इस प्रकार रागरूप बन्धन न रहनेसे साधक सर्वथा वीतराग हो जाता है। (४।१८)

१८. वस्तुकी सत्ता न होनेपर भी उसमें राग अथवा सम्बन्ध रह सकता है। यदि राग न हो तो वस्तुकी सत्ता माननेपर भी उसमें राग उत्पन्न नहीं होता। इसलिये साधकका मुख्य काम होना चाहिये—रागका अभाव करना, सत्ताका अभाव करना नहीं; क्योंकि बाँधनेवाली वस्तु राग या सम्बन्ध ही है, सत्तामात्र नहीं। (५।२)

१९. जिसके राग-द्वेषका अभाव हो गया है, उसे संन्यास-आश्रममें जानेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति, वस्तु, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपनी नहीं है और अपने लिये भी नहीं है—ऐसा निश्चय होनेके बाद राग-द्वेष मिटकर ऐसा ही यथार्थ अनुभव हो जाता है, फिर व्यवहारमें संसारसे सम्बन्ध दीखनेपर भी भीतरसे (राग-द्वेष न रहनेसे) सम्बन्ध होता ही नहीं। यही 'नित्यसंन्यास' है। (५।३)

२०. संसारमें उलझनेके दो ही कारण हैं—राग और द्वेष। जितने भी साधन हैं, सब राग-द्वेषको मिटानेके लिये ही हैं। राग-द्वेषके मिटनेपर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति स्वत:सिद्ध है।..... असत्‌की सत्ता राग-द्वेषपर ही टिकी हुई है। असत् संसार तो स्वत: ही मिट रहा है, पर अपनेमें राग-द्वेषको पकड़नेसे संसार स्थिर दीखता है। अत: जो संसार निरन्तर मिट रहा है, उसमें राग-द्वेष न रहनेसे मुक्ति नहीं होगी तो क्या होगा? (५।३)

२१. राग मिटानेका सुगम उपाय है—कर्मयोगका अनुष्ठान करना। कर्मयोगमें प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही की जाती है। दूसरोंके हितका भाव होनेसे अपना राग स्वत: मिटता है। (५।६)

२२. जबतक स्वभावमें राग-द्वेष रहते हैं, तबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता। (५।१४)

२३. जिनकी बुद्धि समतामें स्थित है, उनमें राग-द्वेष नहीं रहते। उनकी यह समबुद्धि स्वत: अटल बनी रहती है कि सब कुछ एक परमात्मा ही हैं। जब एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे? (५।१९ परि.)

२४. विवेकपूर्वक कर्म करनेसे ही कर्मोंका राग (वेग) मिटता है; क्योंकि राग मिटानेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत विवेकमें है। (६।३ परि.)

२५. जिसका सांसारिक विशेषता प्राप्त करनेका, ऋद्धि-सिद्धि आदि प्राप्त करनेका उद्देश्य न होकर केवल परमात्मप्राप्तिका ही दृढ़ उद्देश्य होता है, उसके राग-द्वेष शिथिल होकर मिट जाते हैं। (६।१४)

२६. जितने भी दोष, पाप, दु:ख पैदा होते हैं, वे सभी संसारके रागसे ही पैदा होते हैं और जितना सुख, शान्ति मिलती है, वह सब रागरहित होनेसे ही मिलती है। (६।३५)

२७. यद्यपि संसार-बन्धनका मूल कारण अज्ञान है, तथापि अज्ञानकी अपेक्षा भी मनुष्य राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे संसारमें ज्यादा फँसता है। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिको अपने सुख-दु:खका कारण माननेसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। जिसको अपने सुखका कारण मानते हैं, उसमें 'राग' हो जाता है और जिसको अपने दु:खका कारण मानते हैं, उसमें 'द्वेष' हो जाता है। (७।२७ परि.)

२८. राग-द्वेष मनुष्यको संसारकी तरफ खींचते रहते हैं। जबतक एक वस्तुमें राग रहता है, तबतक दूसरी वस्तुमें द्वेष रहता ही है; क्योंकि मनुष्य किसी वस्तुके सम्मुख होगा तो किसी वस्तुसे विमुख होगा ही। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तबतक वह भगवान्‌के सर्वथा सम्मुख नहीं हो सकता; क्योंकि उसका सम्बन्ध संसारसे जुड़ा रहता है। उसका जितने अंशमें संसारसे राग रहता है, उतने अंशमें भगवान्‌से द्वेष अर्थात् विमुखता रहती है। (७।२८ परि.)

२९. लौकिक-अलौकिकका विभाग अज्ञानवश होनेवाले राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हों तो सब कुछ अलौकिक, चिन्मय, दिव्य ही है—**'वासुदेवः सर्वम्।'** (७।३० परि.)

३०. जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता! (१०।१० परि.)

३१. प्राणिमात्र स्वरूपसे भगवान्‌का ही अंश है। अत: किसी भी प्राणीके प्रति थोड़ा भी द्वेषभाव रहना भगवान्‌के प्रति ही द्वेष है। (१२।१३)

३२. राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्त:करणके विकार हैं, धर्म नहीं (गीता १३।६)।......यदि ये विकार अन्त:करणके धर्म होते, तो हर समय एकरूपसे रहते और अन्त:करण (धर्मी)-के रहते हुए कभी नष्ट नहीं होते। अत: ये अन्त:करणके धर्म नहीं, प्रत्युत आगन्तुक (आने-जानेवाले) विकार हैं। साधक जैसे-जैसे अपने एकमात्र लक्ष्य भगवान्‌की ओर बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे राग-द्वेषादि विकार मिटते जाते हैं और भगवान्‌को प्राप्त होनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है। (१२।२०)

३३. यह नियम है कि प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि आदिसे प्राणियोंको अलग-अलग भावसे देखनेपर राग-द्वेष पैदा हो जाते हैं। राग होनेपर उनमें गुण दिखायी देते हैं और द्वेष होनेपर दोष दिखायी देते हैं। (१३।३०)

३४. संसारके सभी दु:ख और पाप रागके कारण ही होते हैं। (१४।१६ परि.)

३५. राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्त:करणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। (१४।२४-२५ परि.)

३६. मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष—दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है,

जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं। (१८।१० परि.)

३७. रागका यह नियम है कि वह जिसमें आ जाता है, उसमें किसीके प्रति आसक्ति, प्रियता पैदा करा देता है और किसीके प्रति द्वेष पैदा करा देता है। (१८।२१)

३८. जब सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया, पदार्थ आदिमें राग (आसक्ति) हो जाता है, तो वह राग दूसरोंके प्रति द्वेष पैदा करनेवाला हो जाता है। फिर जिसमें राग हो जाता है, उसके दोषोंको और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसके गुणोंको मनुष्य नहीं देख सकता। राग और द्वेष—इन दोनोंमें संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। (१८।३१)

३९ सांसारिक वस्तु महत्त्वशाली है, अपने काममें आनेवाली है, उपयोगी है—ऐसा जो भाव है, उसका नाम 'राग' है। तात्पर्य है कि अन्त:करणमें असत् वस्तुका जो रंग चढ़ा हुआ है, वह 'राग' है। (१८।५१—५३)

४०. असत् संसारके किसी अंशमें राग हो जाय तो दूसरे अंशमें द्वेष हो जाता है—यह नियम है।...... संसारके साथ रागसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेषसे भी सम्बन्ध जुड़ता है। (१८।५१—५३)

४१. शास्त्रके आज्ञानुसार अर्थात् शिष्य गुरुकी, पुत्र माता-पिताकी, पत्नी पतिकी और नौकर मालिककी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक सब कर्म करता है तो उसमें राग-द्वेष नहीं रहते। कारण कि अपने मनके अनुसार कर्म करनेसे ही राग-द्वेष पुष्ट होते हैं। (१८।६० वि.)

४२. शास्त्र आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे और कभी दूसरा नया कार्य करनेकी मनमें आ जानेपर भी शास्त्रकी आज्ञा न होनेसे हम वह कार्य नहीं करते तो उससे हमारा 'राग' मिट जायगा; और कभी कार्यको न करनेकी मनमें आ जानेपर भी शास्त्रकी आज्ञा होनेसे हम वह कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते हैं तो उससे हमारा 'द्वेष' मिट जायगा। (१८।६० वि.)

***

वक्ता-श्रोता

१. यह नियम है कि अपना आग्रह रखनेसे श्रोता वक्ताकी बातोंका आशय अच्छी तरहसे नहीं समझ सकता। (३।अव.)

२. मनुष्यके अन्त:करणमें एक कमजोरी रहती है कि वह प्रश्न करके उत्तरके रूपमें भी वक्तासे अपनी बात अथवा सिद्धान्तका ही समर्थन चाहता है। इसे कमजोरी इसलिये कहा गया है कि वक्ताके निर्देशका चाहे वह मनोऽनुकूल हो या सर्वथा प्रतिकूल, पालन करनेका निश्चय ही शूरवीरता है, शेष सब कमजोरी या कायरता ही कही जायगी। (३।१)

३. कोई भी साधक श्रद्धापूर्वक पूछनेपर ही अपने प्रश्नका सही उत्तर प्राप्त कर सकता है। आक्षेपपूर्वक शंका करनेसे सही उत्तर प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं। (३।१)

४. कोई पुरुष व्याख्यान देते समय तो वक्ता (व्याख्यानदाता) होता है, पर जब दूसरे समयमें भी वह अपनेको वक्ता मानता रहता है, तब उसका कर्तृत्वाभिमान नहीं मिटता। अपनेको निरन्तर व्याख्यानदाता माननेसे ही उसके मनमें यह भाव आता है कि 'श्रोता मेरी सेवा करें, मेरा आदर करें, मेरी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें'; और 'मैं इन साधारण आदमियोंके पास कैसे बैठ सकता

हूँ, मैं यह साधारण काम कैसे कर सकता हूँ' आदि। (३।१९)

५. वर्तमानमें पारमार्थिक (भगवत्सम्बन्धी) भावोंका प्रचार करनेवाले बहुत-से पुरुषोंके होनेपर भी लोगोंपर उन भावोंका प्रभाव बहुत कम दिखायी देता है। इसका कारण यही है कि प्राय: वक्ता जैसा कहता है, वैसा स्वयं पूरा आचरण नहीं करता। (३।२१)

६. जिसके अन्त:करणमें कामना, ममता, आसक्ति, स्वार्थ, पक्षपात आदि दोष नहीं हैं और नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व या कुछ भी लेनेका भाव नहीं है, ऐसे मनुष्यके द्वारा कहे हुए वचनोंका प्रभाव दूसरोंपर स्वत: पड़ता है और वे उसके वचनानुसार स्वयं आचरण करने भी लग जाते हैं। (३।२१ वि.)

७. यह नियम है कि श्रोताकी प्रबल जिज्ञासा होनेपर वक्ता अपनेको छिपाकर नहीं रख सकता। (४।५)

८. प्राय: वक्ताके शब्दोंका अर्थ श्रोता अपने विचारके अनुसार लगाया करते हैं। (५।१)

९. कोई वर्णन करता है तो वर्णन करनेवालेका जो स्वयंका अनुभव है, वह पूरा बुद्धिमें नहीं आता; बुद्धिमें जितना आता है, उतना मनमें नहीं आता और जितना मनमें आता है, उतना कहनेमें नहीं आता। (७।२ टि.)

१०. सुननेवाला वक्तामें श्रद्धा और प्रेम रखनेवाला हो और वक्ताके भीतर सुननेवालेके प्रति कृपापूर्वक हित-भावना हो तो वक्ताके वचन, उसके द्वारा कहा हुआ विषय श्रोताके भीतर अटलरूपसे जम जाता है। (१०।१)

११. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंको कोई सुननेवाला मिल जाता है तो वे उसको भगवान्‌की कथा, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि सुनाते हैं; और कोई सुनानेवाला मिल जाता है तो स्वयं सुनने लग जाते हैं। परन्तु उनमें सुनाते समय 'वक्ता' बननेका अभिमान नहीं होता और सुनते समय 'श्रोता' बननेकी लज्जा नहीं होती। (१०।९)

१२. किसी ग्रन्थके किसी अंशपर शंका हो, तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्यको, लक्ष्यको और आशयको समझनेसे उस शंकाका समाधान हो जाता है। (१०।३६ टि.)

१३. स्वयंका प्रश्न न होनेसे सुनी हुई बात भी प्राय: लक्ष्यमें नहीं आती।.....इसी प्रकार अपने मनमें किसी विषयको जाननेकी पूर्ण अभिलाषा और उत्कण्ठाके अभावमें तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण सत्संगमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें प्राय: साधकोंके लक्ष्यमें नहीं आतीं।........अत: साधकोंको चाहिये कि वे जो पढ़ें और सुनें, उसको अपने लिये ही मानकर जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें। (१२।२)

१४. भगवत्सम्बन्धी बातें दूसरोंको सुनाते समय साधक वक्ताको यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता न माने, प्रत्युत इसमें भगवान्‌की कृपा माने कि भगवान् ही श्रोताओंके रूपमें आकर मेरा समय सार्थक कर रहे हैं। (१६।१)

१५. पूछनेवालेके मनमें जैसी-जैसी उत्कण्ठा बढ़ती है, कहनेवालेके मनमें वैसी-वैसी बड़ी विचित्रता और विलक्षणतासे समाधान करनेवाली बातें पैदा होती हैं। (१८।७०)

***

वस्तु

१. विचार किया जाय तो जिन वस्तुओंका अभी अभाव है, बीचमें प्रारब्धानुसार उनकी प्राप्ति होनेपर भी अन्तमें उनका अभाव ही रहेगा। अत: हमारी तो वही अवस्था रही, जो कि वस्तुओंके मिलनेसे पहले थी। बीचमें लोभके कारण उन वस्तुओंको पानेके लिये केवल परिश्रम-ही-परिश्रम पल्ले पड़ा, दु:ख-ही-दु:ख भोगना पड़ा। (१।३९)

२. जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है, वह उसके अपने लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है। (३।१२ वि.)

३. जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है, वह वास्तवमें नहीं होती और उसका सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं रहता—यह सिद्धान्त है। (३।१९)

४. मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं है—यह भगवान्‌का मत है।......ये वस्तुएँ व्यक्तिगत (अपनी) नहीं हैं, प्रत्युत इनके उपयोगका अधिकार व्यक्तिगत है। (३।३१)

५. शरीरादि वस्तुएँ 'अपनी' तो हैं ही नहीं, 'अपने लिये' भी नहीं है। (३।३१)

६. भगवान्‌ने मनुष्यको ये वस्तुएँ इतनी उदारतापूर्वक और इस ढंगसे दी हैं कि मनुष्यको ये वस्तुएँ अपनी ही दीखने लगती हैं। इन वस्तुओंको अपनी मान लेना भगवान्‌की उदारताका दुरुपयोग करना है। (३।३१)

७. वास्तवमें महत्त्व वस्तुका नहीं, प्रत्युत उसके उपयोगका होता है। (३।३८)

८. उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्र कर्मफल है। (४।१४)

९. वस्तुओंमें जो अपनापन दीखता है, वह वास्तवमें केवल उनका सदुपयोग करनेके लिये है, उनपर अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। (४।१४)

१०. संसारकी किसी भी वस्तु (शरीरादि)-से सम्बन्ध जुड़नेपर अर्थात् उसे अपनी माननेपर पूरे संसारसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है। (५।११)

११. सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र स्वामी भगवान् ही हैं, फिर कोई ईमानदार व्यक्ति सृष्टिकी किसी भी वस्तुको अपनी कैसे मान सकता है? (५।२९)

१२. अगर यह जीव प्रकृतिकी वस्तुओंमेंसे किसी भी वस्तुको अपनी मानता रहेगा तो उसको वहम तो यह होगा कि 'मैं इस वस्तुका मालिक हूँ', पर हो जायगा उस वस्तुके परवश, पराधीन। (८।१९)

१३. लोग रुपयोंको इसलिये बहुत महत्त्व देते हैं कि उनसे सब वस्तुएँ मिल सकती हैं। रुपयोंसे तो वस्तुएँ मिलती हैं, पैदा नहीं होतीं, पर भगवान्‌से सम्पूर्ण वस्तुएँ पैदा भी होती हैं और मिलती भी हैं! (१०।८ परि.)

१४. उस परमात्माकी झलक ही उस वस्तुमें सुन्दरता, सुखरूपता आदि रूपोंमें दीखती है।......मनुष्यको सावधानीके साथ विवेकपूर्वक देखना चाहिये कि प्रतिक्षण मिटनेवाली वस्तुमें जो सुख दीखता है, वह उसका कैसे हो सकता है! वह वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है तो उसमें दीखनेवाली महत्ता, सुन्दरता उस वस्तुकी कैसे हो सकती है! (१०।४१)

१५. सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदि प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं। हम जिस वस्तु, व्यक्ति

आदिमें सुन्दरता, बलवत्ता आदि विशेषता देखते हैं, वे एक दिन नष्ट हो जाते हैं। अतः सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु मानो यह क्रियात्मक उपदेश दे रही है कि मेरी तरफ मत देखो, मैं तो रहूँगी नहीं, मेरेको बनानेवालेकी तरफ देखो। मेरेमें जो सुन्दरता, सामर्थ्य, विलक्षणता आदि दीख रही है, यह मेरी नहीं है, प्रत्युत उसकी है! (१०।४१ परि.)

१६. मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है। (१०। ४१ परि.)

१७. वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो, बढ़िया हो या घटिया हो, हमारे काम आये या न आये, दूर हो या पास हो, यदि उस वस्तुको हम अपनी मानते हैं तो उससे हमारा सम्बन्ध बना हुआ ही है। (१५। ८)

१८. किसी वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तुसे राग या द्वेषपूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो। (१५। १९)

१९. यदि मनमें कामना है तो वस्तु पासमें हो तो बन्धन और पासमें न हो तो बन्धन! यदि मनमें कामना नहीं है तो वस्तु पासमें हो तो मुक्ति और पासमें न हो तो मुक्ति! (१८।३०)

***

विवेक

१. जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। (२। १६ परि.)

२. जबतक 'देही अलग है और देह अलग है'—यह विवेक नहीं होगा, तबतक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कोई-सा भी योग अनुष्ठानमें नहीं आयेगा। इतना ही नहीं, स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये भी देह-देहीके भेदको समझना आवश्यक है। कारण कि देहसे अलग देही न हो, तो देहके मरनेपर स्वर्ग कौन जायगा? (२। ३०)

३. सत्-असत्‌का विवेक मनुष्य अगर अपने शरीरपर करता है तो वह साधक होता है और संसारपर करता है तो विद्वान् होता है। अपनेको अलग रखते हुए संसारमें सत्-असत्‌का विवेक करनेवाला मनुष्य वाचक (सीखा हुआ) ज्ञानी तो बन जाता है, पर उसको अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु अपनी देहमें सत्-असत्‌का विवेक करनेसे मनुष्य वास्तविक (अनुभवी) ज्ञानी हो सकता है। (२। ३० परि.)

४. शरीरी (शरीरमें रहनेवाला) अलग है और शरीर अलग है; शरीरी सत् है और शरीर असत् है; शरीरी चेतन है और शरीर जड़ है—इसको ठीक तरहसे अलग-अलग जानना 'सत्-असत्‌का विवेक' है और कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है; धर्म क्या है, अधर्म क्या है—इसको ठीक तरहसे समझकर उसके अनुसार कर्तव्य करना और अकर्तव्यका त्याग करना 'कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक' है। (२। ७२ वि.)

५. कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। 'मैं शरीरसे

सर्वथा भिन्न हूँ'—ऐसा विवेक होनेपर ही मुक्तिकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। मुक्तिकी बात तो दूर रही, स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामना भी अपनेको शरीरसे अलग माननेपर ही उत्पन्न होती है। इसीलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशका आरम्भ करते ही सबसे पहले विवेकका ही वर्णन किया है। (३। अव.)

६. जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं (गीता १३।१९), ऐसे ही उनकी भिन्नताको प्रकट करनेवाला विवेक भी अनादि है। यही विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है। यह भगवत्प्रदत्त विवेक मात्र प्राणियोंको नित्यप्राप्त है। (३। अव.)

७. अगर शरीरमें कभी मैं-पन और मेरा-पन दीख भी जाय, तो भी साधकको उसे महत्त्व न देकर अपने विवेकको ही महत्त्व देना चाहिये अर्थात् 'शरीर मैं नहीं और मेरा नहीं' इसी बातपर दृढ़ रहना चाहिये। अपने विवेकको महत्त्व देनेसे वास्तविक तत्त्वका बोध हो जाता है। (३। ३५ मा.)

८. अन्य शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्यशरीरमें विवेक विशेषरूपसे प्रकट है; किन्तु जड़ पदार्थोंकी कामनाके कारण वह विवेक काम नहीं करता। (३। ३८)

९. विवेक प्राणिमात्रमें है। पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर योनियोंमें यह विवेक विकसित नहीं होता और केवल जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। परन्तु मनुष्यमें यदि कामना न हो तो यह विवेक विकसित हो सकता है; क्योंकि कामनाके कारण ही मनुष्यका विवेक ढका रहता है। (३। ३९)

१०. मनुष्यमें विवेक है और इस विवेकसे ही वह पाप और पुण्य—दोनोंको जानता है और पाप नहीं करना चाहता। पाप न करनेकी इच्छा विवेकके बिना नहीं होती।...... विवेक जाग्रत् होनेसे मनुष्य भविष्यपर अर्थात् परिणामपर दृष्टि रखकर ही सब कार्य करता है। (३। ४१)

११. 'मैं हूँ'—ऐसे अपनी सत्ता (होनेपन)-का अनुभव स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको है। वृक्ष, पर्वत आदिको भी इसका अनुभव है, पर वे इसे व्यक्त नहीं कर सकते।...... मनुष्यको तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव है ही; परन्तु वह न तो अपने अनुभवकी ओर दृष्टि डालता है और न उसका आदर ही करता है। इस अनुभवको ही विवेक या निज-ज्ञान कहते हैं। यह विवेक सबमें है और भगवत्प्रदत्त है। (४। ३)

१२. त्याग और सेवा—ये दोनों ही कर्मसाध्य नहीं हैं, प्रत्युत विवेकसाध्य हैं। (४। १६ वि.)

१३. विवेक किसी कर्मका फल नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रको अनादिकालसे स्वतः प्राप्त है। यदि विवेक किसी शुभ कर्मका फल होता तो विवेकके बिना उस शुभ कर्मको कौन करता? क्योंकि विवेकके द्वारा ही मनुष्य शुभ और अशुभ कर्मके भेदको जानता है तथा अशुभ कर्मका त्याग करके शुभ कर्मका आचरण करता है। अतः विवेक शुभ कर्मोंका कारण है, कार्य नहीं। (४। १६ वि.)

१४. अपनी सत्ताका तो निरन्तर अनुभव होता है और मैं-मेरापन बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है; जैसे—पहले मैं बालक था और खिलौने आदि मेरे थे, अब मैं युवा या वृद्ध हूँ और स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि मेरे हैं। इस प्रकार मैं-मेरेपनके परिवर्तनका ज्ञान हमें है, पर अपनी सत्ताके परिवर्तनका ज्ञान हमें नहीं है—यह ज्ञान अर्थात् विवेक है। (५। १६)

१५. विवेकी मनुष्य उस वस्तुको नहीं चाहता, जो सदा उसके साथ न रहे। अपने विवेकसे वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता और सामर्थ्य मेरी

नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। (५। २२ परि.)

१६. जब मनुष्य मोहसे संसारमें आसक्त हो जाता है, तब भगवान्‌की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती। (११। ४९)

१७. रजोगुणकी वृद्धि होनेपर मरकर मनुष्य बननेवाले प्राणी कैसे ही आचरणोंवाले क्यों न हों, उन सबमें भगवत्प्रदत्त विवेक रहता ही है। अत: प्रत्येक मनुष्य इस विवेकको महत्त्व देकर; सत्संग, स्वाध्याय आदिसे इस विवेकको स्वच्छ करके ऊँचे उठ सकते हैं, परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इस भगवत्प्रदत्त विवेकके कारण सब-के-सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं। (१४। १५)

१८. स्वरूपसे अमर होते हुए भी जब मनुष्य अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ तादात्म्य मान लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ', तब उसको अपनी स्वत:सिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। (१४। २० परि.)

१९. यद्यपि मनुष्ययोनिके सिवाय देवादि अन्य योनियोंमें भी विवेक रहता है, पर भोगोंकी अधिकता होने तथा भोग भोगनेके लिये ही उन योनियोंमें जानेके कारण उनमें विवेकका उपयोग नहीं हो पाता। (१५। २)

२०. अपने विवेक (शरीरसे अपनी भिन्नताका ज्ञान)-को महत्त्व न देनेसे विवेक दब जाता है। विवेकके दबनेपर शरीर (जड़ तत्त्व)-की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है। (१५। ११)

२१. भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं। (१५।११ परि.)

२२. प्रवृत्ति और निवृत्तिको कैसे जाना जाय? इसे गुरुके द्वारा, ग्रन्थके द्वारा, विवेकके द्वारा जाना जा सकता है। इसके अलावा उस मनुष्यपर कोई आफत आ जाय, वह मुसीबतमें फँस जाय, कोई विचित्र घटना घट जाय, तो विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। किसी महापुरुषके दर्शन हो जानेसे पूर्वसंस्कारवश मनुष्यकी वृत्ति बदल जाती है जिन स्थानोंपर बड़े-बड़े प्रभावशाली सन्त हुए हैं, उन स्थलोंमें, तीर्थोंमें जानेसे भी विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। (१६।७)

२३. ज्यों-ज्यों आसुरी-सम्पत्ति आती है, त्यों-त्यों विवेक लुप्त होता जाता है। भोगोंके परायण होनेसे आसुर मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको नहीं जान सकते। (१६। ७ परि.)

२४. बोधमें विवेक कारण है, बुद्धि नहीं। बुद्धि विवेकसे शुद्ध होती है। बुद्धिकी शुद्धिमें शुभ कर्म भी कुछ सहायक होते हैं, पर विवेक-विचारसे बुद्धिकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुभ कर्मोंसे नहीं होती। (१८। १६ परि.)

२५. विवेकको महत्त्व न देना जितना दोषी है, उतने मल-विक्षेप-आवरण दोषी नहीं हैं। विवेक अनादि और नित्य है। इसलिये मल-विक्षेप-आवरणके रहते हुए भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। पापसे विवेक नष्ट नहीं होता, प्रत्युत विवेक जाग्रत् नहीं होता। विवेकको महत्त्व न देनेमें कारण है—क्रिया और पदार्थका महत्त्व। (१८। १६ परि.)

२६. सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि 'ब्रह्मलोकतककी प्राप्तितक सब बन्धन है'—ऐसा जानती है। (१८। ३० परि.)

२७. प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि हैं, और 'ये दो हैं' इस प्रकार इनकी पृथक्ताका विवेक भी अनादि है। यह विवेक पुरुषमें रहता है, प्रकृतिमें नहीं। (१८। ३९ वि.)

***

शरणागति (समर्पण)

१. शरणागतिसे ही समग्रकी प्राप्ति होती है। (न.नि.)

२. जो वचनमात्रसे भी भगवान्‌के शरण हो जाता है, भगवान् उसको स्वीकार कर लेते हैं। (२। १०)

३. 'मैं भगवान्‌का हूँ और मेरी कहलानेवाली मात्र वस्तुएँ भगवान्‌की हैं', इस प्रकार सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये अर्थात् अपनी ममता उठा देनी चाहिये। ऐसा करनेके बाद फिर साधकको संसार या भगवान्‌से कुछ भी चाहना नहीं पड़ता; क्योंकि जो उसे चाहिये, उसकी व्यवस्था भगवान् स्वत: करते हैं। (३। ३० वि.)

४. भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌की ही मानना वास्तविक अर्पण है। जो मनुष्य वस्तुओंको अपनी मानते हुए भगवान्‌के अर्पण करता है, उसके बदलेमें भगवान् बहुत वस्तुएँ देते हैं; जैसे—पृथ्वीमें जितने बीज बोये जायँ, उससे कई गुणा अधिक अन्न पृथ्वी देती है; पर कई गुणा मिलनेपर भी वह सीमित ही मिलता है। परन्तु जो वस्तुको अपनी न मानकर (भगवान्‌की ही मानते हुए) भगवान्‌के अर्पण करता है, भगवान् उसे अपने-आपको देते हैं और ऋणी भी हो जाते हैं। (३। ३० वि.)

५. यदि साधक राग-द्वेषको दूर करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, तो उसे सर्वसमर्थ परम सुहृद् प्रभुकी शरणमें चले जाना चाहिये। फिर प्रभुकी कृपासे उसके राग-द्वेष दूर हो जाते हैं (गीता ७। १४) और परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है (गीता १८। ६२)। (३। ३४)

६. माने हुए 'अहम्'-सहित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और सांसारिक पदार्थ सब-के-सब भगवान्‌के ही हैं—ऐसा मानना ही भगवान्‌के शरण होना है। (३। ३४)

७. वह (जीव) सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो भगवान् अपनी शक्तिसे उसका अज्ञान भी मिटा सकते हैं और दर्शन भी दे सकते हैं। (४। ६)

८. भगवान्‌के सर्वथा शरण होनेवालेको भक्ति स्वत: प्राप्त होती है। (४। ११)

९. दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भावोंमें सबसे श्रेष्ठ शरणागतिका भाव है। (४। ११)

१०. अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पित करनेके बाद भगवान् भक्तकी पुरानी त्रुटियोंको यादतक नहीं करते। वे तो वर्तमानमें साधकके हृदयका दृढ़ भाव देखते हैं। (४। ११)

११. भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌के शरण होना है। (४। ११ वि.)

१२. भगवान् महायोगेश्वर हैं, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर हैं, तो महायोगेश्वरके शरण होनेपर शरणागतका कौन-सा योग बाकी रहेगा? वह तो सम्पूर्ण योगोंसे युक्त हो जाता है। (६।४७)

१३. किसी-न-किसीका आश्रय लेना इस जीवका स्वभाव है। परमात्माका अंश होनेसे यह जीव अपने

अंशीको ढूँढ़ता है। परन्तु जबतक इसके लक्ष्यमें, उद्देश्यमें परमात्मा नहीं होते, तबतक यह शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़े रहता है और शरीर जिसका अंश है, उस संसारकी तरफ खिंचता है।.......जब यह भगवान्‌को ही सर्वोपरि मान लेता है, तब यह भगवान्‌में आसक्त हो जाता है और भगवान्‌का ही आश्रय ले लेता है। (७। १)

१४. शरणागति तब होती है, जब भगवान्‌में ही आसक्ति हो और भगवान्‌का ही आश्रय हो अर्थात् भगवान्‌में ही मन लगे और भगवान्‌में ही बुद्धि लगे। (७। १)

१५. जब मनुष्य संसारसे विमुख होकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृतिके कार्य)-को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌की सत्तामें ही अपनी सत्ता मिला दे अर्थात् केवल भगवान्‌की ही सत्ताको स्वीकार कर ले। न अपनी स्वतन्त्र सत्ता माने, न मायाकी स्वतन्त्र सत्ता माने। न अहम्‌का आश्रय ले, न माया (गुणों)-का आश्रय ले। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है। (७। १४ परि.)

१६. जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्‌का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्‌के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसे सीधे-सरल भक्त अहम्‌के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्‌का नाश भगवान् स्वयं करते हैं (गीता १०। ११)। (७। १४ परि.)

१७. माँ तो एक जन्मको और एक शरीरको देनेवाली होती है; परन्तु प्रभु तो सदा रहनेवाली माँ है। प्रभुका हृदय तो प्राणिमात्रपर सदैव द्रवित रहता है। प्राणी निमित्तमात्र भी शरण हो जाय तो प्रभु विशेष द्रवित हो जाते हैं। (७। १५)

१८. अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेसे उस भक्तकी सत्ता भगवान्‌से किंचिन्मात्र भी अलग नहीं रहती, प्रत्युत उसकी जगह केवल भगवान्‌की सत्ता रह जाती है। (७। १६)

१९. असली शरणागति वही है, जिसमें शरणागतकी सत्ता ही न रहे, प्रत्युत शरण्य ही रह जाय। (७। १९ परि.)

२०. सब कुछ भगवान् ही हैं—यह वास्तविक ज्ञान है। ऐसे वास्तविक ज्ञानवाला महात्मा भक्त भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् प्रेमवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल प्रेमस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिनमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं। यही शरणागतिका वास्तविक स्वरूप है। (७। १९ परि.)

२१. अगर मनुष्य सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो भगवान् उसके अज्ञानको भी दूर कर देते हैं और अपनी मायाको भी दूर कर देते हैं। (७। २५)

२२. भगवान्‌के समग्ररूप (विज्ञानसहित ज्ञान)-को जाननेकी मुख्य साधना है—शरणागति। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागति होनेपर भगवत्कृपासे ही होता है। (७। ३० परि.)

२३. वास्तवमें भक्त स्वयं भगवान्‌के अर्पित होता है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि आदि सर्वस्व अपने-आप अर्पित हो जाता है। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेसे सर्वस्व नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान् रह जाते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** (८। ७ परि.)

२४. जैसे किसी वस्तुका बीमा होनेपर वस्तुके बिगड़ने, टूटने-फूटनेकी चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर देनेपर साधकको अपनी गतिके विषयमें कभी किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती। (८। १४)

२५. जीव भगवान्का अंश है और जब वह सर्वथा भगवान्के समर्पित हो जाता है, तब कोई भी सिद्धि बाकी नहीं रहती। (८। १५ टि.)

२६. चीजोंको अपनी मानकर भगवान्को देनेसे भगवान् उनको अनन्त गुणा करके देते हैं और उनको भगवान्की ही मानकर भगवान्के अर्पण करनेसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं। (९। २)

२७. भगवान्के शरणागत होनेपर निर्भयता, नि:शोकता, निश्चिन्तता और नि:शंकता प्रत्यक्षमें प्राप्त होती है। (९। २ परि.)

२८. भगवान्के लिये किसी वस्तु और क्रियाविशेषको अर्पण करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत खुदको ही अर्पित करनेकी जरूरत है। खुद अर्पित होनेसे सब क्रियाएँ स्वाभाविक भगवान्के अर्पण हो जायँगी, भगवान्की प्रसन्नताका हेतु हो जायँगी। (९। २७ वि.)

२९. शरणागत भक्तका भगवान्के प्रति अपनेपनका भाव होनेसे भक्तकी प्रत्येक क्रियासे भगवान्को प्रसन्नता होती है। (९। २७ वि.)

३०. जब यह जीव अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर देता है तो फिर उसके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब दया और कृपाके रूपमें परिणत हो जाती है। तात्पर्य है कि जब उसके (भक्तके) सामने अनुकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'दया' को मानता है और जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'कृपा' को मानता है। (९। २८ वि.)

३१. स्त्रियोंको किसी भी व्यक्तिका मनसे किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल मेरा (ईश्वरका) ही आश्रय लेना चाहिये। (९। ३२)

३२. जो मनुष्य हानि और परलोकके भयसे मेरे (भगवन्के) चरणोंमें पड़ते हैं, मेरे शरण होते हैं, वे वास्तवमें अपने सुख और सुविधाके ही शरण होते हैं, मेरे शरण नहीं। मेरे शरण होनेपर किसीसे कुछ भी सुख-सुविधा पानेकी इच्छा होती है तो वह सर्वथा मेरे शरणागत कहाँ हुआ? कारण कि वह जबतक कुछ-न-कुछ सुख-सुविधा चाहता है, तबतक वह अपना कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। (९। ३४)

३३. 'मैं भगवान्का ही हूँ' ऐसे अपनी अहंताका परिवर्तन होनेपर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, क्रिया—ये सब-के-सब मेरेमें (भगवान्में) ही लग जायँगे। इसीका नाम शरणागति है। (९। ३४)

३४. जो स्वयं भगवान्का हो जाता है, उसके न मन-बुद्धि अपने रहते हैं, न पदार्थ और क्रिया अपने रहते हैं और न शरीर अपना रहता है।....... स्वयंके अर्पित हो जानेसे मात्र प्राकृत चीजें भगवान्की हो जाती हैं। (९। ३४ वि.)

३५. भक्त भगवान्के चिन्तनमें, प्रेममें ही सन्तुष्ट और मग्न रहता है। उसको न तो अपनेमें कोई कमी दीखती है और न कुछ पानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है।......भक्त सर्वथा भगवान्के ही आश्रित हो जाता है कि 'मैं जैसा भी हूँ, भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं।' (१०। ११ परि.)

३६. साधकको किंचिन्मात्र भी अपना आग्रह, अहंकार न रखकर और अपनी सामर्थ्य, बुद्धि न लगाकर

केवल भगवान्‌पर ही सर्वथा निर्भर हो जाना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की निर्भरतासे जो चीज मिलती है, वह अपार मिलती है। (१०। १९)

३७. भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागतका सब काम करनेकी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। (११। ८ वि.)

३८. कुछ भी करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर तभीतक रहती है, जबतक अपनेमें करनेका बल अर्थात् अभिमान रहता है। जब अपनेमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, तब करनेकी जिम्मेवारी बिलकुल नहीं रहती। अब वह केवल नमस्कार ही करता है अर्थात् अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर देता है। फिर करने-करानेका सब काम शरण्य (भगवान्)-का ही रहता है, शरणागतका नहीं। (११। ३९)

३९. स्वयं भगवान्‌के अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भी भगवदर्पित हो जाते हैं। (१२। ६)

४०. स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि भी स्वतः भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। स्वयं अर्पित होनेसे फिर कुछ बाकी रहता ही नहीं। कारण कि स्वयं पहले है, शरीर-मन-बुद्धि आदि पीछे हैं। भक्त पहले है, मनुष्य पीछे है। भगवान्‌में अर्पित होनेसे मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। (१२। १३-१४ परि.)

४१. भक्त सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदा-सर्वदा भयरहित होता है। साधकको भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित नहीं हो जाता। (१२। १५)

४२. भगवान्‌के सिवाय और किसीसे कुछ भी पानेकी इच्छा न हो अर्थात् भगवान्‌के सिवाय मनुष्य, गुरु, देवता, शास्त्र आदि मेरेको उस तत्त्वका अनुभव करा सकते हैं तथा अपने बल, बुद्धि, योग्यतासे मैं उस तत्त्वको प्राप्त कर लूँगा—इस प्रकार किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका सहारा न हो; और 'भगवान्‌की कृपासे ही मेरेको उस तत्त्वका अनुभव होगा'—इस प्रकार केवल भगवान्‌का ही सहारा हो—यह भगवान्‌में 'अनन्ययोग' होना है। (१३। १०)

४३. जो अनन्यभावसे केवल भगवान्‌के ही शरण हो जाता है, उसको गुणोंका अतिक्रमण नहीं करना पड़ता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे उसके द्वारा स्वतः गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है (गीता १२। ६-७)। (१४। २६)

४४. साधकको सकामभाव, वैदिक सकाम-कर्मानुष्ठानरूप पत्तोंमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। परमात्माका आश्रय लेनेसे वेदोंका वास्तविक तत्त्व भी जाननेमें आ जाता है। (१५। १)

४५. इस मृत्यु-संसार-सागरके सभी आश्रय मगरमच्छके आश्रयकी तरह ही हैं। अतः मनुष्यको विनाशी संसारका आश्रय न लेकर अविनाशी परमात्मतत्त्वका ही आश्रय लेना चाहिये। (१५। ४)

४६. परमात्माके शरण होनेका तात्पर्य है—अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् (मैं-पन), धन, परिवार, मकान आदि सब-के-सब पदार्थोंको परमात्माके अर्पण कर देना अर्थात् उन पदार्थोंसे अपनापन सर्वथा हटा लेना! (१५। ४)

४७. साधकमें अपने लिये कुछ भी करने और पानेका भाव न रहना ही वास्तवमें अनन्य शरणागति है। (१५। ४)

४८. तत्त्वज्ञान होनेके बाद जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागतिसे भी प्राप्त हो जाता है। (१५। ४)

४९. परमात्माका अंश होनेके कारण जीव वास्तवमें सदा परमात्माके ही आश्रित रहता है; परन्तु परमात्मासे विमुख होनेके बाद (आश्रय लेनेका स्वभाव न छूटनेके कारण) वह भूलसे नाशवान् संसारका आश्रय लेने लगता है, जो कभी टिकता नहीं। (१५। ४)

५०. जबतक 'स्वयं' के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदिका सम्बन्ध मानते हुए 'हूँ' बना हुआ है, तबतक व्यभिचार-दोष होनेके कारण अनन्य शरणागति नहीं है। (१५। ४)

५१. जड़ताका त्याग करनेका सुगम उपाय है—एकमात्र भगवान्का आश्रय लेना अर्थात् 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं' इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना; इसपर अटल विश्वास कर लेना। (१५। ११)

५२. संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बताया; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। (१८। १२ वि.)

५३. भगवान्के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। (१८। ५६ परि.)

५४. शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे जो कुछ शास्त्रविहित सांसारिक या पारमार्थिक क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्की मरजीसे ही होती हैं। मनुष्य तो केवल अहंकारके कारण उनको अपनी मान लेता है। उन क्रियाओंमें जो अपनापन है, उसे भी भगवान्के अर्पण कर देना है; क्योंकि वह अपनापन केवल मूर्खतासे माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। (१८। ५७)

५५. पारमार्थिक साधनमें विघ्न-बाधाओंके आनेकी तथा भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है। इसके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरा आश्रय लेनेवालेके दोनों काम मैं कर दूँगा अर्थात् अपनी कृपासे साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर दूँगा और उस साधनके द्वारा अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा। (१८। ५८)

५६. जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अथवा जो सर्वथा भगवान्के शरण हो गया है, उसको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता। (१८। ५९)

५७. प्रभुके शरणागत होनेपर परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं रहती—यह शरणागतिकी महिमा है। (१८। ५९)

५८. प्राणिमात्रका हित केवल इसी बातमें है कि वह किसी दूसरेका सहारा न लेकर केवल भगवान्की ही शरण ले। भगवान्की शरण होनेके सिवाय जीवका कहीं भी, किंचिन्मात्र भी हित नहीं है। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। इसलिये परमात्माको छोड़कर किसीका भी सहारा लेगा तो वह सहारा टिकेगा नहीं। (१८। ६४)

५९. निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जायगी; परन्तु साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी। (१८। ६४ परि.)

६०. सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंमें मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है। (१८। ६६)

६१. गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह बात स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्के अनन्यशरण होना ही है। (१८। ६६)

६२. **'मामेकं शरणं व्रज'** का तात्पर्य मन-बुद्धिके द्वारा शरणागतिको स्वीकार करना नहीं है, प्रत्युत स्वयंको भगवान्‌की शरणमें जाना है। (१८। ६६)

६३. तुम्हारा (भक्तका) तो बस, एक ही काम है; वह काम है—निर्भय, नि:शोक, निश्चिन्त और नि:शंक होकर मेरे (प्रभुके) चरणोंमें पड़े रहना! परन्तु अगर तेरेमें भय, चिन्ता, वहम आदि दोष आ जायँगे तो वे शरणागतिमें बाधक हो जायँगे और सब भार भी तेरेपर आ जायगा। शरण होकर अपनेपर भार लेना शरणागतिमें कलंक है। (१८।६६)

६४. मेरे (भगवान्‌के) शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, तेरा अभिमान है और शरणागतिमें कलंक है। (१८।६६)

६५. शरणागत होनेके बाद भक्तको लोक-परलोक, सद्‌गति-दुर्गति आदि किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। (१८।६६)

६६. शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसके भय, शोक, चिन्ता, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है अर्थात् दोषोंका आधार मिट जाता है। कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं। (१८।६६ वि.)

६७. शरणागत भक्त सदा नि:शोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं। (१८।६६ वि.)

६८. सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें—ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी? और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी? (१८।६६ वि.)

६९. शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे सब बिना प्रयत्न किये आते हैं। (१८।६६ वि.)

७०. शरणागत भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की मरजी समझकर प्रसन्न रहता है।...... वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा देखकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। (१८।६६ वि.)

७१. शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मरजी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है। (१८।६६ वि.)

७२. स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं। कारण कि वे अच्युत भगवान्‌के ही हैं—**'यतस्तदीयाः'** (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। (१८। ६६ वि.)

७३. अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर भगवान्‌की शरण लेता है, तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। (१८।६६ वि.)

७४. अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी। इसलिये यही अच्छा है कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखें।.......भगवान्‌के शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-

आप ही आयेंगे, पर इनके आने या न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। (१८।६६ वि.)

७५. शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वत:- स्वाभाविक भजन होता है।......शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता।.....ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌के भूल जानेसे त्रिलोकीका राज्य मिलेगा, तो वह इसे भी ठुकरा देगा। (१८।६६ वि.)

७६. अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वगुह्यतम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। (१८।६६ परि.)

७७. भगवान्‌की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मोंका महत्त्व नहीं है। धर्म (कर्तव्य-कर्म)-में जड़ताका और शरणागतिमें चिन्मयताका सम्बन्ध रहता है। कर्तव्य-कर्म अपने वर्णाश्रमको लेकर होता है; अत: उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अत: उसमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है। (१८।६६ परि.)

७८. बाहरसे (व्यवहारमें) सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करनेपर भी भीतरसे किसीकी गरज न हो, किसीका आश्रय न हो, केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो। (१८।६६ परि.)

७९. वास्तवमें पूर्ण शरणागति भगवान् ही प्रदान करते हैं। जैसे छोटा बालक अपना हाथ ऊँचा करता है तो माँ उसको उठा लेती है, ऐसे ही भक्त अपनी शक्तिसे भगवान्‌के सम्मुख होता है, शरणागतिकी तैयारी करता है तो भगवान् उसको पूर्ण शरणागति दे देते हैं। (१८।६६ परि.)

८०. वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। अनन्य शरणागतिसे मनुष्य भगवान्‌से अभिन्न होकर अनन्तरसको प्राप्त कर सकता है। इसलिये साधकको पापोंसे अथवा दु:खोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌के शरणागत हो जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (अन्तवाला) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (अनन्त) मिलता है! भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते है। (१८। ६६ परि.)

***

शरीर

१. देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर मुक्तिसे पहले सूक्ष्म और कारण-शरीर नहीं छूटते। जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है। (२। १३)

२. शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम (परिवर्तन) शुरू हो जाता है। (२। १३ परि.)

३. 'दीखनेवाले' (दृश्य)-के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं 'देखनेवाला' (द्रष्टा) कहलाता है। अगर 'दीखनेवाले' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'देखनेवाला' नहीं रहेगा। इसी तरह 'शरीर' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं (चिन्मय सत्ता) 'शरीरी' कहलाता है। अगर 'शरीर' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहेगा। (२।

१४ परि.)

४. विचार करना चाहिये कि जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर नहीं रहा, तो फिर यह शरीर कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे, तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा? (२। २७ परि.)

५. स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं। अन्न-जलसे बना हुआ 'स्थूलशरीर' है। यह स्थूलशरीर इन्द्रियोंका विषय है। इस स्थूलशरीरके भीतर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बना हुआ 'सूक्ष्मशरीर' है। यह सूक्ष्मशरीर इन्द्रियोंका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है। जो बुद्धिका भी विषय नहीं है, जिसमें प्रकृति—स्वभाव रहता है, वह 'कारणशरीर' है। (२। २९)

६. शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और जब लिखना बन्द करता है, तब लेखनीको यथास्थान रख देता है, ऐसे ही साधकको कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरको ज्यों-का-त्यों रख देना चाहिये—उससे असंग हो जाना चाहिये। कारण कि अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है? (२। ३० परि.)

७. शरीरके साथ सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन है, मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। (२। ३० परि.)

८. जबतक शरीरमें अहंता-ममता है, तबतक शरीरसे होनेवाली मात्र क्रियाएँ कर्म हैं। कारण कि शरीर प्रकृतिका कार्य है, और प्रकृति कभी अक्रिय नहीं होती। अत: शरीरमें अहंता-ममता रहते हुए कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; चाहे वह अवस्था प्रवृत्तिकी हो अथवा निवृत्तिकी। (३। ५)

९. यह व्यष्टि शरीर किसी भी प्रकारसे समष्टि संसारसे अलग नहीं है और अलग हो सकता भी नहीं; क्योंकि समष्टिका अंश ही व्यष्टि कहलाता है। इसलिये व्यष्टि (शरीर)-को अपना मानना और समष्टि (संसार)-को अपना न मानना ही राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंका कारण है एवं यही अहंकार, व्यक्तित्व अथवा विषमता है। (३। १२)

१०. संसारके छोटे-से-छोटे अंश शरीरको अपना और अपने लिये मानना महान् पाप है। परन्तु शरीरको अपना न मानकर इसको आवश्यकतानुसार अन्न, जल, वस्तु आदि देना और इसको आलसी, प्रमादी, भोगी नहीं होने देना इस शरीरकी सेवा है, जिससे शरीरमें ममता-आसक्ति नहीं रहती। (३। १३)

११. वास्तवमें शरीरसे संसारका ही काम होता है, अपना काम होता ही ही नहीं; क्योंकि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कुछ-न-कुछ काम करनेके लिये ही शरीरकी जरूरत होती है। अगर कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत? इसलिये शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ करना ही दोष है। मिली हुई वस्तुके द्वारा हम अपने लिये कुछ नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके द्वारा संसारकी सेवा कर सकते हैं। शरीर संसारका अंश है; अत: इससे जो कुछ होगा, संसारके लिये ही होगा। (३।१३ परि.)

१२. शरीरसे सम्बन्ध रखकर 'न करना' भी वास्तवमें 'करना' ही है। (३।१८)

१३. दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक, किसी भी दृष्टिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शरीरादि भौतिक पदार्थ अपने हैं। (३।३०)

१४. शरीरके बढ़ने, बदलने आदि क्रियाओंके समान शरीर-निर्वाहकी व्यावहारिक क्रियाएँ भी स्वाभाविक रूपसे होती हैं; परन्तु राग-द्वेष रहनेसे साधारण पुरुषोंकी तो इन (व्यावहारिक) क्रियाओंमें लिप्तता रहती है, पर राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी लिप्तता नहीं होती। (३।३३)

१५. प्रकृतिके कार्य महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि)-का अत्यन्त सूक्ष्म अंश 'कारणशरीर' ही अहम्‌का जड़-अंश है। इस कारणशरीरमें ही 'काम' रहता है। कारणशरीरके तादात्म्यसे 'काम' स्वयंमें दीखता है। (३।४३)

१६. तीनों शरीर अपने (व्यक्तिगत) नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं, प्रत्युत संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही हैं। इन तीनोंकी संसारके साथ अभिन्नता और अपने स्वरूपके साथ भिन्नता है। (६। १)

१७. मनुष्यजन्ममें शरीर आदिका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत शरीर आदिके द्वारा किये जानेवाले साधनका महत्त्व है। (६।१)

१८. हम शरीरको संसारसे और संसारको शरीरसे अलग नहीं कर सकते। इसलिये अगर हम शरीरकी परवाह करते हैं तो वैसे ही संसारकी भी परवाह करें और अगर संसारकी बेपरवाह करते हैं तो वैसे ही शरीरकी भी बेपरवाह करें। दोनों बातोंमें चाहे कोई मान लें, इसीमें ईमानदारी है। (६।३२ परि.)

१९. शरीरको लेकर जो व्यवहार है, वह लौकिक मर्यादाके लिये बहुत आवश्यक है और उस मर्यादाके अनुसार चलना ही चाहिये। परन्तु भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वयंकी मुख्यता है, शरीरकी नहीं। (९।३२ मा.)

२०. जिस-किसीको जहाँ-कहीं जिस-किसीसे भी भय होता है, वह शरीरमें अहंता-ममता होनेसे ही होता है। शरीरमें अहंता-ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु (प्राणों)-को रखना चाहता है। यही मनुष्यकी मूर्खता है और यही आसुरी सम्पत्तिका मूल है। (११। ४९)

२१. देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। (१२। ५ परि.)

२२. यह (शरीर) इतना जल्दी बदलता है कि इसको दुबारा कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् दृष्टि पड़ते ही जिसको देखा, उसको फिर दुबारा नहीं देख सकते; क्योंकि वह तो बदल गया। (१३। १)

२३. जिस प्रकार खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही अनाज पैदा होता है, उसी प्रकार इस शरीरमें जैसे कर्म किये जाते हैं, उनके अनुसार ही दूसरे शरीर, परिस्थिति आदि मिलते हैं। तात्पर्य है कि इस शरीरमें किये गये कर्मोंके अनुसार ही यह जीव बार-बार जन्म-मरणरूप फल भोगता है। (१३।१)

२४. अपना उद्धार करनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। (१३।१ मा.)

२५. पुरुषकी स्थिति (सम्बन्ध) व्यष्टि शरीरमें हो जानेसे उसकी स्थिति समष्टि प्रकृतिमें हो जाती है; क्योंकि व्यष्टि शरीर और समष्टि प्रकृति—दोनों एक ही हैं। वास्तवमें देखा जाय तो व्यष्टि है ही नहीं, केवल समष्टि ही है। व्यष्टि केवल भूलसे मानी हुई है। जैसे समुद्रकी लहरोंको

समुद्रसे अलग मानना भूल है, ऐसे ही व्यष्टि शरीरको समष्टि संसारसे अलग (अपना) मानना भूल ही है। (१३।६)

२६. शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही मृत्यु होती है। (१३।२५)

२७. वास्तवमें नाशवान् शरीरके साथ तादात्म्य करना ही अपनी हत्या करना है, अपना पतन करना है, अपने-आपको जन्म-मरणमें ले जाना है। (१३।२८)

२८. प्रकृति और उसका कार्य शरीर—दोनों एक ही हैं।.......एक शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे मात्र प्रकृतिके साथ, मात्र शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। (१३।३१)

२९. यह सबका अनुभव है कि शरीरके बिना हम कुछ कर सकते ही नहीं। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। अगर हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। (१३।३३ परि.)

३०. जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक प्रकृतिके अंश कारणशरीरसे उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलयमें कारणशरीर-सहित ही प्रकृतिमें लीन होता है। (१४।३)

३१. शरीरके साथ 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध हो जानेपर जीवका पूरे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंको वह अपनी आवश्यकता मानने लग जाता है। (१४।५ वि.)

३२. मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें हक नहीं है। (१५।१०)

३३. शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध ही आसुरी-सम्पत्तिका मूलभूत लक्षण है। (१६।४)

३४. यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि घृणित (अपवित्र) चीजोंका बना हुआ है। इस हड्डी-मांसके थैलेमें तोलाभर भी कोई शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सुगन्धयुक्त वस्तु नहीं है। यह केवल गन्दगीका पात्र है। इसमें कोरी मलिनता-ही-मलिनता भरी पड़ी है। यह केवल मल-मूत्र पैदा करनेकी एक फैक्टरी है, मशीन है। (१७।१४)

३५. कर्म करते समय हरेक व्यक्तिके शरीरमें परिश्रम तो होता ही है, पर जिस व्यक्तिमें शरीरके सुख-आरामकी इच्छा मुख्य होती है, उसको कर्म करते समय शरीरमें ज्यादा परिश्रम मालूम देता है। (१८।२४)

***

शान्ति

१. अन्यायी, पापी, व्यक्ति कभी निर्भय और सुख-शान्तिसे नहीं रह सकता—यह नियम है। (१।१०)

२. जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती। (२।४७ परि.)

३. जो अपने कर्तव्यके परायण नहीं रहता, उसको शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे साधु, शिक्षक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि यदि अपने-अपने कर्तव्यमें तत्पर नहीं रहते, तो उनको शान्ति नहीं मिलती। कारण कि अपने कर्तव्यके पालनमें दृढ़ता न रहनेसे ही अशान्ति पैदा होती है। (२।६६ परि.)

४. जिसके मनमें भोग-पदार्थोंकी कामना है, जो पदार्थोंको ही महत्त्व देते हैं, जिनकी दृष्टि पदार्थोंकी

तरफ ही है, उनको कितने ही सांसारिक भोग-पदार्थ मिल जायँ, तो भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती; उनकी कामना, जलन, सन्ताप नहीं मिट सकते; तो फिर उनको शान्ति कैसे मिल सकती है? कारण कि चेतन स्वरूपकी तृप्ति जड़ पदार्थोंसे हो ही नहीं सकती। (२।७०)

५. कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित होनेपर शान्ति आकर प्राप्त होती है—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत शान्ति तो मनुष्यमात्रमें स्वत:सिद्ध है। केवल उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे सुख भोगनेकी कामना करनेसे, उनसे ममताका सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति होती है। जब संसारकी कामना, स्पृहा, ममता और अहंता सर्वथा छूट जाती है, तब स्वत:सिद्ध शान्तिका अनुभव हो जाता है। (२।७१)

६. अपने कर्तव्यका पालन करनेसे दूसरोंको भी कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा मिलती है। इससे घरमें एकता और शान्ति स्वाभाविक आ जाती है। (४।३१)

७. मनुष्य परमशान्ति-स्वरूप परमात्मासे तो विमुख हो जाता है और सांसारिक वस्तुओंमें शान्ति ढूँढ़ता है। इसलिये अनेक जन्मोंतक शान्तिकी खोजमें भटकते रहनेपर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंमें शान्ति मिल ही कैसे सकती है? (४।३९)

८. यह बात अनुभवसिद्ध है कि सांसारिक पदार्थोंकी कामना और ममताके त्यागसे शान्ति मिलती है। सुषुप्तिमें जब संसारकी विस्मृति हो जाती है, तब उसमें भी शान्तिका अनुभव होता है। यदि जाग्रत्‌में ही संसारका सम्बन्ध-विच्छेद (कामना-ममताका त्याग) हो जाय तो फिर कहना ही क्या है! (५।१२)

९. संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति सत्त्वगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली सात्त्विकी शान्ति है। जबतक साधक इस शान्तिका भोग करता है और इस शान्तिसे 'मुझमें शान्ति है' इस प्रकार अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक परिच्छिन्नता रहती है (गीता १४।६) और जबतक परिच्छिन्नता रहती है, तबतक अखण्ड एकरस रहनेवाली वास्तविक शान्तिका अनुभव नहीं होता। (५।१२)

१०. चाहे सुखकी इच्छाका त्याग हो जाय, चाहे ममताका अभाव हो जाय और चाहे भगवान्‌में सच्ची आत्मीयता हो जाय; इसके होते ही परमशान्तिका अनुभव हो जायगा। (५।२९)

११. असत्‌के साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति पैदा होती है।..... जब यह शरीरादि असत् पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर उनसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब असत्‌के त्यागसे उसको स्वत: एक शान्ति मिलती है। (६।३)

१२. भीतरमें जो स्वत:सिद्ध शान्ति है, वह अनुकूलतामें राजी होनेसे और प्रतिकूलतामें नाराज होनेसे भंग हो जाती है। (६।७)

१३. संसारके सम्बन्धके कारण ही हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व होते हैं और इन्हीं द्वन्द्वोंके कारण शान्ति भंग होती है। जब ये द्वन्द्व मिट जाते हैं, तब स्वत:सिद्ध शान्ति प्रकट हो जाती है। (६।१४)

१४. संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिके लिये यह ज्यों-ज्यों उद्योग करता है, त्यों-ही-त्यों इसमें अभाव, अशान्ति, दु:ख, जलन, सन्ताप आदि बढ़ते चले जाते हैं। (११।३६)

१५. कामनाओंके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**' (गीता २।७०)। अत: कामनाओंकी निवृत्ति ही परमशान्तिका उपाय है। (१५।५ वि.)

१६. जैसे नदियोंके जलको अपने अंशी समुद्रसे मिलनेपर ही स्थिरता मिलती है, ऐसे ही जीवको अपने अंशी परमात्मासे मिलनेपर ही वास्तविक, स्थायी शान्ति मिलती है। (१५।६)

१७. अन्त:करणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना 'शान्ति' है; क्योंकि संसारके साथ राग-द्वेष करनेसे ही अन्त:करणमें अशान्ति आती है और उनके न होनेसे अन्त:करण स्वाभाविक ही शान्त, प्रसन्न रहता है। (१६।२)

१८. कामनापूर्ति ही जिनका उद्देश्य है, उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। (१६।१० परि.)

१९. अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री भी किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है। (१८।१२ वि.)

२०. संसारके त्यागसे जो शान्ति मिलती है, वह स्वरूप अथवा साध्य नहीं है, प्रत्युत वह तो एक साधन है—'**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते**' (गीता ६।३)। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिसे जो शान्ति मिलती है, वह साध्य है अर्थात् परमात्माका स्वरूप है—'**शान्तिं निर्वाणपरमाम्**' (गीता ६।१५)। अब साधकको सावधानी यह रखनी है कि वह उस साधनजन्य शान्तिका भोग न करे। भोग न करनेसे स्वत: वास्तविकताकी अनुभूति हो जायगी और यदि भोग करेगा तो वहींपर अटक जायगा। (१८।१३ टि.)

२१. असत् संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अन्त:करणमें अशान्ति, हलचल आदि पैदा होते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अशान्ति कभी पासमें आती ही नहीं। (१८।५१—५३)

२२. जब अन्त:करणमें असत् वस्तुओंका महत्त्व हो जाता है, तब उन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है। कामना पैदा होते ही अन्त:करणकी शान्ति भंग हो जाती है और अशान्ति (हलचल) पैदा हो जाती है। (१८।५४)

***

शोक

१. मनुष्यको शोक तब होता है, जब वह संसारके प्राणी-पदार्थोंमें दो विभाग कर लेता है कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं। (२।११)

२. असत्‌को सत् मान लेनेसे ही शोक होता है अर्थात् ये शरीर आदि ऐसे ही बने रहें, मरें नहीं—इस बातको लेकर ही शोक होता है। (२।११)

३. शोकके होनेमें तो केवल अविवेक (मूर्खता) ही कारण है। (२।११)

४. मरे हुए प्राणियोंके लिये शोक करनेसे उन प्राणियोंको दु:ख भोगना पड़ता है। (२।११)

५. शरीरका निरन्तर विनाश होता है; अत: उसके लिये शोक करना नहीं बनता और शरीरीका विनाश कभी होता ही नहीं; अत: उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शोक केवल मूर्खतासे होता है। (२।११ परि.)

६. जो विवेकी होते हैं, समझदार होते हैं, उनको शोक नहीं होता। अगर शोक होता है, तो वे विवेकी नहीं हैं, समझदार नहीं हैं। (२।१६)

७. भौतिक नाशवान् पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हुआ नहीं, हो सकता नहीं और

होनेकी सम्भावना भी नहीं। (१८।६६)

८. जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है। (१८।६६ वि.)

***

संसार

१. संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। जब स्वरूपका न तो क्रियासे और न पदार्थसे ही कोई सम्बन्ध है, तब यह सिद्ध हो गया कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण संसारका अभाव है। (२।१६)

२. संसारको हम एक ही बार देख सकते हैं, दूसरी बार नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है; अत: एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी, दूसरे क्षणमें वह वैसी नहीं रहती।......इससे भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तवमें संसार एक बार भी नहीं दीखता। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन करणोंसे हम संसारको देखते हैं—अनुभव करते हैं, वे करण भी संसारके ही हैं। अत: वास्तवमें संसारसे ही संसार दीखता है। जो शरीर-संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित है, उस स्वरूपसे संसार कभी दीखता ही नहीं! (२।१६)

३. यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अत: संसारका सदा ही अभाव है। (२।१६ परि.)

४. असंगता आग है और संसार रुई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं। (२।४० परि.)

५. अपनी कामनाके कारण ही यह संसार जड़ दीखता है, वास्तवमें तो यह चिन्मय परमात्मा ही है। (२।७० परि.)

६. संसार हमें वह वस्तु दे ही नहीं सकता, जो हम वास्तवमें चाहते हैं। हम सुख चाहते हैं, अमरता चाहते हैं, निश्चिन्तता चाहते हैं, निर्भयता चाहते हैं, स्वाधीनता चाहते हैं। परन्तु यह सब हमें संसारसे नहीं मिलेगा, प्रत्युत संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे मिलेगा। (३।९ परि.)

७. सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि अपने लिये कुछ (वस्तु और क्रिया) नहीं है, दूसरेके लिये ही है—'**इदं ब्रह्मणे न मम।**' जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं। स्त्रीके अंग पुरुषको सुख देते हैं, पर स्त्रीको सुख नहीं देते। पुरुषके अंग स्त्रीको सुख देते हैं, पर पुरुषको सुख नहीं देते। (३।११)

८. जैसे शरीरका अंगोंके साथ और अंगोंका शरीरके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसे ही संसारका व्यक्तिके साथ व्यक्तिका संसारके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। (३।१६)

९. संसारमें प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि कभी स्थायी नहीं रह सकती। (३।१७)

१०. संसार साधनका क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक सामग्री साधनके लिये मिलती है, भोग और संग्रहके लिये कदापि नहीं। सांसारिक सामग्री अपनी और अपने लिये है ही नहीं। (३।१९)

११. भगवान्‌की सृष्टि-रचना भी जीवमात्रके उद्धारके लिये ही होती है। स्वर्गलोक पुण्य-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये है और चौरासी लाख योनियाँ एवं नरक पाप-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये हैं। मनुष्ययोनि पुण्य और पाप—दोनोंसे ऊँचे उठकर अपना कल्याण करनेके लिये है। (३। २२)

१२. संसारमें अपने लिये रहना ही नहीं है—यही संसारमें रहनेकी विद्या है। संसार वस्तुतः एक विद्यालय है, जहाँ हमें कामना, ममता, स्वार्थ आदिके त्यागपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करना सीखना है और उसके अनुसार कर्म करके अपना उद्धार करना है। संसारके सभी सम्बन्धी एक-दूसरेकी सेवा (हित) करनेके लिये ही हैं। (३। २३)

१३. प्रत्येक साधकके लिये संसार केवल कर्तव्य-पालनका क्षेत्र है, सुखी-दुःखी होनेका क्षेत्र नहीं। संसार सेवाके लिये है। (३। ३४ मा.)

१४. संयोगजन्य सुखकी कामनासे ही संसार सत्य प्रतीत होता है और प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरादि पदार्थ स्थिर दिखायी देते हैं। (३। ३७)

१५. कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। (४। १४; ५। २)

१६. प्रकृतिके कार्य संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति या संसार क्रियारूप ही है।.........सम्पूर्ण क्रियाएँ अभावमें जा रही हैं। अतः संसार अभावरूप ही है। (४। २४ मा.)

१७. जगत् जीवके अन्तर्गत है और जीव परमात्माके अन्तर्गत है। (४। ३५ परि.)

१८. संसार भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि जो भी परिवर्तन होता है, वह हमें दुःख देनेके लिये नहीं होता, प्रत्युत हमारे विकासके लिये होता है। अगर परिवर्तन न हो तो विकास कैसे होगा? परिवर्तनके बिना बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? रज-वीर्यका शरीर कैसे बनेगा? बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? तात्पर्य है कि स्वाभाविक परिवर्तन विकास करनेवाला है। संसारमें परिवर्तन ही सार है। परिवर्तनके बिना संसार एक अचल, स्थिर चित्रकी तरह ही होता। अतः परिवर्तन दोषी नहीं है, प्रत्युत उसमें सुखबुद्धि करना दोषी है। (५। २२ परि.)

१९. चींटीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। संसारका स्वरूप है—वस्तु, व्यक्ति और क्रिया। (६। १ परि.)

२०. कहीं तो प्रकृतिको लेकर भगवान् रचना करते हैं (गीता ९। ८) और कहीं भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति रचना करती है (गीता ९। १०)—इन दोनों ही रीतियोंसे गीतामें संसारकी रचनाका वर्णन आता है। (७। ४)

२१. संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता)-में है। (७। ५ परि.)

२२. जीवोंके द्वारा किये हुए अनादिकालके कर्म जीवोंके प्रलयकालमें लीन होनेपर जब परिपक्व होते हैं अर्थात् फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब उससे (प्रलयका समय समाप्त होनेपर, सर्गके आदिमें) भगवान्‌का संकल्प होता है और उसी संकल्पसे शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। (७। ६)

२३. संसार भगवान्‌से उत्पन्न होता है, भगवान्‌में स्थित रहता है और भगवान्‌में ही लीन हो जाता है अर्थात् भगवान्‌के सिवाय संसारकी कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। (७। ७)

२४. जैसे, सोनेसे गहने पैदा होते हैं तो वे सोनेसे अलग नहीं होते अर्थात् सोना ही होते हैं। ऐसे ही परमात्मासे पैदा होनेवाली अनन्त सृष्टि परमात्मासे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं रख सकती। (७।१२)

२५. तत्त्वसे तो संसार भगवान्‌का स्वरूप ही है। हाँ, संसारमें जो वर्ण-आश्रमकी मर्यादा है, 'ऐसा काम करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये'—यह जो विधि-निषेधकी मर्यादा है, इसको महापुरुषोंने जीवोंके कल्याणार्थ व्यवहारके लिये मान्यता दी है। (७।३० वि.)

२६. जो मनुष्य सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दु:ख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। (८।१५ परि.)

२७. जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है। (९।४-५ परि.)

२८. जड़ता (संसार)-की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध केवल कामना (भोगेच्छा)-के कारण ही है। अत: जबतक सुखकी इच्छा है, तभीतक यह संसार है। (९।४-५ परि.)

२९. वास्तवमें संसारकी स्थिति है ही नहीं, प्रत्युत उत्पत्ति और प्रलयके प्रवाहको ही स्थिति कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संसारकी उत्पत्ति भी नहीं है, प्रत्युत प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् अभाव-ही-अभाव है। अत: संसारका प्रलय, अभाव अथवा वियोग ही मुख्य है। (९।७ परि.)

३०. यह जो क्षणभंगुर संसार है, जिसका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है और जिसको जिस क्षणमें जिस रूपमें देखा है, उसको दूसरे क्षणमें उस रूपमें दुबारा कोई भी देख नहीं सकता; क्योंकि वह दूसरे क्षणमें वैसा रहता ही नहीं—इस प्रकार संसारको यथार्थरूपसे जान ले। (१०।३)

३१. संसारमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मूलमें दिव्य परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं। अत: संसारकी विशेषता देखना भोग है और परमात्माकी विशेषता देखना विभूति है, योग है। (१०।१६)

३२. जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, रुईसे बने वस्त्र रुईरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्‌से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है। (१०।३९ परि.)

३३. भगवद्बुद्धिकी दृढ़ता होनेसे संसार लुप्त हो जायगा; जैसे—सोनेके गहनोंमें सोनाबुद्धि होनेसे गहने लुप्त हो जाते हैं, खाँडके खिलौनोंमें खाँडबुद्धि होनेसे खिलौने लुप्त हो जाते हैं। कारण कि वास्तवमें संसार है ही नहीं। केवल जीवने ही अपने राग-द्वेषसे संसारको धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। (१०। ४१ परि.)

३४. जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान्‌के अनन्त, अपार विश्वरूपका एक छोटा-सा अंश होनेके कारण यह संसार भी विश्वरूप ही है। परन्तु यह हरेकके सामने दिव्य विश्वरूपसे प्रकट नहीं है, प्रत्युत संसाररूपसे ही प्रकट है। कारण कि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ न होकर नाशवान् संसारकी तरफ ही रहती है। (११।५)

३५. जिनकी भोगदृष्टि होती है, उनको तो संसार सत्य दीखता है, पर जिनकी भोगदृष्टि नहीं है, ऐसे महापुरुषोंको संसार भगवत्स्वरूप ही दीखता है। (११।२० मा.)

३६. यह संसार 'चर्मदृष्टि' से सच्चा, 'विवेकदृष्टि' से परिवर्तनशील, 'भावदृष्टि' से भगवत्स्वरूप और

'दिव्यदृष्टि' से विराट्‌रूपका ही एक छोटा-सा अंग दीखता है। (११।२० मा.)

३७. तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानीको तो संसार चिन्मयरूपसे दीखता है, पर प्रेमी भक्तको वह माधुर्यरूपसे दीखता है। माधुर्यरूपसे दीखनेपर जैसे अपने शरीरमें सबकी स्वाभाविक प्रियता होती है, ऐसे ही भक्तकी मात्र प्राणियोंके साथ स्वाभाविक प्रियता होती है। (११।४९ परि.)

३८. जैसे समुद्रमें जल-ही-जल होता है, ऐसे ही संसारमें मौत-ही-मौत है। संसारमें उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मौतके थपेड़ोंसे बचती हो अर्थात् उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मौतकी तरफ ही जा रही है। (१२।७)

३९. अन्त:करणमें सांसारिक (संयोगजन्य) सुखकी कामना रहनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति संसारको असत्य या मिथ्या जान लेनेपर भी मिटती नहीं; जैसे—सिनेमामें दीखनेवाले दृश्य (प्राणी-पदार्थों)-को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है अथवा जैसे भूतकालकी बातोंको याद करते समय मानसिक दृष्टिके सामने आनेवाले दृश्यको मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है। अत: जबतक भीतरमें सांसारिक सुखकी कामना है, तबतक संसारको मिथ्या माननेपर भी संसारकी आसक्ति नहीं मिटती। (१२।१९)

४०. जैसे दर्पणमें मुख नहीं होनेपर भी मुख दीखता है और स्वप्नमें हाथी नहीं होनेपर भी हाथी दीखता है, ऐसे ही संसार नहीं होनेपर भी संसार दीखता है। अगर संसारकी तरफ दृष्टि न रहे तो संसार 'है'-रूपसे नहीं दीखेगा। (१३।२८)

४१. संसार एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। केवल परिवर्तनके समूहका नाम ही संसार है। (१५।१)

४२. संसाररूपी पीपलका वृक्ष भी तत्त्वत: परमात्मस्वरूप होनेसे पूजनीय है। इस संसाररूप पीपल-वृक्षकी पूजा यही है कि इससे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करके केवल इसकी सेवा करना। (१५।१)

४३. सुखकी इच्छा न रखनेवालेके लिये यह संसार साक्षात् भगवत्स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)। परन्तु संसारसे सुखकी इच्छा रखनेवालोंके लिये यह संसार दु:खोंका घर ही है। (१५।१)

४४. संसारको क्षणभंगुर (अनित्य) जानकर इससे कभी किंचिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखना—यही संसारको यथार्थरूपसे जानना है। वास्तवमें संसारको क्षणभंगुर जान लेनेपर सुखभोग हो ही नहीं सकता। सुखभोगके समय संसार क्षणभंगुर नहीं दीखता। जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंको स्थायी मानते रहते हैं, तभीतक सुखभोग, सुखकी इच्छा और कामना तथा संसारका आश्रय, महत्त्व, विश्वास बना रहता है। (१५।१)

४५. यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, एक सम, शान्त समुद्र है, ऐसे ही ऊपरसे परिवर्तनशील संसार दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मा है (गीता १३।२७)। (१५।१)

४६. वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता (स्थिति) है ही नहीं केवल उत्पत्ति और विनाशका क्रममात्र है। संसारका यह उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही 'स्थिति'-रूपसे प्रतीत होता है। वास्तवमें देखा जाय तो उत्पत्ति भी नहीं है, केवल नाश-ही-नाश है। (१५।३)

४७. संसार अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है अथवा प्रतीतिमात्र है, इत्यादि विषयोंपर दार्शनिकोंमें

अनेक मतभेद हैं; परन्तु संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है, जिसका विच्छेद करना आवश्यक है—इस विषयपर सभी दार्शनिक एकमत हैं। (१५।३ वि.)

४८. संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका सुगम उपाय है—संसारसे प्राप्त (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि) सम्पूर्ण सामग्रीको 'अपनी' और 'अपने लिये' न मानते हुए उसको संसारकी ही सेवामें लगा देना। (१५।३ वि.)

४९. सांसारिक वस्तुओंका अत्यन्ताभाव अर्थात् सर्वथा नाश तो नहीं हो सकता, पर उनमें रागका सर्वथा अभाव हो सकता है।......संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अपने लिये सर्वथा अभाव हो जाता है, जिसे 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहते हैं। (१५।३ वि.)

५०. संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी सत्ता और महत्ता दीखती है। अगर राग न रहे तो संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। (१५।३ परि.)

५१. वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। इसलिये अन्य दर्शनिक तो संसारको असत्, सत् आदि अनेक प्रकारसे कहते हैं, पर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—'**वासुदेवः सर्वम्।**' (१५।३ परि.)

५२. परमात्माका रचा हुआ संसार भी जब इतना प्रिय लगता है, तब (संसारके रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय लगने चाहिये! यद्यपि रची हुई वस्तुमें आकर्षण होना एक प्रकारसे रचयिताका ही आकर्षण है (गीता १०।४१), तथापि मनुष्य अज्ञानवश उस आकर्षणमें परमात्माको कारण न मानकर संसारको ही कारण मान लेता है और उसीमें फँस जाता है। (१५।४)

५३. संसारको अपना माननेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीखने लग जाता है और अप्राप्त संसार प्राप्त दीखने लग जाता है। (१५।४)

५४. संसार जैसा दिखायी देता है, वैसा ही है—इस प्रकार संसारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। (१५।५)

५५. संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखने-सुननेमें आता है, वह सब एक भगवान् (पुरुषोत्तम)-का ही है—ऐसा मान लेनेसे संसारका खिंचाव सर्वथा मिट जाता है। यदि संसारका थोड़ा-सा भी खिंचाव रहता है, तो यही समझना चाहिये कि अभी भगवान्को दृढ़तासे माना ही नहीं। (१५।१९)

५६. संसारमात्रका वियोग ही नित्य है।......संसारके संयोगमें जो सुख प्रतीत होता है, उसमें दुःख भी मिला हुआ रहता है। परन्तु संसारके वियोगसे सुख-दुःखसे अतीत अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है। (१८।३८ परि.)

५७. वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है। (१८।५७)

५८. संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको यह सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। (१८।६६ वि.)

५९. वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है, पर संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। इससे सिद्ध हुआ

कि संसारसे वियोग-ही-वियोग है, संयोग है ही नहीं। (१८।७३ मा.)

***

सगुण-निर्गुण

१. केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान्ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७।१)। (न.नि.)

२. ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं।.......'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है। (५।१० परि.)

३. परमात्मामें शरीर और शरीरी, सत् और असत्, जड़ और चेतन, ईश्वर और जगत्, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार आदि कोई विभाग है ही नहीं। उस एकमें ही अनेक विभाग हैं और अनेक विभागमें वह एक ही है। वह विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। (६।३० परि.)

४. केवल निर्गुणको जाननेवाला परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता, प्रत्युत सगुण-निर्गुण दोनोंको (समग्रको) जाननेवाला ही परमात्माको तत्त्वसे जानता है। (७।३ परि.)

५. सगुण-साकार भगवान् भी वास्तवमें निर्गुण ही हैं; क्योंकि वे सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण-साकार भगवान्की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—'**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**', '**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**', '**निर्गुणो मदपाश्रयः,**' '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा. ११।२५।२४—२७)। (७।१२ परि.)

६. गीता साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—दोनोंको मानती है।.......निराकार होते हुए साकार होनेमें और साकार होते हुए निराकार होनेमें भगवान्में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता। ऐसे भगवान्के स्वरूपको न जाननेके कारण लोग उनके विषयमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ किया करते हैं। (७।२४)

७. उपासनाकी दृष्टिसे भगवान्के प्रायः दो रूपोंका विशेष वर्णन आता है—एक सगुण और एक निर्गुण। इनमें सगुणके दो भेद होते हैं—एक सगुण-साकार और एक सगुण-निराकार। परन्तु निर्गुणके दो भेद नहीं होते। हाँ, निराकारके दो भेद होते हैं—एक सगुण-निराकार और एक निर्गुण-निराकार। (७।३० वि.)

८. उपासना करनेवाले दो रुचिके होते हैं—एक सगुण-विषयक रुचिवाला होता है और एक निर्गुण-विषयक रुचिवाला होता है। परन्तु इन दोनोंकी उपासना भगवान्के 'सगुण-निराकार' रूपसे ही शुरू होती है।.......इसका कारण यह है कि बुद्धि प्रकृतिका कार्य (सगुण) होनेसे निर्गुणको पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुणके उपासकका लक्ष्य तो निर्गुण-निराकार होता है, पर बुद्धिसे वह सगुण-निराकारका ही चिन्तन करता है। (७।३० वि.)

९. सगुण-निर्गुणका भेद तो उपासनाकी दृष्टिसे है। वास्तवमें इन दोनों उपासनाओंमें उपास्यतत्त्व एक ही है। (७।३० टि.)

१० वास्तवमें परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। सगुण-निर्गुण तो उनके विशेषण हैं, नाम हैं।......परमात्मा सगुण तथा निर्गुण—दोनों हैं और दोनोंसे परे भी हैं। परन्तु इस वास्तविकताका पता तभी लगता है, जब बोध होता है। (७।३०)

११. भगवान्‌के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदि जो दिव्य गुण हैं, उन गुणोंके सहित सर्वत्र व्यापक परमात्माको 'सगुण' कहते हैं।.....परमात्मा चाहे सगुण-निराकार हों, चाहे सगुण-साकार हों, वे प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे सर्वथा रहित हैं, अतीत हैं। (७।३० वि.)

१२. जो परमात्मा गुणोंसे कभी नहीं बँधते, जिनका गुणोंपर पूरा आधिपत्य होता है, वे ही परमात्मा निर्गुण होते हैं।....निर्गुण तो वे ही हो सकते हैं, जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं; और जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं, ऐसे परमात्मामें ही सम्पूर्ण गुण रह सकते हैं। इसलिये परमात्माको सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ कह सकते हैं। (७।३० वि.)

१३. लोगोंमें इस बातकी प्रसिद्धि है कि 'निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अत: ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है।' वास्तवमें ऐसा मानना शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब ब्रह्ममें माया है ही नहीं तो फिर मायासहित ईश्वर ब्रह्मके अन्तर्गत कैसे हुआ? ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी? परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४।२७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' तथा **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। (७।३० परि.)

१४. पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुण शब्दके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुण शब्दके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अत: निर्गुणमें समग्र शब्द लग ही नहीं सकता।.....अत: समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। (७।३० परि.)

१५. भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि अनेक रूपोंका और नाम, लीला, धाम आदिका भेद तो साधकोंकी दृष्टिसे है, अन्तमें सब एक हो जाते हैं अर्थात् अन्तमें सब एक **'मद्भाव'**—भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌का समग्र स्वरूप एक ही है। (८।५)

१६. मनुष्योंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकार होते है, पर उनके अन्तिम फलमें कोई फरक नहीं होता। सबका प्रापणीय तत्त्व एक ही होता है।.......उस परमात्माको चाहे सगुण-निराकार मानकर उपासना करें, चाहे निर्गुण-निराकार मानकर उपासना करें और चाहे सगुण-साकार मानकर उपासना करें, अन्तमें सबको एक ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। (८।२१)

१७. निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है, इसलिये सगुणका ज्ञान 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान है। (९।१ परि.)

१८. भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त आदि जितने स्वरूप हैं, उन सब स्वरूपोंमें भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी बहुत विशेष महिमा है। (९।२)

१९. सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिका भेद तो सम्प्रदायोंको लेकर है, वास्तवमें परमात्मा एक हैं। ये सगुण-निर्गुण आदि एक ही परमात्माके अलग-अलग विशेषण हैं, अलग-अलग नाम हैं।

(९।४)

२०. सगुण (समग्र)-के अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अत: निर्गुण एकदेशीय होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत सब कुछ नहीं आता। परन्तु सगुण (समग्र)-के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है, कुछ भी बाकी नहीं रहता। (११।३७ परि.)

२१. सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ, इसलिये भगवान्ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है। भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है। (१२।३-४ परि.)

२२. सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। (१२।५ परि.)

२३. परमात्मा प्रकृति और उसके कार्यसे अतीत हैं। वे चाहे सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार, सदा प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। (१३।१४)

२४. जो अपनेको गुणोंमें लिप्त, गुणोंसे बँधा हुआ मानकर जन्मता-मरता था, वह बद्ध जीव भी जब परमात्माको प्राप्त होनेपर गुणातीत (गुणोंसे रहित) कहा जाता है, तो फिर परमात्मा गुणोंमें बद्ध कैसे हो सकते हैं? वे तो सदा ही गुणोंसे अतीत (रहित) हैं। अत: वे प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित हैं अर्थात् संसारी जीवोंकी तरह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान आदि इन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं; किन्तु उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। (१३।१४)

२५. भगवान्ने '**मद्भावायोपपद्यते**' (१३।१८) पदसे सगुणकी प्राप्ति बतायी है और यहाँ (१३।३४ में) '**ये विदुर्यान्ति ते परम्**' पदोंसे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। वास्तवमें '**मद्भाव**' और '**परम्**' की प्राप्ति एक ही है (गीता ८।२१; १४।२७)। (१३।३४)

२६. सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम सगुण नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। (१४।२६ परि.)

२७. मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। (१४।२७ परि.)

२८. निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जायगी; परन्तु साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी। (१८।६४ परि.)

सत्-असत्

१. असत्की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह सत्ता भी वास्तवमें सत्की ही है। सत्की सत्तासे ही असत् सत्तावान् प्रतीत होता है। (२।१६)

२. असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा

देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है। (२।१६ परि.)

३. असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। (२।१६ परि.)

४. जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'असत्' (शरीर) है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'सत्' (शरीरी) है। (२।२८ परि.)

५. असत्‌को जाननेसे असत्‌की निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। सत्‌से ही असत्‌को सत्ता मिलती है। (२।७२ टि.)

६. भोग-वासना कितनी ही प्रबल क्यों न हो, पर वह है 'असत्' ही। उसका जीवके सत्-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जितना ध्यानयोग आदि साधन किया है, साधनके जितने संस्कार हैं, वे कितने ही साधारण क्यों न हो, पर वे हैं 'सत्' ही। वे सभी जीवके सत्-स्वरूपके अनुकूल हैं। (६।४४)

७. असत् (नाशवान्) वस्तु हमारे साथ रहनेवाली नहीं है—ऐसा समझनेपर भी अगर समय-समयपर उसको महत्त्व देते रहेंगे तो वास्तविकता (सत्-वस्तु)-की प्राप्ति नहीं होगी। (७।१२)

८. सत्-असत्‌को अलग-अलग करनेसे ज्ञानमार्ग होता है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि.....**' (गीता २।१६) और एक करनेसे भक्तिमार्ग होता है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९।१९)। (७।३० परि.)

९. अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वासके अनुसार किसीको भी साक्षात् परमात्माका स्वरूप मानकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वास्तवमें यह सम्बन्ध सत्‌के साथ ही है। केवल अपने मन-बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी सन्देह न हो।........भगवान् विराट्‌रूपसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं; अतः सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं—इसमें अपनेको किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिये। कारण कि 'यह सब भगवान् कैसे हो सकते हैं?' यह सन्देह साधकको वास्तविक तत्त्वसे, मुक्तिसे वंचित कर देता है और महान् आफतमें फँसा देता है। (९।१६)

१०. सत् और असत्—ये दो विभाग हमारी दृष्टिमें हैं, तभी भगवान् हमें समझानेके लिये कहते हैं—'**सदसच्चाहम्।**' भगवान्‌की दृष्टिमें तो एक उनके सिवाय कुछ नहीं है। ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टिसे भी देखें तो सत्ता एक ही है। दो सत्ता हो ही नहीं सकती। दूसरी सत्ता माननेसे ही मोह होता है (गीता ७।१३)। राग-द्वेष भी दूसरी सत्ता माननेसे ही होते हैं। (९।१९ परि.)

११. जिनकी दृष्टि असत् (सांसारिक भोग और संग्रह)-पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत् (तत्त्व)-को कैसे देख सकते हैं! (१५।११)

१२. परमात्मप्राप्तिके लिये जो सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन किया जाता है, उसमें जड़ता (असत्)-का आश्रय रहता ही है।... जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब ये (सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन) केवल संसारके हितके लिये ही किये जायँ, अपने लिये नहीं। (१५।१५ वि.)

१३. 'असत्' का त्याग किये बिना लाया गया 'सत्' ऊपरसे चिपकाया जाता है, जो ठहरता नहीं।

परन्तु असत्‌का त्याग करनेसे 'सत्' भीतरसे उदय होता है। अत: जिसको हम असत्-रूपसे जानते हैं, उसका त्याग करनेसे 'सत्' का अनुभव हो जाता है। (१७। २६ परि.)

१४. दैवी सम्पत्ति 'सत्' है और आसुरी सम्पत्ति 'असत्' है। मुक्ति देनेवाले सब साधन 'सत्' हैं और बन्धनकारक सब कर्म 'असत्' हैं। दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं, पर उनका त्याग 'सत्' है। असत्‌का त्याग भी 'सत्' है और सत्‌का ग्रहण भी 'सत्' है। वास्तवमें असत्‌के त्यागकी जितनी जरूरत है, उतनी 'सत्' को ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है। (१७। २६ परि.)

१५. छोटे-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि उस परमात्माके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म 'सत्' हो जाता है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है। (१७। २८)

१६. वेदोंने, भगवान्‌ने और शास्त्रोंने कृपा करके मनुष्योंके कल्याणके लिये ही ये शुभकर्म बताये हैं, पर जो मनुष्य इन तीनोंपर अश्रद्धा करके शुभकर्म करते हैं, उनके ये सब कर्म 'असत्' हो जाते हैं। (१७। २८)

१७. असत्‌को असत् जाननेपर भी तबतक सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, जबतक मनुष्य सत्‌की प्राप्तिको ही अपने जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य नहीं बना लेता। (१८। १ टि.)

१८. विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्‌का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है। (१८। ४० परि.)

१९. असत्‌को असत् जानकर भी यह उसमें आसक्त क्यों होता है? कारण कि असत्‌के सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले तात्कालिक सुखकी तरफ तो यह दृष्टि रखता है, पर उसका परिणाम क्या होगा, उस तरफ अपनी दृष्टि रखता ही नहीं। (१८। ७३)

***

सन्त-महात्मा

१. शास्त्र और संत किसीको बाध्य नहीं करते कि तुम हमारेमें श्रद्धा करो। श्रद्धा करने अथवा न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। (२। १८ परि.)

२. श्रेष्ठ पुरुषसे (परहितका असीम भाव होनेके कारण) संसारमात्रका स्वाभाविक ही बहुत उपकार हुआ करता है, चाहे कोई समझे या न समझे। कारण यह है कि व्यक्तित्व (अहंता-ममता) मिट जानेके कारण भगवान्‌की उस पालन-शक्तिके साथ उसकी एकता हो जाती है, जिसके द्वारा संसारमात्रका हित हो रहा है। (३। २१)

३. सन्त-महात्मा धर्मकी स्थापना तो करते हैं, पर दुष्टोंके विनाशका कार्य वे नहीं करते। दुष्टोंका विनाश करनेका कार्य भगवान् अपने हाथमें रखते हैं। (४। ८)

४. 'कारक पुरुष' और सन्त-महात्माओंके रूपमें भी भगवान्‌का अवतार हुआ करता है। भगवान् और कारक पुरुषका अवतार तो 'नैमित्तिक' है, पर सन्त-महात्माओंका अवतार 'नित्य' माना गया है। (४। ८)

५. साधु पुरुषके भावों और क्रियाओंमें पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, मुनि आदि सबका हित भरा रहता है।........यदि लोग उसके मनके भावोंको जान जायँ तो वे उसके

चरणोंके दास बन जायँ। इसके विपरीत यदि लोग दुष्ट पुरुषके मनके भावोंको जान जायँ तो दिनमें कई बार लोगोंसे उसकी पिटाई हो! (४।८)

६. सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतना अपना शरीर प्रिय नहीं होता। (४।३४)

७. बुराईरहित महापुरुष अगर हिमालयकी एकान्त गुफामें भी बैठा हो, तो भी उसके द्वारा विश्वका बहुत हित होता है। (५।३ मा.)

८. आज दिनतक भगवान्‌के अनेक अवतार हो चुके हैं, कई तरहके सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी हो चुके हैं; परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है। इससे भी सिद्ध होता है कि हमने स्वयं उनमें श्रद्धा नहीं की, हम स्वयं उनके सम्मुख नहीं हुए, हमने स्वयं उनकी बात नहीं मानी, इसलिये हमारा उद्धार नहीं हुआ। (६।५ वि.)

९. गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनके शरण होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। (६।५ परि.)

१०. गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। (६।५ परि.)

११. वास्तविक दृष्टिसे देखें तो भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान हैं, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। (६।५ परि.)

१२. पुण्यात्मा सन्त-महात्माओंके आसनपर भी नहीं बैठना चाहिये; क्योंकि उनके आसन, कपड़े आदिको पैरसे छूना भी उनका निरादर करना है, अपराध करना है। (६।११)

१३. सन्तोंकी आज्ञामें जो सिद्धान्त भरा हुआ है, वह आज्ञापालकमें उतर आता है। उनकी आज्ञापालनके बिना भी उनके सिद्धान्तका पालन करनेवालोंका कल्याण हो जाता है; परन्तु वे महात्मा आज्ञाके रूपमें जिसको जो कुछ कह देते हैं, उसमें एक विलक्षण शक्ति आ जाती है। आज्ञापालन करनेवालेको कोई परिश्रम नहीं पड़ता और उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक वैसे आचरण होने लगते हैं। (७।१९ मा.)

१४. 'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा। जिसमें अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है। (७।१९ परि.)

१५. भगवान्‌ने महात्माको तो दुर्लभ बताया है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१९), पर अपनेको सुलभ बताया है—**'तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८।१४) इसका तात्पर्य है कि संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके तत्त्वको जानकर उनके शरण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़े तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा। (८।१४ परि.)

१६. भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तलोग भी साधु पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंकी सेवा और धर्मका अच्छी तरहसे पालन करने तथा करवानेके लिये कारक पुरुषके रूपमें, सन्तके रूपमें इस पृथ्वीपर जन्म ले सकते हैं। (८।१५)

१७. असत् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे मनुष्य 'अल्पात्मा' होते हैं; क्योंकि वे शरीर-संसारके आश्रित होते हैं। अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर वे 'आत्मा' होते हैं; क्योंकि उनमें अणुरूपसे 'अहम्' की गन्ध रहनेकी सम्भावना होती है। भगवान्के साथ अभिन्नता होनेपर वे 'महात्मा' होते हैं; क्योंकि वे भगवन्निष्ठ होते हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। (८।१५)

१८. वास्तवमें कल्याण दर्शनमात्रसे नहीं होता, प्रत्युत अपनी भावना विशेष होनेसे होता है। (८।१६)

१९. सन्त, भक्त आदिके दर्शन, सम्भाषण, चिन्तन आदिका माहात्म्य इस मृत्युलोकके मनुष्योंके लिये ही है। (८।१६)

२०. ......ऐसे आचार्य, सन्तके पास रहना चाहिये और केवल अपने उद्धारके लिये ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहिये। वे क्या करते हैं, क्या नहीं करते? वे ऐसी क्रिया क्यों करते हैं? वे कब किसके साथ कैसा बर्ताव करते हैं? आदिमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिये अर्थात् उनकी क्रियाओंमें तर्क नहीं लगाना चाहिये। (१३।७)

२१. सन्त-महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे, उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके अनुसार तत्परतापूर्वक चलनेसे मनुष्य स्वतः उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है, जो कि सबको सदासे ही स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। (१३।२५)

२२. अगर किसी कारणवश साधककी सन्त-महापुरुषके प्रति अश्रद्धा, दोष-दृष्टि हो जाय तो उनमें साधकको अवगुण-ही-अवगुण दीखेंगे, गुण दीखेंगे ही नहीं। इसका कारण यह है कि महापुरुष गुण-अवगुणोंसे ऊँचे उठे (गुणातीत) होते हैं; अतः उनमें अश्रद्धा होनेपर अपना ही भाव अपनेको दीखता है। (१३।२५)

२३. साधकको चाहिये कि वह तत्त्वज्ञ महापुरुषकी क्रियाओंपर, उनके आचरणोंपर ध्यान न देकर उनके पास तटस्थ होकर रहे। सन्त-महापुरुषसे ज्यादा लाभ वही ले सकता है, जो उनसे किसी प्रकारके सांसारिक व्यवहारका सम्बन्ध न रखकर केवल पारमार्थिक (साधनका) सम्बन्ध रखता है। दूसरी बात, साधक इस बातकी सावधानी रखे कि उसके द्वारा उन महापुरुषकी कहीं भी निन्दा न हो। यदि वह उनकी निन्दा करेगा, तो उसकी कहीं भी उन्नति नहीं होगी। (१३।२५)

२४. जैसे समुद्रके भीतर लहरें उठती दीखती हैं, पर समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं होती, भीतरसे समुद्र शान्त (सम) रहता है, ऐसे ही व्यवहारमें सन्त दु:खी होते हुए दीखते हैं, पर उनके भीतर न सुख है, न दु:ख। तात्पर्य है कि वास्तवमें वे दु:खी नहीं होते, प्रत्युत उनके द्वारा दूसरेका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा होती है। (१६।२)

२५. जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको अपनेमें अच्छे गुण नहीं दीखते और अवगुण उनमें रहते नहीं। (१६।५)

२६. किसी महापुरुषके दर्शन हो जानेसे पूर्वसंस्कारवश मनुष्यकी वृत्ति बदल जाती है अथवा जिन स्थानोंपर बड़े-बड़े प्रभावशाली सन्त हुए हैं, उन स्थलोंमें, तीर्थोंमें जानेसे भी विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। (१६।७)

२७. जिनकी महिमा शास्त्रोंने गायी है और जिनका बर्ताव शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार होता है, ऐसे सन्त-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रोंके अनुसार ही चलना है।...... वास्तवमें देखा जाय तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों

आदिसे ही शास्त्र बनते हैं। (१६।२४)

२८. अच्छे सन्त-महात्मा पहले युगोंमें भी कम हुए हैं, फिर कलियुगमें तो और भी कम होंगे। कम होनेपर भी यदि भीतर चाहना हो तो उन्हें सत्संग मिल सकता है। परन्तु मुश्किल यह है कि कलियुगमें दम्भ, पाखण्ड ज्यादा होनेसे कई दम्भी और पाखण्डी पुरुष सन्त बन जाते हैं। अत: सच्चे सन्त पहचानमें आने मुश्किल हैं। इस प्रकार पहले तो सन्त-महात्मा मिलने कठिन हैं और मिल भी जायँ तो उनमेंसे कौन-से सन्त कैसे हैं—इस बातकी पहचान प्राय: नहीं होती और पहचान हुए बिना उनका संग करके विशेष लाभ ले लें—ऐसी बात भी नहीं है। (१७।१)

२९. ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)-की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती। (१८।५५ परि.)

३०. मनुष्यमें प्राय: यह एक कमजोरी रहती है कि जब उसके सामने सन्त-महापुरुष विद्यमान रहते हैं, तब उसका उनपर श्रद्धा-विश्वास एवं महत्त्वबुद्धि नहीं होती; परन्तु जब वे चले जाते हैं, तब पीछे वह रोता है, पश्चात्ताप करता है। (१८।६२)

***

समता

१. देह-देहीका ठीक-ठीक विवेक होनेपर समतामें अपनी स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। कारण कि देहमें राग रहनेसे ही विषमता आती है। (२।३९)

२. भगवान्‌के मतमें कर्मोंमें विषमबुद्धि (राग-द्वेष) होनेसे ही पाप लगता है। समबुद्धि होनेसे पाप लगता ही नहीं। जैसे, संसारमें पाप और पुण्यकी अनेक क्रियाएँ होती रहती हैं, पर उनसे हमें पाप-पुण्य नहीं लगते; क्योंकि उनमें हमारी समबुद्धि रहती है अर्थात् उनमें हमारा कोई पक्षपात, आग्रह, राग-द्वेष नहीं रहते। (२।३९)

३. गीताकी दृष्टिमें ऊँची चीज है—समता। दूसरे लक्षण आयें या न आयें, जिसमें समता आ गयी, उसको गीता सिद्ध कह देती है। जिसमें दूसरे सब लक्षण आ जायँ और समता न आये, उसको गीता सिद्ध नहीं कहती। (२।४०)

४. मनुष्य तप, दान, तीर्थ, व्रत आदि कोई भी पुण्यकर्म करे, वह फल देकर नष्ट हो जाता है; परन्तु साधन करते-करते अन्त:करणमें थोड़ी भी समता (निर्विकारता) आ जाय तो वह नष्ट नहीं होती, प्रत्युत कल्याण कर देती है। इसलिये साधनमें समता जितनी ऊँची चीज है, मनकी एकाग्रता उतनी ऊँची चीज नहीं है। (२।४०)

५. समता ही योग है अर्थात् समता परमात्माका स्वरूप है। (२।४८)

६. समता एक ऐसी विद्या है, जिससे मनुष्य संसारमें रहता हुआ ही संसारसे सर्वथा निर्लिप्त रह सकता है। (२।५०)

७. यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो झूला चलते हुए (विषम दीखनेपर) भी निरन्तर समतामें ही रहता है अर्थात् आगे-पीछे जाते समय भी निरन्तर (जहाँसे रस्सी बँधी है, उसकी) सीधमें ही रहता है। इसी प्रकार जीव भी प्रत्येक क्रियामें समतामें ही रहता है। (३।१९ मा.)

८. जब युद्ध-जैसा घोर (क्रूर) कर्म भी समभावसे किया जा सकता है, तब ऐसा कौन-सा दूसरा

कर्म है, जो समभावसे न किया जा सकता हो? समभाव तभी होता है, जब 'शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं'—ऐसा भाव हो जाय, जो कि वास्तवमें है। (३।३० वि.)

९. समतापूर्वक कर्म करनेसे दीखनेमें विकर्म होता हुआ भी वह 'अकर्म' हो जाता है। (४।१७)

१०. अपना कुछ भी नहीं है, अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ भी नहीं करना है—ये तीन बातें ठीक-ठीक अनुभवमें आ जायँ, तभी सिद्धि और असिद्धिमें पूर्णतः समता आयेगी। (४।२२)

११. यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो समता स्वतःसिद्ध है। यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितिमें हम जो रहते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी हम वही रहते हैं। यदि हम वही (एक ही) न रहते, तो दो अलग-अलग (अनुकूल और प्रतिकूल) परिस्थितियोंका ज्ञान किसे होता? इससे सिद्ध हुआ कि परिवर्तन परिस्थितियोंमें होता है, अपने स्वरूपमें नहीं।....भूल यह होती है कि हम परिस्थितियोंकी ओर तो देखते हैं, पर स्वरूपकी ओर नहीं देखते। (४।२२)

१२. कोई भी कर्म अपने लिये न करनेसे और किसी भी पदार्थको अपना और अपने लिये न माननेसे जब क्रिया-पदार्थरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब स्वतःसिद्ध समताका अपने-आप अनुभव हो जाता है। (४।४२)

१३. जैसे शरीरके किसी भी अंगमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। (५।१८ वि.)

१४. जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। (५।१८ वि.)

१५. ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है। (५।१८ वि.)

१६. समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह)-का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती।.....बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परन्तु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है। (५।१८ वि.)

१७. समताकी पहचान कर्म करनेसे ही होगी। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए यदि हमारेमें समता रही, राग-द्वेष नहीं हुए, तब तो ठीक है; क्योंकि वह कर्म 'योग' में कारण हो गया। परन्तु यदि हमारेमें समता नहीं रही, राग-द्वेष हो गये, तो हमारा जड़ताके साथ सम्बन्ध होनेसे वह कर्म 'योग' में कारण नहीं बना। (६।३)

१८. जैसे लिखनेके समय लेखनीको काममें लेते हैं और लिखना पूरा होते ही लेखनीको ज्यों-का-त्यों रख देते हैं, ऐसे ही साधक कार्य करते समय शरीरको काममें ले और कार्य पूरा होते ही उसको ज्यों-का-त्यों रख दे अर्थात् उससे असंग हो जाय तो प्रत्येक क्रियाके बाद उसकी योग (समता)-में स्थिति होगी। (६।४ परि.)

१९. जिसको वास्तविक समताकी प्राप्ति हो गयी है, उसमें सभी सद्गुण-समाचार स्वतः आ जायँगे

और उसकी संसारपर विजय हो जायगी (गीता ५।१९)। (६।९)

२०. जिस समताकी असीम, अपार, अनन्त महिमा है, जिसका वर्णन कभी कोई कर ही नहीं सकता, उस समताकी प्राप्तिका उपाय है—बुराईरहित होना। (६।९)

२१. मनुष्यके कल्याणके लिये भगवान्‌ने गीतामें खास बात बतायी कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिको लेकर चित्तमें समता रहनी चाहिये। इस समतासे मनुष्यका कल्याण होता है। (६।३३)

२२. बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तपस्या आदि करनेवालोंको लोग बड़ा मानते हैं, पर वास्तवमें बड़ा वही है, जिसका उद्देश्य समताका है। (६।४ ४)

२३. यदि साधक आरम्भमें 'समता' को प्राप्त न भी कर सके, तो भी उसको अपनी रुचि या उद्देश्य समता-प्राप्तिका ही रखना चाहिये। (६।४४)

२४. जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंकी दृष्टिसे हम सब एक समान हैं। इस समताको गीताने 'योग' कहा है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। भेद (विषमता) केवल व्यवहारके लिये है, जो अनिवार्य है; क्योंकि व्यवहारमें समता सम्भव ही नहीं है। अत: साधककी दृष्टि (भावना) सम होनी चाहिये।....व्यवहारकी भिन्नता तो स्वाभाविक है, पर भावकी भिन्नता मनुष्यने अपने राग-द्वेषसे पैदा की है। (७।३० अ.सा.)

२५. जबतक राग-द्वेष (विषमता) है, तबतक संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते। भगवान् द्वन्द्वातीत हैं। जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता! तात्पर्य है कि राग-द्वेष मिटनेपर अर्थात् समता आनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। (१०।१० परि.)

२६. साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता जैसे-जैसे कम होती जायगी, वैसे-वैसे ही उसकी बुद्धि सम होती जायगी। (१२।३-४)

२७. ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान न होना समता नहीं कहलाती। समता वही है कि इन तीनोंका ज्ञान होते हुए भी इनमें राग-द्वेष न हों। (१४।२४)

२८. मनुष्यमें एक समता आ गयी तो वह ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गया। परन्तु यदि उसमें समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आनेपर भी भगवान् उसको पूर्णता नहीं मानते। (१८।५७)

२९. परिस्थितियोंके बदलनेपर भी मैं नहीं बदलता, सदा वही रहता हूँ। इस तरह अपने-आपमें स्थित रहे। अपने-आपमें स्थित रहनेसे सुख-दु:ख आदिमें समता हो जायगी। (१८।५७)

❋❋❋

साधक

१. साधकके लिये खास बात है—जाने हुए असत्‌का त्याग। साधक जिसको असत् जानता है, उसका वह त्याग कर दे तो उसका साधन सहज, सुगम हो जायगा और जल्दी सिद्ध हो जायगा।.......जाने हुए असत्‌का त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करे। जिसके साथ हमारा न तो नित्य सम्बन्ध है और न तो स्वरूपगत एकता ही है, उसको

अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। इस दृष्टिसे शरीरको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। विवेकविरोधी सम्बन्धके रहते हुए कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। (२।३० परि.)

२. किसी भी मार्गका कोई भी साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है; क्योंकि मैं अशरीरी हूँ, मेरा स्वरूप अव्यक्त है। (२।३० परि.)

३. जबतक साधकका शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध रहता है, तबतक साधन करते हुए भी सिद्धि नहीं होती और वह शुभ कर्मोंसे, सार्थक चिन्तनसे और स्थितिकी आसक्तिसे बँधा रहता है। वह यज्ञ, तप, दान आदि बड़े-बड़े शुभ कर्म करे, आत्माका अथवा परमात्माका चिन्तन करे अथवा समाधिमें भी स्थित हो जाय तो भी उसका बन्धन सर्वथा मिटता नहीं। (२।३० परि.)

४. अगर साधकका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध सर्वथा मिट जाय तो उसके द्वारा अशुभ कर्म तो होंगे ही नहीं, शुभ कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसके द्वारा निरर्थक चिन्तन तो होगा ही नहीं, सार्थक चिन्तनमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसमें चंचलता तो रहेगी ही नहीं, समाधिमें, स्थिरतामें अथवा निर्विकल्प स्थितिमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। इस प्रकार स्थूलशरीरसे होनेवाले कर्ममें, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तनमें और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरतामें आसक्तिका नाश हो जानेपर उसका साधन सिद्ध हो जायगा अर्थात् मोह नष्ट हो जायगा और सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। (२।३० परि.)

५. जब साधक सत्संगके द्वारा अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताका निर्णय कर लेता है अथवा निर्णय न हो सकनेकी दशामें भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारता है, तब भगवत्कृपासे उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जाती है। (२।५३)

६. साधकको न तो सांसारिक मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय (दार्शनिक) मतभेदकी मुख्यता रखनी है अर्थात् किसी मत, सम्प्रदायका कोई आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर वह योगका, मुक्तिका अथवा भक्तिका अधिकारी हो जाता है। इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है। (२।५३ परि.)

७. साधकको अपनी इन्द्रियोंपर कभी भी 'मेरी इन्द्रियाँ वशमें हैं', ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये और कभी भी यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि 'मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ।' (२।६०)

८. जब साधक इन्द्रियोंको वशमें करता है, तब उसमें अपने बलका अभिमान रहता है कि मैंने इन्द्रियोंको अपने वशमें किया है। यह अभिमान साधकको उन्नत नहीं होने देता और उसे भगवान्‌से विमुख करा देता है। (२।६१)

९. यदि अहंताका परिवर्तन हो जाय कि 'मैं साधक हूँ और साधन करना ही मेरा कर्तव्य है' तो मन-इन्द्रियाँ अपने-आप वशमें हो जाती हैं, उनको वशमें करना नहीं पड़ता। (२।६६ टि.)

१०. शास्त्रीय दृष्टिसे पहले कामनाका त्याग, फिर स्पृहा, ममता और अहंकारका त्याग बताया जाता है। परन्तु साधककी दृष्टिसे पहले ममताका त्याग, फिर कामना, स्पृहा और अहंकारका त्याग करना ही ठीक है। (२।७१)

११. प्राय: सभी साधकोंके अनुभवकी बात है कि कल्याणकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् होते ही कर्म, पदार्थ और व्यक्ति (परिवार)-से उनकी अरुचि होने लगती है। परन्तु वास्तवमें देहके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे यह आराम-विश्रामकी इच्छा ही है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। साधकोंके मनमें ऐसा भाव रहता है कि कर्म, पदार्थ और व्यक्तिका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही हम परमार्थमार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका स्वरूपसे त्याग न करके इनमें आसक्तिका त्याग करना ही आवश्यक है। (३।४)

१२. साधकका जब अपना कल्याण करनेका विचार होता है, तब वह कर्मोंको साधनमें विघ्न समझकर उनसे उपराम होना चाहता है। परन्तु वास्तवमें कर्म करना दोषी नहीं है, प्रत्युत कर्मोंमें सकामभाव ही दोषी है। (३।७)

१३. जो साधक तत्त्वप्राप्तिमें सुगमता ढूँढ़ता है और उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहता है, वह वास्तवमें सुखका रागी है, न कि साधनका प्रेमी। जो सुगमतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे कठिनता सहनी पड़ती है और जो शीघ्रतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे विलम्ब सहना पड़ता है। कारण कि सुगमता और शीघ्रताकी इच्छा करनेसे साधककी दृष्टि 'साधन' पर न रहकर 'फल' पर चली जाती है, जिससे साधनमें उकताहट प्रतीत होती है और साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब भी होता है। जिसका यह दृढ़ निश्चय या उद्देश्य है कि चाहे जैसे भी हो, मुझे तत्त्वकी प्राप्ति होनी ही चाहिये, उसकी दृष्टि सुगमता और शीघ्रतापर नहीं जाती। (३।८)

१४. ठीक लोभी व्यक्तिकी तरह साधककी साध्यमें निष्ठा होनी चाहिये। उसे साध्यकी प्राप्तिके बिना चैनसे न रहा जाय, जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगे, खाना-पीना, आराम आदि कुछ भी अच्छा न लगे और हृदयमें साधनका आदर और तत्परता रहे। (३।८)

१५. आसक्तिपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें सुखभोग करता है और उसमें विलम्ब या बाधा लगनेसे उसे क्रोध आता है एवं वह साधनमें दोषदृष्टि करता है। परन्तु आदर और प्रेमपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें विलम्ब या बाधा लगनेपर आर्तभावसे रोने लगता है और उसकी उत्कण्ठा और तेजीसे बढ़ती है। (३।८)

१६. सबसे उत्तम साधक तो वह है, जो अपनी मुक्तिके लिये भी कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है। कारण कि अपना हित दूसरोंके लिये कर्म करनेसे होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं। (३।९)

१७. साधक उसीको कहते हैं, जो निरन्तर सावधान रहता है। (३।९)

१८. साधकको जड़ता (शरीरमें अहंता और ममता)-से सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ही आवश्यकता है। तत्त्व तो सदा ज्यों-का-त्यों विद्यमान है ही। (३।१८)

१९. 'मेरेको कहीं भी आसक्त नहीं होना है'—ऐसी जागृति साधकको निरन्तर रखनी चाहिये। (३।१९)

२०. साधनकालमें मैं (स्वयं) प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'—ऐसा अनुभव न होनेपर भी जब साधक ऐसा मान लेता है, तब उसे वैसा ही अनुभव हो जाता है। इस प्रकार जैसे वह गलत मान्यता करके बँधा था, ऐसे ही सही मान्यता करके मुक्त हो जाता है; क्योंकि मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है। (३।२७ वि.)

२१. साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वत: स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर

यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। (३।२७ परि.)

२२. जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री (वस्तु, परिस्थिति आदि) होती है, वह सब साधनरूप (साधन-सामग्री) हो जाती है। फिर उस सामग्रीमें बढ़िया और घटिया—ये दो विभाग नहीं होते। (३।३० वि.)

२३. सत्संग, भजन-ध्यान आदिमें कोई व्यक्ति बाधा पहुँचाये, तो उसपर क्रोध आनेसे समझना चाहिये कि सत्संग आदिमें 'राग' है; और (उसपर क्रोध न आकर) रोना आ जाय तो समझना चाहिये कि सत्संग आदिमें प्रेम है। कारण कि अपनेमें लगन (दृढ़ता)-की कमी होनेसे ही साधनमें बाधा लगती है। (३।३४)

२४. सेवा, परहित-चिन्तन, स्थिरता आदिका सुख लेना और इनके बने रहनेकी इच्छा करना भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। (गीता १४। ६)। इसलिये साधकको सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों ही गुणोंसे असंग होना है; क्योंकि स्वरूप असंग है। (३।३७ टि.)

२५. साधकका लक्षण है—खोज करना। यदि वह मन और इन्द्रियोंसे देखी बातको ही सत्य मान लेता है, तो वहीं रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता। (४।४०)

२६. साधकका मुख्य काम होना चाहिये—रागका अभाव करना, सत्ताका अभाव करना नहीं; क्योंकि बाँधनेवाली वस्तु राग या सम्बन्ध ही है, सत्तामात्र नहीं। पदार्थ चाहे सत् हो, चाहे असत् हो, चाहे सत्-असत्से विलक्षण हो, यदि उसमें राग है तो वह बाँधनेवाला हो ही जायगा। (५।२)

२७. साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दु:ख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दु:खी होता है। स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है।......अत: साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। (५।९ परि.)

२८. साधकको यह नहीं देखना चाहिये कि मैं साधन करूँगा तो इसका यह फल होगा। फलको देखना ही फलासक्ति है, जिससे वर्तमानमें साधन ठीक नहीं होता। अत: फलको न देखकर अपने साधनको देखना चाहिये, साधन तत्पर होकर करना चाहिये, फिर सिद्धि अपने-आप आयेगी। अगर साधक फलकी ओर देखता रहेगा तो सिद्धि नहीं होगी। हम निर्विकल्प, निष्काम हो जायँगे तो बड़ा सुख मिलेगा—इस प्रकार मूलमें सुख लेनेकी जो इच्छा रहती है, यह भी फलेच्छा है, जो साधकको निर्विकल्प, निष्काम नहीं होने देती। (५।१२ परि.)

२९. भोगोंको पानेकी इच्छासे पहले उनका संकल्प होता है। वह संकल्प होते ही सावधान हो जाना चाहिये कि मैं तो साधक हूँ, मुझे भोगोंमें नहीं फँसना है; क्योंकि यह साधकका काम नहीं है। इस तरह संकल्प उत्पन्न होते ही उसका त्याग कर देना चाहिये। (५।२३)

३०. जप, ध्यान, सत्संग और स्वाध्याय—ये प्रत्येक साधकके लिये उपयोगी हैं; और आवश्यक भी। (५।२६ टि.)

३१. कभी-कभी वृत्तियाँ ठीक होनेसे साधकको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पूर्णावस्था हो गयी।

परन्तु वास्तवमें जबतक पूर्णावस्थाका अनुभव करनेवाला है, तबतक (व्यक्तित्व बना रहनेसे) पूर्णावस्था हुई नहीं। (५।२६)

३२. शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये नहीं है—ये तीन बातें प्रत्येक साधकको माननी ही पड़ेंगी, चाहे वह किसी भी योगमार्गसे क्यों न चले। (५।२८ परि.)

३३. जो किसीको भी अपना मानता है, वह वास्तवमें भगवान्‌को सर्वथा अपना नहीं मानता, कहनेको चाहे कहता रहे कि भगवान् मेरे हैं। (५।२९)

३४. साधकको विचार करना चाहिये कि मेरी दृष्टि अपने भावोंपर रहती है या दूसरेके आचरणोंपर? दूसरोंके आचरणोंपर दृष्टि रहनेसे जिस दृष्टिसे अपना कल्याण होता है, वह दृष्टि बन्द हो जाती है और अँधेरा हो जाता है। इसलिये दूसरोंके श्रेष्ठ और निकृष्ट आचरणोंपर दृष्टि न रहकर उनका जो वास्तविक स्वरूप है, उसपर दृष्टि रहनी चाहिये। (६।९)

३५. मनमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका महत्त्व, आशा, कामना परमात्मप्राप्तिमें महान् बाधक है। अतः इसमें साधकको सावधान रहना चाहिये। (६।१०)

३६. साधकके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि वह ध्यानके समय तो भगवान्‌के चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लगा रहे, व्यवहारके समय भी निर्लिप्त रहते हुए भगवान्‌का चिन्तन करता रहे; क्योंकि व्यवहारके समय भगवान्‌का चिन्तन न होनेसे संसारमें लिप्तता अधिक होती है।.....तात्पर्य है कि साधकका साधकपना हर समय जाग्रत् रहे। वह संसारमें तो भगवान्‌को मिलाये, पर भगवान्‌में संसारको न मिलाये अर्थात् सांसारिक कार्य करते समय भी भगवत्स्मरण करता रहे। (६।१०)

३७. 'स्फुरणा' दर्पणके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा नहीं जाता। परन्तु 'संकल्प' कैमरेके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा जाता है। साधकको सावधानी रखनी चाहिये कि स्फुरणा तो हो, पर संकल्प न हो। (६।२४ परि.)

३८. जो साधक होता है, वह घण्टे-दो-घण्टे नहीं, आठों पहर साधक होता है। (६।२५)

३९. साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर नजदीक देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको नजदीक देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है। (६।३० परि.)

४०. पहलेकी साधनावस्थामें वह जितना साधन कर चुका है, उसका संसारके साथ जितना सम्बन्ध टूट चुका है, उतनी पूँजी तो उसकी वैसी-की-वैसी ही रहती है अर्थात् वह कभी किसी अवस्थामें छूटती नहीं, प्रत्युत उसके भीतर सुरक्षित रहती है। (६।४०)

४१. साधक चाहे जैसा हो, पर उसकी रुचि या उद्देश्य सदैव ऊँचा रहना चाहिये। साधककी रुचि या उद्देश्य-पूर्तिकी लगन जितनी तेज, तीव्र होगी, उतनी ही जल्दी उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी। (६।४४)

४२. भगवान्‌का स्वभाव है कि वे यह नहीं देखते कि साधक करता क्या है, प्रत्युत यह देखते हैं कि साधक चाहता क्या है। (६।४४)

४३. अगर साधकको जगत् दीखता है तो उसको निष्कामभावपूर्वक जगत्‌की सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को अपना और अपने लिये मानना तथा उससे सुख लेना ही असाधन है, बन्धन है। (७।५ परि.)

४४. साधक चाहे जगत्‌को माने, चाहे आत्माको माने, चाहे परमात्माको माने, किसीको भी मानकर

वह साधन कर सकता है और अंतिम तत्त्व **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर सकता है। (७।५ परि.)

४५. साधकमें श्रद्धा और विवेक—दोनों ही रहने चाहिये। भक्तिमार्गमें श्रद्धाकी मुख्यता होती है और ज्ञानमार्गमें विवेककी मुख्यता होती है। ऐसा होनेपर भी भक्तिमार्गमें विवेकका और ज्ञानमार्गमें श्रद्धाका अभाव नहीं है। (७।१२)

४६. यद्यपि यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ भी पवित्र हैं, पर जो अपनेको सर्वथा अयोग्य समझकर और अपनेमें किसी तरहकी पवित्रता न देखकर आर्तभावसे भगवान्‌के सम्मुख रो पड़ता है, उसकी पवित्रता भगवत्कृपासे बहुत जल्दी होती है। (७।१५)

४७. साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप है और अहम् (मैं-पन) भी भगवत्स्वरूप है। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। (७।१९ परि.)

४८. जबतक साधकमें अहम् है, तबतक वह भोगी है। मैं योगी हूँ—यह योगका भोग है, मैं ज्ञानी हूँ—यह ज्ञानका भोग है, मैं प्रेमी हूँ—यह प्रेमका भोग है। जबतक साधकमें भोग रहता है, तबतक उसके पतनकी सम्भावना रहती है। (७।१९ परि.)

४९. अगर साधककी देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि हो अथवा अपनेमें निष्कामभाव हो तो उसका उद्धार हो जायगा अर्थात् वह भी भगवान्‌को प्राप्त हो जायगा। परन्तु देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न हो और अपनेमें निष्कामभाव भी न हो तो उद्धार नहीं होगा। (७।२३ परि.)

५०. पारमार्थिक और सांसारिक दोनों क्रियाएँ करते समय साधकका भाव एक ही रहना चाहिये कि 'मैं साधक हूँ और मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है।' इस प्रकार क्रियाभेद तो रहेगा ही और रहना भी चाहिये, पर भावभेद नहीं रहेगा। भावभेद न रहनेसे अर्थात् एक भगवत्प्राप्तिका ही भाव (उद्देश्य) रहनेसे पारमार्थिक और सांसारिक दोनों ही क्रियाएँ साधन बन जायँगी। (७।२७)

५१. उपासनाकी पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होनेपर भी लक्ष्य सबका एक होनेसे कोई भी पद्धति छोटी-बड़ी नहीं है। जिस साधकका जिस पद्धतिमें श्रद्धा-विश्वास होता है, उसके लिये वही पद्धति श्रेष्ठ है और उसको उसी पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये। परन्तु दूसरोंकी पद्धति या निष्ठाकी निन्दा करना, उसको दो नम्बरका मानना दोष है। (७।२८)

५२. सदा रहनेवाली शान्ति और अनन्त सुख मिले, जिसमें अशान्ति और दुःखका लेश भी न हो—ऐसा विचार करनेवाले 'साधक' होते हैं। परन्तु जो संसारमें ही रहना चाहते हैं, संसारसे ही सुख लेना चाहते हैं, सांसारिक संग्रह और भोगोंमें ही लगे रहना चाहते हैं और संसारके सुख-दुःखको भोगते रहते हैं, वे साधक नहीं होते, प्रत्युत 'संसारी' होते हैं। वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं। (८।४ टि.)

५३. रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता एक साधनमें होनेसे साधक उस तत्त्वको जल्दी समझता है। परन्तु रुचि और श्रद्धा-विश्वास होनेपर भी वैसी योग्यता न हो अथवा योग्यता होनेपर भी वैसी रुचि और श्रद्धा-विश्वास न हो, तो साधकको उस साधनमें कठिनता पड़ती है। (८।४ वि.)

५४. सगुण-उपासनामें विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जो भगवान्‌के स्वरूप हैं, उनमेंसे जो जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसी स्वरूपका चिन्तन हो। परन्तु दूसरे स्वरूपोंको अपने इष्टसे अलग न माने और अपने-आपको भी अपने इष्टके सिवाय और किसीका न माने। (८।१४)

५५. साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। (८।१९ परि.)

५६. सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। (९।१५ परि.)

५७. खराब-से-खराब आचरण करनेवाला, पापी-से-पापी व्यक्ति भी आर्त होकर भगवान्‌को पुकारता है, रोता है, तो भगवान् उसको अपनी गोदमें ले लेते हैं, उससे प्यार करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयंके भगवान्‌की ओर लगनेपर जब इस जन्मके पाप भी बाधा नहीं दे सकते, तो फिर पुराने पाप बाधा कैसे दे सकते हैं? कारण कि पुराने पाप-कर्मोंका फल जन्म और भोगरूप प्रतिकूल परिस्थिति है, अतः वे भगवान्‌की ओर चलनेमें बाधा नहीं दे सकते। (९।३२)

५८. साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्‌की उपासना होती है। (९।अ.सा.)

५९. सबके मूलमें परमात्मा हैं और परमात्मासे ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदि सबको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है—ऐसा ज्ञान होना परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है। (१०।८ वि.)

६०. साधकको परमात्मप्राप्तिके लिये अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिको तो पूरा-का-पूरा लगाना चाहिये, पर परमात्माका अनुभव होनेमें बल, उद्योग, योग्यता, तत्परता, जितेन्द्रियता, परिश्रम आदिको कारण मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये। उसमें तो केवल भगवान्‌की कृपाको ही कारण मानना चाहिये। (११।३३)

६१. जब साधक अपना बल मानते हुए साधन करता है, तब अपना बल माननेके कारण उसको बार-बार विफलताका अनुभव होता रहता है और तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर साधक अपने बलका किंचिन्मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है। (११।३३)

६२. 'दुर्गुण-दुराचार दूर नहीं हो रहे हैं, क्या करूँ!'—ऐसी चिन्ता होनेमें तो साधकका अभिमान ही कारण है और 'ये दूर होने चाहिये और जल्दी होने चाहिये'—इसमें भगवान्‌के विश्वासकी, भरोसेकी, आश्रयकी कमी है। दुर्गुण-दुराचार अच्छे नहीं लगते, सुहाते नहीं, इसमें दोष नहीं है। दोष है चिन्ता करनेमें। इसलिये साधकको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। (११।३४ वि.)

६३. भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे यह समझना चाहिये कि साधकके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)। (११।३४ परि.)

६४. संसारकी तरफ चलनेसे तो सबको जलन होती है, परस्पर राग-द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके (भगवान्‌के) सम्मुख होकर आपका भजन-कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा मात्र जीवोंको शान्ति मिलती

है, मात्र जीव प्रसन्न हो जाते हैं! उन जीवोंको पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है। (११।३६)

६५. साधन ठीक चलनेमें जो सुख होता है, उस सुखमें सुखी होना, राजी होना भी भोग है, जिससे बन्धन होता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'** (गीता १४।६)। सुख होना अथवा सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसके साथ संग करना, उससे सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है। इससे अर्थात् साधनजन्य सात्त्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है। (११।४७ वि.)

६६. साधकको अपनी चिन्तन और दर्शन-शक्तिको भगवान्के सिवाय दूसरी किसी भी जगह खर्च नहीं करनी चाहिये अर्थात् साधक चिन्तन करे तो परमात्माका ही चिन्तन करे और जिस किसीको देखे तो उसको परमात्मस्वरूप ही देखे। (११।५५ वि.)

६७. 'भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ'—यही स्वयंका भगवान्में लगना है।........स्वयं भगवान्में लगे बिना मन-बुद्धिको भगवान्में लगाना कठिन है। इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्में नहीं लगते। मन-बुद्धि एकाग्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयंके भगवान्में लगनेसे ही होगा। (१२।२)

६८. जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके द्वारा भगवान्से अपने सम्बन्धकी पहचान आरम्भ हो गयी—ऐसा मान लेना चाहिये। इस सम्बन्धकी पूर्ण पहचानके बाद साधकमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिके द्वारा सांसारिक भोग और उनका संग्रह करनेकी इच्छा बिलकुल नहीं रहती। (१२।२)

६९. सगुणोपासक और निर्गुणोपासक—दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखना जरूरी है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे 'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। (१२।३-४)

७०. साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर अंतिम अवस्थातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंसे अधिक कठिनाई होती है। (१२।५)

७१. देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। (१२।५)

७२. साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है। (१२।५ परि.)

७३. यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और सन्त-विशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे जल्दी पार नहीं हो पाते। तत्त्वको चाहनेवाले साधकके लिये साम्प्रदायिकताका पक्षपात बहुत बाधक है। सम्प्रदायका मोहपूर्वक आग्रह मनुष्यको बाँधता है। (१२।७)

७४. प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। साधनमें लगनेवालोंमें जो साधक भगवान्के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं; क्योंकि उसका भगवान्पर ही भरोसा होता है कि मेरा उद्धार वे ही करेंगे। वह अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्के भजनमें ही लगा रहता है। उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला अपना उद्धार स्वयं करता है। (१२।७ परि.)

७५. 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा निश्चय (साधककी दृष्टिमें) बुद्धिमें हुआ प्रतीत होता है; परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधकको इस बातका पता नहीं होता कि वह 'स्वयं' पहलेसे ही भगवान्‌में स्थित है। वह चाहे इस बातको न भी जाने, पर वास्तविकता यही है। (१२।८)

७६. साधक जब भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जप आदि करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें दूसरे अनेक संकल्प भी पैदा होते रहते हैं। अतः साधकको 'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है'—इस प्रकारकी धारणा करके अन्य सब संकल्पोंसे उपराम हो जाना चाहिये। (१२।९)

७७. जिसका भगवान्‌पर तो उतना विश्वास नहीं है, पर भगवान्‌के विधानमें अर्थात् देश-समाजकी सेवा आदि करनेमें अधिक विश्वास है, उसके लिये भगवान् इस श्लोकमें सर्वकर्मफलत्याग-रूप साधन बताते हैं। (१२।११)

७८. जिन साधकोंकी सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक और लोकहितके कार्य करनेमें ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकोंके लिये यह (सर्वकर्मफलत्याग-रूप) साधन बहुत उपयोगी है। (१२।११)

७९. जैसे, भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्तिका अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजनकी रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होनेके कारण भोज्य-पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा (भूख) सभी साधनोंमें एक ही होती है। (१२।१२ वि.)

८०. साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। (१२।१३)

८१. प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है, इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (२।७१), ज्ञानयोगमें '**अहंकारः .... विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१८।५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२।१३)। (१२।१३-१४ परि.)

८२. जिसके भीतर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी ही सच्ची लगन लगी है, वह साधक चाहे किसी भी मार्गका क्यों न हो, भोग भोगने और संग्रह करनेके उद्देश्यसे वह कभी कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता। (१२।१६)

८३. जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधककी साधना पूर्ण नहीं होती। (१२।२०)

८४. यदि साधनमें किसी कारणवश आंशिकरूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये। चेष्टा करनेपर भी न हटे, तो व्याकुलतापूर्वक प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। (१२।२०)

८५. साधकमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति करुणाका भाव पूर्णरूपसे भले ही न हो, पर उसमें किसी प्राणीके प्रति अकरुणा (निर्दयता)- का भाव बिलकुल भी नहीं रहना चाहिये। (१२।२०)

८६. साधकमें भगवत्प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होनेपर उसके अवगुण अपने-आप नष्ट हो

जाते हैं; क्योंकि उत्कण्ठा और व्याकुलता अवगुणोंको खा जाती है तथा उसके द्वारा साधन भी अपने-आप होने लगता है। इस कारण उसको भगवत्प्राप्ति जल्दी और सुगमतासे हो जाती है। (१२।२०)

८७. साधकको चाहिये कि उसमें कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति—जिस संस्कारकी प्रधानता हो, उसीके अनुरूप साधनमें लग जाय। सावधानी केवल इतनी ही रखे कि उद्देश्य केवल परमात्माका ही हो, प्रकृति अथवा उसके कार्यका नहीं। ऐसा उद्देश्य होनेपर वह उसी साधनसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है। (१३।१०)

८८. साधारण मनुष्य-समुदायमें प्रीति, रुचि न हो अर्थात् कहाँ क्या हो रहा है, कब क्या होगा, कैसे होगा आदि-आदि सांसारिक बातोंको सुननेकी कोई भी इच्छा न हो तथा समाचार सुनानेवाले लोगोंसे मिलें, कुछ समाचार प्राप्त करें—ऐसी किंचिन्मात्र भी इच्छा, प्रीति न हो। (१३।१०)

८९. साधकके लिये ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। ज्यादा जाननेमें समय तो ज्यादा खर्च होगा, पर साधन कम होगा। (१३।२३ परि.)

९०. सत्तामें एकदेशीयता अहम्‌के कारण दीखती है। यह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४।६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अत: इसमें साधकको बहुत विशेष सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये। (१३।३२ परि.)

९१. जिस समय सात्त्विक वृत्तियाँ बढ़ी हों, उस समय साधकको विशेषरूपसे भजन-ध्यान आदिमें लग जाना चाहिये। ऐसे समयमें किये गये थोड़े-से साधनसे भी शीघ्र ही बहुत लाभ हो सकता है। (१४।११)

९२. साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। सात्त्विक सुखका उपभोग करना रजोगुण-अंश है। (१४।१३)

९३. भगवान्‌की उपासना करना और गुणातीत महापुरुषका संग करना—ये दोनों ही निर्गुण होनेसे साधकको गुणातीत करनेवाले हैं। (१४।१८ वि.)

९४. साधकको आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ मिलकर अपने वास्तविक स्वरूपसे विचलित नहीं होना चाहिये। चाहे जैसी वृत्तियाँ आयें, उनसे राजी-नाराज नहीं होना चाहिये; उनके साथ अपनी एकता नहीं माननी चाहिये। सदा एकरस रहनेवाले, गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्त, निर्विकार एवं अविनाशी अपने स्वरूपको न देखकर परिवर्तनशील, विकारी एवं विनाशी वृत्तियोंको देखना साधकके लिये महान् बाधक है। (१४।२२ वि.)

९५. साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह देहका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्त:करणमें हैं, अपनेमें नहीं हैं। अत: साधक वृत्तियोंको न अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। (१४।२२ परि.)

९६. संसारसे सम्बन्ध बना रहनेसे परमात्माकी खोज करनेमें ढिलाई आती है और जप, कीर्तन, स्वाध्याय आदि सब कुछ करनेपर भी विशेष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकको पहले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेको ही मुख्यता देनी चाहिये। (१५।४)

९७. साधकको साधन-भजन करना तो बहुत आवश्यक है; क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम

नहीं है; किन्तु 'परमात्मतत्त्वको साधन-भजनके द्वारा प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान बढ़ता है, जो परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उनको किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। (१५।४)

९८. साधकको जैसे संसारके संगका त्याग करना है, ऐसे ही 'असंगता' के संगका भी त्याग करना है। कारण कि असंग होनेके बाद भी साधकमें 'मैं असंग हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहंभाव (परिच्छिन्नता) रह सकता है, जो परमात्माके शरण होनेपर ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है। (१५।४)

९९. साधकोंको भी नाटकके स्वाँगकी तरह इस संसाररूपी नाट्यशालामें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा भाव हरदम जाग्रत् रखना चाहिये। (१५।७)

१००. शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१. शरीर मेरा नहीं है; क्योंकि इसपर मेरा वश नहीं चलता, २. मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३. मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जबतक साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूलशरीरसे होनेवाला 'कर्म', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (निर्विकल्प अवस्था)—तीनों ही उसको बाँधनेवाले होते हैं। (१५।७ परि.)

१०१. भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी जागृतिके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१. प्रभु मेरे हैं, २. मैं प्रभुका हूँ और ३. सब कुछ प्रभुका है। भगवान्‌से नित्य-सम्बन्धकी जागृति होनेपर साधकको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जीवनकी पूर्णता है। (१५।७ परि.)

१०२. वास्तवमें तो साधकका कर्तव्य वृत्तियोंको शुद्ध करनेका ही होना चाहिये और वह शुद्धि अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियोंको अपना न माननेसे बहुत जल्दी हो जाती है; क्योंकि उनको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है। (१६।१)

१०३. साधकको अपना साधन परिस्थितियोंके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बना लेना चाहिये। (१६।१)

१०४. साधकको अपनी चेष्टा तो एकान्तमें साधन करनेकी करनी चाहिये, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थितिको भगवान्‌की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साहसे प्रसन्नतापूर्वक साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। (१६।१)

१०५. साधकमें सीधा, सरल भाव होना चाहिये। सीधा, सरल होनेके कारण लोग उसको मूर्ख, बेसमझ कह सकते हैं, पर उससे साधकको कोई हानि नहीं है। अपने उद्धारके लिये तो सरलता बड़े कामकी चीज है। (१६।१)

१०६. साधककी साधनामें कोई बाधा डाल दे तो उसे उसपर क्रोध नहीं आता और न उसके मनमें उसके अहितकी भावना (हिंसा) ही पैदा होती है।........यदि उसमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष होता है, तो जितने अंशमें द्वेष-वृत्ति रहती है, उतने अंशमें तत्परताकी कमी है, अपने साधनका आग्रह है। (१६।२)

१०७. साधकमें एक तत्परता होती है और एक आग्रह होता है। तत्परता होनेसे साधनमें रुचि रहती है और आग्रह होनेसे साधनमें राग रहता है। रुचि होनेसे अपने साधनमें कहाँ-कहाँ कमी है,

उसका ज्ञान होता है और उसे दूर करनेकी शक्ति आती है तथा दूर करनेकी चेष्टा भी होती है। परन्तु राग होनेसे साधनमें विघ्न डालनेवालेके साथ द्वेष होनेकी सम्भावना रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो साधनमें हमारी रुचि कम होनेसे ही दूसरा हमारे साधनमें बाधा डालता है। (१६।२)

१०८. जैसे पुष्पसे सुगन्ध स्वतः फैलती है, ऐसे ही साधकसे स्वतः पारमार्थिक परमाणु फैलते हैं और वायुमण्डल शुद्ध होता है। इससे उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक प्राणिमात्रका बड़ा भारी उपकार एवं हित होता रहता है। (१६।२)

१०९. परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधक कभी किसीकी चुगली नहीं करता। ज्यों-ज्यों उसका साधन आगे बढ़ता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी दोषदृष्टि और द्वेषवृत्ति मिटकर दूसरोंके प्रति उसका स्वतः ही अच्छा भाव होता चला जाता है।.....तत्परतासे साधन करनेपर उसे जैसी अपनी स्थिति (जड़तासे सम्बन्ध न होना) दिखायी देती है, वैसी ही दूसरोंकी स्थिति भी दिखायी देती है कि वास्तवमें उनका भी जड़तासे सम्बन्ध नहीं है, केवल सम्बन्ध माना हुआ है। (१६।२)

११०. साधकके लिये विशेष सावधानीकी बात है कि वह अपनी इन्द्रियोंसे भोगोंका सम्बन्ध न रखे और मनमें कभी भी ऐसा भाव, ऐसा अभिमान न आने दे कि मेरा इन्द्रियोंपर अधिकार है अर्थात् इन्द्रियाँ मेरे वशमें हैं; अतः मेरा क्या बिगड़ सकता है? (१६।२)

१११. अर्जुनके निमित्तसे भगवान् साधकमात्रको आश्वासन देते हैं कि चिन्ता मत करो; अपनेमें आसुरी-सम्पत्ति दीख जाय तो घबराओ मत; क्योंकि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है। (१६।५ मा.)

११२. साधकको इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि वह काम, क्रोध और लोभ—तीनोंसे सावधान रहे। कारण कि इन तीनोंको साथमें रखते हुए जो साधन करता है, वह वास्तवमें असली साधक नहीं है। (१६।२२)

११३. प्रकृति सत् है या असत् है अथवा सत्-असत्से विलक्षण है? अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है? इस झगड़ेमें पड़कर साधकको अपना अमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकृतिसे तथा प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये, जो कि स्वतः हो रहा है। (१८।६)

११४. अपने लिये पानेकी इच्छासे साधक कुछ भी करता है तो वह अपने व्यक्तित्वको ही स्थिर रखता है; क्योंकि वह संसारमात्रके हितसे अपना हित अलग मानता है। (१८।१२)

११५. जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। (१८।३३ परि.)

११६. आज पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले जितने भी साधक हैं, उन साधकोंकी ऊँची स्थिति न होनेमें अथवा उनको परमात्मतत्त्वका अनुभव न होनेमें अगर कोई विघ्न-बाधा है, तो वह है—सुखकी इच्छा। (१८।३६)

११७. जो साधक हैं, उनको विश्रामके लिये नहीं सोना चाहिये। उनका तो यही भाव होना चाहिये कि पहले काम-धन्धा करते हुए भगवान्का भजन करते थे, अब लेटे-लेटे भजन करना है। (१८।३९)

११८. संसारसे असंग होना कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंके साधकोंके लिये आवश्यक

है। (१८।४६)

११९. साधक अगर जगत्‌को जगत्‌रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा' करे और भगवद्‌रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ न करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्‌के लिये करना पूजन है। (१८।४६ परि.)

१२०. साधक कोई भी काम-धन्धा करे तो उसमें यह एक सावधानी रखे कि अपने चित्तको उस काम-धन्धेमें द्रवित न होने दे, चित्तको संसारके साथ घुलने-मिलने न दे अर्थात् तदाकार न होने दे, प्रत्युत उसमें अपने चित्तको कठोर रखे। परन्तु भगवन्नामका जप, कीर्तन, भगवत्कथा, भगवच्चिन्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें चित्तको द्रवित करता रहे, उस रसमें चित्तको तरान्तर करता रहे। इस प्रकार करते रहनेसे साधक बहुत जल्दी भगवान्‌में चित्तवाला हो जायगा। (१८।५७)

१२१. साधकके लिये दो ही खास काम हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध (प्रेम)। (१८।५७ परि.)

१२२. साधनकालमें जीवन-निर्वाहकी समस्या, शरीरमें रोग आदि अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं; परन्तु उनके आनेपर भी भगवान्‌की कृपाका सहारा रहनेसे साधक विचलित नहीं होता। उसे तो उन विघ्न-बाधाओंमें भगवान्‌की विशेष कृपा ही दीखती है। इसलिये उसे विघ्न-बाधाएँ बाधारूपसे दीखती ही नहीं, प्रत्युत कृपारूपसे ही दीखती हैं। (१८।५८)

१२३. साधकको सबसे पहले 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अपनी अहंता (मैं-पन)-को बदल देना चाहिये। कारण कि बिना अहंताके बदले साधन सुगमतासे नहीं होता। अहंताके बदलनेपर साधन सुगमतासे, स्वाभाविक होने लगता है। (१८।६५)

***

साधन

१. सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह खुले नेत्रोंका ध्यान है। इसमें न आँख बन्द करने (ध्यान)-की जरूरत है, न कान बन्द करने (नादानुसन्धान)-की जरूरत है, न नाक बन्द करने (प्राणायाम)-की जरूरत है। (न. नि.)

२. साधककी अपने साध्यमें जो प्रियता है, वही साधन कहलाती है। (२।३० परि.)

३. शरीरको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। विवेकविरोधी सम्बन्धके रहते हुए कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितना ही तप कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरमें घूम आये, तो भी उसके मोहका नाश तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (२।३० परि.)

४. कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। ज्यों-ज्यों कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें प्रेमका रस मिलने लगता है, त्यों-त्यों नाशवान् रस स्वतः छूटता चला जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वतः छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वतः छूट जाता है। (२।५९ परि.)

५. गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा मालूम देता है कि साधनकी सफलतामें केवल भगवत्परायणता

ही कारण है। (२।६१)

६. अपने सुखके लिये किया गया कर्म तो बन्धनकारक है ही, अपने व्यक्तिगत हितके लिये किया गया कर्म भी बन्धनकारक है। केवल अपने हितकी तरफ दृष्टि रखनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। इसलिये और तो क्या, जप, चिन्तन, ध्यान, समाधि भी केवल लोकहितके लिये ही करे। (३।९)

७. किसी भी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग)-के द्वारा उद्देश्यकी सिद्धि हो जानेपर मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना अथवा पाना शेष नहीं रहता, जो मनुष्य-जीवनकी परम सफलता है। (३।१७)

८. लखपतिके मरनेपर एक कौड़ी भी साथ नहीं जायगी, जबकि भगवन्नामका जप करनेवालेके मरनेपर पूरा-का-पूरा भगवन्नाम-रूप धन उसके साथ जायगा, एक भी भगवन्नाम पीछे नहीं रहेगा। (३।२१)

९. प्राय: लोग कह दिया करते हैं कि नाम-जप करते समय भगवान्‌में मन नहीं लगा तो नाम-जप करना व्यर्थ है।.........नाम-जप कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌के प्रति कुछ-न-कुछ भाव रहनेसे ही नाम-जप होता है। भावके बिना नाम-जपमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। अत: नाम-जपका किसी भी अवस्थामें त्याग नहीं करना चाहिये। (३।२६)

१०. साधनकी मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी कामना। यह बाधा साधनमें बहुत दूरतक रहती है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है। यहाँतक कि वह समाधिका भी सुख लेता है तो वहाँ अटक जाता है। (३।३९ परि.)

११. परमात्मप्राप्तिके मार्गमें सात्त्विक सुखकी आसक्ति अटकाती है और राजस-तामस सुखकी आसक्ति पतन करती है। (३।३९ परि.)

१२. व्याकुलतासे जितना जल्दी काम बनता है, उतना विवेक-विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं। (४।६)

१३. भगवत्प्राप्तिके साधन—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कर्मजन्य नहीं हैं। योगकी सिद्धि कर्मोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। (४।१२)

१४. अपने हितके लिये साधन करनेसे 'अहम्' ज्यों-का-त्यों बना रहता है। (५।२)

१५. किसी भी साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं। (५।५)

१६. साधनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति न होनेमें कारण है—उद्देश्य और रुचिमें भिन्नता। जबतक अन्त:करणमें संसारका महत्त्व है, तबतक उद्देश्य और रुचिका संघर्ष प्राय: मिटता नहीं। (५।७)

१७. जड़ पदार्थोंके साथ जीवका जो रागयुक्त सम्बन्ध है, उसे मिटानेमें ही सम्पूर्ण साधनोंकी सार्थकता है। (५।१२)

१८. वास्तवमें मुक्तिके लिये अथवा परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना भी फलासक्ति है। मनुष्यकी आदत पड़ी हुई है कि वह प्रत्येक कार्य फलकी कामनासे करता है, इसीलिये कहा जाता है कि मुक्तिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करे। वास्तवमें साधन केवल असाधनको मिटानेके लिये है। मुक्ति स्वत:सिद्ध है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परमात्मप्राप्ति किसी क्रियाका फल नहीं है। अत: कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति होगी—ऐसी इच्छा करना भी फलेच्छा है। (५।१२ परि.)

१९. जबतक साधक और साधनमें एकता नहीं होती, तबतक साधन छूटता रहता है, अखण्ड नहीं रहता। जब साधकपन अर्थात् अहंभाव मिट जाता है, तब साधन साध्यरूप ही हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें साधन और साध्य—दोनोंमें नित्य एकता है। (५।१७)

२०. कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी? (५।२८)

२१. किसीका पूजन करना, किसीको अन्न-जल देना, किसीको मार्ग बताना आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भोक्ता भगवान्को ही मानना चाहिये। लक्ष्य भगवान्पर ही रहना चाहिये, प्राणीपर नहीं। (५।२९)

२२. यदि एक परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो तो मन-बुद्धि-वाणीसे चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन करना भी अनुचित नहीं है, प्रत्युत वह भी साधनरूप हो जाता है। परन्तु साधक उसमें ही सन्तोष कर ले, पूर्णता मान ले तो वह बाधक हो जाता है। (६।२० टि.)

२३. अगर उस परमात्माकी तरफ दृष्टि, लक्ष्य हो जाय कि वह सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है, तो स्वतः ध्यान हो जायगा, ध्यान करना नहीं पड़ेगा। (६।२५)

२४. जिसके भीतर एक बार साधनके संस्कार पड़ गये हैं, वे संस्कार फिर कभी नष्ट नहीं होते। (६।४०)

२५. जो केवल भगवान्का ही हो जाता है, जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता, उसकी साधन-भजन, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन आदि सभी पारमार्थिक क्रियाएँ; खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सभी शारीरिक क्रियाएँ और खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी क्रियाएँ भजन हो जाती हैं। (६।४७)

२६. भगवान्के सम्मुख होनेका जैसा माहात्म्य है, वैसा माहात्म्य सकामभावपूर्वक किये गये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्मोंका भी नहीं है। (७।१५ वि.)

२७. भगवान्के साथ अपनापन माननेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है, कोई योग्यता नहीं है, कोई बल नहीं है, कोई अधिकारिता नहीं है।.........प्रभुको अपना माननेमें मन, बुद्धि आदि किसीकी सहायता नहीं लेनी पड़ती, जबकि दूसरे साधनोंमें मन, बुद्धि आदिकी सहायता लेनी पड़ती है।........साधक भक्तमें कुछ गुणोंकी कमी रहनेपर भी भगवान्की दृष्टि केवल अपनेपनपर ही जाती है, गुणोंकी कमीपर नहीं। कारण कि भगवान्के साथ हमारा जो अपनापन है, वह वास्तविक है। (७।१६ वि.)

२८. भगवान्की उपासना तो बड़ी सुगम है, उसमें विधिकी, नियमकी, परिश्रमकी जरूरत नहीं है। उसमें तो केवल भावकी ही प्रधानता है। (७।२३ परि.)

२९. प्रत्येक कार्यमें समयका विभाग होता है; जैसे—यह समय सोनेका और यह समय जगनेका है, यह समय नित्यकर्मका है, यह समय जीविकाके लिये काम-धन्धा करनेका है, यह समय भोजनका है, आदि-आदि। परन्तु भगवान्के स्मरणमें समयका विभाग नहीं होना चाहिये। भगवान्को तो सब समयमें ही याद रखना चाहिये। (८।७)

३०. भगवान्के स्मरणकी जागृतिके लिये भगवान्के साथ अपनापन होना चाहिये। यह अपनापन जितना

ही दृढ़ होगा, उतनी ही भगवान्‌की स्मृति बार-बार आयेगी। (८।७)

३१. मनुष्योंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं, पर उनके अंतिम फलमें कोई फरक नहीं होता। सबका प्रापणीय तत्त्व एक ही होता है। जैसे भोजनके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर तृप्तिकी एकता होनेपर भी भोजनके पदार्थोंमें भिन्नता रहती है, ऐसे ही परमात्माके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर पूर्णताकी एकता होनेपर भी उपासनाओंमें भिन्नता रहती है। (८।२१)

३२. कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी है, उसको दूसरोंकी सेवामें लगानेमें क्या जोर आता है! ज्ञानयोगकी दृष्टिसे अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या जोर आता है! भक्तियोगकी दृष्टिसे जो अपना है, उसकी तरफ जानेमें क्या जोर आता है! ये सब काम सुखपूर्वक होते हैं। (९।२ परि.)

३३. भगवान्‌का भजन किसी तरहसे किया जाय, उससे लाभ ही होता है। परन्तु भगवान्‌के साथ अनन्य होकर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसा सम्बन्ध जोड़कर थोड़ा भी भजन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। कारण कि अपनेपनका सम्बन्ध (भावरूप होनेसे) नित्य-निरन्तर रहता है जबकि क्रियाका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर नहीं रहता, क्रिया छूटते ही उसका सम्बन्ध छूट जाता है। (९।१३)

३४. मनुष्यका भगवान्‌के साथ 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसा जो स्वयंका सम्बन्ध है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें, एकान्तमें भजन-ध्यान करते हुए अथवा सेवारूपसे संसारके सब काम करते हुए भी कभी खण्डित नहीं होता, अटलरूपसे सदा ही बना रहता है। (९।१४)

३५. देवताओंका उपासक तो मजदूर (नौकर)-की तरह है और भगवान्‌की उपासना करनेवाला घरके सदस्यकी तरह है। मजदूर काम करता है तो उसको मजदूरीके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करता है तो सब कुछ उसीका होता है। (९।२२ परि.)

३६. देवता, पितर, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदिमें भगवद्‌बुद्धि हो और निष्कामभावपूर्वक केवल उनकी पुष्टिके लिये, उनके हितके लिये ही उनकी सेवा-पूजा की जाय, तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इन देवता आदिको भगवान्‌से अलग मानना और अपना सकामभाव रखना ही पतनका कारण है। (९।२५ वि.)

३७. देवताओंमें भगवद्‌भाव और निष्कामभाव हो तो उनकी उपासना भी कल्याण करनेवाली है। परन्तु भूत, प्रेत आदिकी उपासना करनेवालोंकी कभी सद्‌गति होती ही नहीं, दुर्गति ही होती है। (९।२५ वि.)

३८. देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है; परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं। (९।२६ परि.)

३९. जैसे माँकी गोदमें जानेके लिये किसी भी बच्चेके लिये मनाही नहीं है; क्योंकि वे बच्चे माँके ही हैं। ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे प्राणिमात्रके लिये भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। (९।३२ वि.)

४०. भगवान्‌से विमुख हुए सभी मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख होनेमें, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेमें, भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वतन्त्र हैं, समर्थ हैं, योग्य हैं, अधिकारी हैं। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेमें किसीको कभी किंचिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये। (९।३३ मा.)

४१. भजन करनेका अर्थ है—भगवान्‌के सम्मुख होना, भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होना, भगवान्‌की प्राप्तिका उद्देश्य होना। भगवद्‌बुद्धिसे दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंको देनेका भाव रखना, अभावग्रस्तोंकी सहायता करना—यह भी भजन है। (९।३३ परि.)

४२. भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करना, भगवान्‌के रूपका चिन्तन-ध्यान करना, भगवान्‌की कथा सुनना, भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों (गीता, रामायण, भागवत आदि)-का पठन-पाठन करना—ये सब-के-सब भजन हैं। परन्तु असली भजन तो वह है, जिसमें हृदय भगवान्‌की तरफ ही खिंच जाता है, केवल भगवान् ही प्यारे लगते हैं, भगवान्‌की विस्मृति चुभती है, बुरी लगती है। इस प्रकार भगवान्‌में तल्लीन होना ही असली भजन है। (१०।८)

४३. एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। जो चिन्तन, भजन करते हैं, वह नकली (कृत्रिम) होता है और जो स्वतः होता है, वह असली होता है।......शरीरमें प्रियता, आसक्ति होनेसे भगवान्‌का चिन्तन करना पड़ता है और शरीरका चिन्तन स्वतः होता है। परन्तु भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होनेसे भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है और छूटता भी नहीं। (१०।१० परि.)

४४. जैसे पतिव्रता स्त्री अपने मनमें यदि पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषकी विशेषता रखती है, तो उसका पातिव्रत्य भंग हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌के सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी विशेषताको लेकर मन खिंचता है, तो व्यभिचार-दोष आ जाता है अर्थात् भगवान्‌के अनन्यभावका व्रत भंग हो जाता है। (१०।४१)

४५. भगवान्‌के नाम, लीला, गुण आदिके कीर्तनका सभीपर असर पड़ता है और सभी हर्षित होते हैं। (११।३६)

४६. जितने राक्षस हैं; भूत, प्रेत, पिशाच हैं, वे सब-के-सब आपके (भगवान्‌के) नामों और गुणोंका कीर्तन करनेसे, आपके चरित्रोंका पठन-पाठन करनेसे भयभीत होकर भाग जाते हैं। राक्षस, भूत, प्रेत आदिके भयभीत होकर भाग जानेमें भगवान्‌के नाम, गुण आदि कारण नहीं हैं, प्रत्युत उनके अपने खुदके पाप ही कारण हैं। अपने पापोंके कारण ही वे पवित्रोंमें महान् पवित्र और मंगलोंमें महान् मंगलस्वरूप भगवान्‌के गुणगानको सह नहीं सकते और जहाँ गुणगान होता है, वहाँ वे टिक नहीं सकते। अगर उनमेंसे कोई टिक जाता है तो उसका सुधार हो जाता है, उसकी वह दुष्ट योनि छूट जाती है और उसका कल्याण हो जाता है। (११।३६)

४७. अपनेमें जो साधन करनेके बलका भान होता है कि साधनके बलपर मैं अपना उद्धार कर लूँगा, उसको मिटानेके लिये ही साधन करना है। तात्पर्य है कि भगवान्‌की प्राप्ति साधन करनेसे नहीं होती, प्रत्युत साधनका अभिमान गलनेसे होती है। साधनका अभिमान गल जानेसे साधकपर भगवान्‌की शुद्ध कृपा असर करती है अर्थात् उस कृपाके आनेमें कोई आड़ नहीं रहती और (उस कृपासे) भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। (११।५४)

४८. अगर क्रियाके आरम्भ और अंतमें साधकको भगवत्स्मृति है, तो क्रिया करते समय भी उसकी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत्स्मृति रहती है—ऐसा मानना चाहिये। (१२।१)

४९. इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे पूर्णतः वशमें न होनेपर निर्गुण-तत्त्वकी उपासनामें कठिनता होती है। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग सकती हैं; क्योंकि भगवान्‌के सगुण स्वरूपमें इन्द्रियोंको अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं। अतः सगुण-उपासनामें इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता होते हुए भी इसकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है। (१२।३-४)

५०. अपने लिये किये जानेवाले साधनसे 'अहम्' बना रहता है, इसलिये अहम्‌को पूर्णतया मिटानेके लिये साधकको प्रत्येक क्रिया (खाना, पीना, सोना आदि एवं जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) संसार-मात्रके हितके लिये ही करनी चाहिये। संसारके हितमें ही अपना हित निहित है। (१२।३-४)

५१. सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत माना है (गीता ७।२९-३०)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है—**'त्वां पर्युपासते'** (गीता १२।१), **'मां ध्यायन्त उपासते'** (गीता १२।६)। (१२।५ परि.)

५२. साधनकी सार्थकता असाधन (जड़के साथ माने हुए सम्बन्ध)-का त्याग करानेमें ही है।.......इस रहस्यको न समझकर साधनमें ममता करने और उसका आश्रय लेनेसे साधकका जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक हृदयमें जड़ताका किंचिन्मात्र भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति कठिन है। (१२।८ वि.)

५३. साधन कोई भी हो; जब सांसारिक भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे तथा भोगोंका हृदयसे त्याग होगा, तब (लक्ष्य भगवान् होनेसे) भगवान्‌की ओर स्वतः प्रगति होगी और भगवान्‌की कृपासे ही उनकी प्राप्ति हो जायगी। (१२।१२ वि.)

५४. किसी साधनकी सुगमता या कठिनता साधककी 'रुचि' और 'उद्देश्य' पर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश्य एक भगवान्‌का होनेसे साधन सुगम होता है तथा रुचि संसारकी और उद्देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है। (१२।१२ वि.)

५५. अपने साधनको किसी भी तरह हीन (निम्नश्रेणीका) नहीं मानना चाहिये और साधनकी सफलता (भगवत्प्राप्ति)-के विषयमें कभी निराश भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि कोई भी साधन निम्नश्रेणीका नहीं होता। (१२।१२ वि.)

५६. श्रद्धा और विवेककी सभी साधनोंमें बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे भक्ति-साधनमें तेजी आती है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें तथा परमात्मतत्त्वमें श्रद्धा होनेसे ही ज्ञान-साधनका पालन हो सकता है। इसलिये भक्ति और ज्ञान दोनों ही साधनोंमें श्रद्धा और विवेक सहायक हैं। (१२।२०)

५७. विनाशी शरीरको अपने अविनाशी स्वरूपसे अलग देखना मूल साधन है। अतः सभी साधकोंको चाहिये कि वे शरीरको अपनेसे अलग अनुभव करें, जो कि वास्तवमें अलग ही है!........शरीर तो बदल गया, पर मैं वही हूँ, जो कि बचपनमें था—यह सबके अनुभवकी बात है। अतः शरीरके साथ अपना सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल माना हुआ है—ऐसा निश्चय होनेपर ही वास्तविक साधन आरम्भ होता है। (१३।११)

५८. साधनसे केवल असाधन (संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध अथवा परमात्मासे

विमुखता)-का नाश होता है, जो अपने द्वारा ही किया हुआ है। अत: साधनका महत्त्व असाधनको मिटानेमें ही समझना चाहिये। असाधनको मिटानेकी सच्ची लगन हो, तो असाधनको मिटानेका बल भी परमात्माकी कृपासे मिलता है। (१५।४)

५९. भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंमें 'अहंता' (मैं-पन) और 'ममता' (मेरा-पन)-का परिवर्तन-रूप साधन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है।.....साधककी 'अहंता' यह होनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' और 'ममता' यह होनी चाहिये कि 'भगवान् ही मेरे हैं।' (१५।७)

६०. साधकको चाहिये कि वह या तो शरीरको संसारके अर्पण कर दे, जो कर्मयोग है; चाहे अपनेको शरीर-संसारसे सर्वथा अलग कर ले, जो ज्ञानयोग है; और चाहे अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर दे, जो भक्तियोग है। इन तीनोंमेंसे कोई भी साधन अपना ले, तीनोंका फल एक ही होगा। (१५।७ वि.)

६१. शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सांसारिक पदार्थोंसे जबतक मनुष्य रागपूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह सब प्रकारसे भगवन्‌का भजन नहीं कर सकता। कारण कि जहाँ राग होता है, वृत्ति स्वत: वहीं जाती है। (१५।१९)

६२. 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस वास्तविकताको दृढ़तापूर्वक मान लेनेसे स्वत: सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है। (१५।१९)

६३. जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं और अभिमानसे ही पुष्ट होते हैं। इसलिये अपने उद्योगसे किया हुआ जितना भी साधन होता है, उस साधनमें अहंकार ज्यों-का-त्यों रहता है और अहंकारमें आसुरी-सम्पत्ति रहती है। (१६।५ मा.)

६४. श्रद्धाको लेकर ही आध्यात्मिक मार्गमें प्रवेश होता है, फिर चाहे वह मार्ग कर्मयोगका हो, चाहे ज्ञानयोगका हो और चाहे भक्तियोगका हो, साध्य और साधन—दोनोंपर श्रद्धा हुए बिना आध्यात्मिक मार्गमें प्रगति नहीं होती। (१७।३ मा.)

६५. खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिका सम्बन्ध किये बिना क्रिया सम्भव ही नहीं है। अत: साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्त:करणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है। (१८।१६ परि.)

६६. क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अत: क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्‌में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं। (१८।१६ परि.)

६७. भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवान्‌की कृपा प्रधान होती है; अत: इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। (१८।१६ परि.)

६८. सांख्ययोगमें तो बुद्धि और धृतिकी खास आवश्यकता है ही; परमात्मप्राप्तिके अन्य जितने भी साधन हैं, उन सबमें भी बुद्धि और धृतिकी बड़ी भारी आवश्यकता है। (१८।२९ टि.)

६९. अगर साधनजन्य—ध्यान और एकाग्रताका सुख भी लिया जाय, तो वह भी बन्धनकारक हो जाता

है। इतना ही नहीं, अगर समाधिका सुख भी लिया जाय, तो वह भी परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो जाता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४।६)। (१८।३६)

७०. सावधानीसे सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं। (१८।४०)

७१. किसी भी जाति, सम्प्रदाय आदिके कोई भी व्यक्ति क्यों न हों, सब-के-सब ही भगवान्के पूजनके अधिकारी हैं; क्योंकि सभी भगवान्के अपने हैं।.....जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, उसकी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं। (१८।४६)

७२. यह संसार भगवान्की ही मूर्ति है, श्रीविग्रह है। जैसे मूर्तिमें हम भगवान्का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चंदन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्तिमें न होकर भगवान्में होता है अर्थात् हम मूर्तिकी पूजा न करके भगवान्की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्का पूजन करना है। (१८।४६ परि.)

७३. वास्तवमें भगवद्भावसे संसारका पूजन मूर्तिपूजासे भी विशेष मूल्यवान् है। कारण कि मूर्तिका पूजन करनेसे मूर्ति प्रसन्न होती हुई नही दीखती, पर प्राणियोंकी सेवा करनेसे वे प्रत्यक्ष प्रसन्न (सुखी) होते हुए दीखते हैं। (१८।४६ परि.)

७४. वे (भगवान्) सर्वत्र व्यापक हैं तो मैं जो जप करता हूँ उस जपमें भी भगवान् हैं; मैं श्वास लेता हूँ तो उस श्वासमें भी भगवान् हैं; मेरे मनमें भी भगवान् हैं, बुद्धिमें भी भगवान् हैं; मैं जो 'मैं-मैं' कहता हूँ, उस 'मैं' में भी भगवान् हैं। उस 'मैं'का जो आधार है, वह अपना स्वरूप भगवान्से अभिन्न है अर्थात् 'मैं'-पन तो दूर है, पर भगवान् 'मैं'-पनसे भी नजदीक हैं। इस प्रकार अपनेमें भगवान्को मानते हुए ही भजन, जप, ध्यान आदि करने चाहिये। (१८।६१)

७५. अहंता बदल जानेपर अर्थात् अपने-आपको भगवान्का मान लेनेपर संसारका सब काम भगवान्की सेवाके रूपमें बदल जाता है अर्थात् साधक पहले जो संसारका काम करता था, वही काम अब भगवान्का काम हो जाता है। (१८।६५)

७६. स्वयं भगवान्के शरणागत हो जाना—यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। (१८।६६)

७७. 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता और अधिकारिता आदि कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। (१८।६६)

***

सुख-दुःख

१. अगर भीतरमें लोभरूपी दोष न हो तो वस्तुओंके संयोगसे सुख हो ही नहीं सकता। ऐसे ही मोहरूपी दोष न हो तो कुटुम्बियोंसे सुख हो ही नहीं सकता। लालचरूपी दोष न हो तो संग्रहका सुख हो ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि संसारका सुख किसी-न-किसी दोषसे ही होता है। (१।३८-३९)

२. मनुष्य संयोगका जितना सुख लेता है, उसके वियोगका उतना दुःख उसे भोगना ही पड़ता है। संयोगमें इतना सुख नहीं होता, जितना वियोगमें दुःख होता है। (१।३८-३९)

३. हमारे पास जो सुख-सामग्री है, वह दुःखी आदमियोंकी ही दी हुई है। अतः उस सुख-सामग्रीको दुःखियोंकी सेवामें लगा देना हमारा कर्तव्य होता है। (२।१५)

४. दु:खका कारण सुखकी इच्छा, आशा ही है। प्रतिकूल परिस्थिति दु:खदायी तभी होती है, जब भीतर सुखकी इच्छा रहती है। अगर हम सावधानीके साथ अनुकूलताकी इच्छाका, सुखकी आशाका त्याग कर दें, तो फिर हमें प्रतिकूल परिस्थितिमें दु:ख नहीं हो सकता अर्थात् हमें प्रतिकूल परिस्थिति दु:खी नहीं कर सकती। (२।१५)

५. शरीरोंके मरनेका जो दु:ख होता है, वह मरनेसे नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे होता है। 'मैं जीता रहूँ'—ऐसी जीनेकी इच्छा भीतरमें रहती है और मरना पड़ता है, तब दु:ख होता है। (२।२२)

६. परिस्थितिसे सुखी या दु:खी होना कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है। कारण कि परिस्थिति तो बाहरसे बनती है और सुखी-दु:खी होता है यह स्वयं। उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य करके ही यह सुख-दु:खका भोक्ता बनता है। (२।४७)

७. जैसे दादकी बीमारीमें खुजलीका सुख होता है और जलनका दु:ख होता है, पर ये दोनों ही बीमारी होनेसे दु:खरूप हैं, ऐसे ही संसारके सम्बन्धसे होनेवाला सुख और दु:ख—दोनों ही वास्तवमें दु:खरूप हैं। (२।४८)

८. दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव जितना तेज होगा, उतना ही अपने सुखकी इच्छाका त्याग होगा। (२।५२)

९. जो चाहते हैं, वह न हो और जो नहीं चाहते, वह हो जाय—इसीको दु:ख कहते हैं। यदि 'चाहते' और 'नहीं चाहते' को छोड़ दें, तो फिर दु:ख है ही कहाँ! (३।३७)

१०. संसारके नाशवान् भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्यके पास दु:ख अपने-आप आते हैं। मनुष्य दु:खोंसे तो बचना चाहता है, पर दु:खोंके कारण 'काम' (कामना)-को नहीं छोड़ता। ......नाशवान् सुखकी कामना करनेवाला मनुष्य अपने लोक और परलोक—दोनोंको महान् दु:खरूप बना लेता है। (३।३९ वि.)

११. सुख (अनुकूलता)-की कामनाको मिटानेके लिये ही भगवान् समय-समयपर दु:ख (प्रतिकूलता) भेजते हैं कि सुखकी कामना मत करो; कामना करोगे तो दु:ख पाना ही पड़ेगा। सांसारिक पदार्थोंकी कामनावाला मनुष्य दु:खसे कभी बच ही नहीं सकता—यह नियम है। (३।४३)

१२. पदार्थोंको अपरिवर्तनशील, स्थिर माननेसे ही मनुष्य उनसे सुख लेता है। परन्तु वास्तवमें उन पदार्थोंमें सुख नहीं है। सुख पदार्थोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इसीलिये सुषुप्तिमें जब पदार्थोंके सम्बन्धकी विस्मृति हो जाती है, तब सुखका अनुभव होता है। (५।२१)

१३. वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धसे होनेवाला सुख दु:खोंका कारण है। (५।२२ परि.)

१४. दु:खको मिटानेके लिये सुखकी इच्छा करना दु:खकी जड़ है। (५।२२ परि.)

१५. सुखासक्तिके सिवाय दु:खका और कोई कारण है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। (५।२२ परि.)

१६. उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहनेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता—यह नियम है। (५।२३)

१७. वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दु:खोंके कारण अर्थात् दु:ख पैदा करनेवाले हैं (गीता ५।२२)। अत: संयोगमें ही दु:ख होता है, वियोगमें नहीं। वियोग

(संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद)-में जो सुख है, उस सुखका वियोग नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। (६।२३ परि.)

१८. जितने भी दोष, पाप, दु:ख पैदा होते हैं, वे सभी संसारके रागसे ही पैदा होते हैं और जितना सुख, शान्ति मिलती है, वह सब रागरहित होनेसे ही मिलती है। (६।३५)

१९. सुखकी आशा, कामना और भोग—महान् दु:खोंके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं—यह अकाट्य नियम है। (८।१५ परि.)

२०. पृथ्वीमण्डलसे लेकर ब्रह्मलोकतकका सुख सीमित, परिवर्तनशील और विनाशी है। परन्तु भगवत्प्राप्तिका सुख अनन्त है, अपार है, अगाध है। यह सुख कभी नष्ट नहीं होता। अनन्त ब्रह्मा और अनन्त ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायँ, तो भी यह परमात्मप्राप्तिका सुख कभी नष्ट नहीं होता, सदा बना रहता है। (८।१६)

२१. अनन्त ब्रह्माण्डोंका सुख मिलकर भी जीवको सुखी नहीं कर सकता, उसकी आफत, जन्म-मरण नहीं मिटा सकता। अत: संसारसे सुखकी आशा करनेवाला केवल धोखेमें रहता है। (८।१६ परि.)

२२. जबतक इस सुखकी चाहना रहती है, तबतक वह दु:खसे बच नहीं सकता। कारण कि सुखके आदिमें और अन्तमें दु:ख रहता ही है तथा सुखसे भी प्रतिक्षण स्वाभाविक वियोग होता रहता है। (९।२८ वि.)

२३. संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं! (९।३३ परि.)

२४. संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिके लिये यह ज्यों-ज्यों उद्योग करता है, त्यों-ही-त्यों इसमें अभाव, अशान्ति, दु:ख, जलन, संताप आदि बढ़ते चले जाते हैं। परन्तु संसारसे विमुख होकर यह जीवात्मा ज्यों-ज्यों भगवान्‌के सम्मुख होता है, त्यों-ही-त्यों यह आनन्दित होता है और इसका दु:ख मिटता चला जाता है। (११।३६)

२५. सुख होना अथवा सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसके साथ संग करना, उससे सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है। इससे अर्थात् साधनजन्य सात्त्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है। (११।४७ वि.)

२६. दु:ख पानेवालेकी अपेक्षा दु:ख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये; क्योंकि दु:ख पानेवाला तो (पुराने पापोंका फल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दु:ख देनेवाला नया पाप कर रहा है। अत: दु:ख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है। (१२।१३)

२७. सुख-दु:खकी परिस्थिति अवश्यम्भावी है; अत: उससे रहित होना सम्भव नहीं है।.....हाँ, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर अन्त:करणमें जो हर्ष-शोक होते हैं, उनसे रहित हुआ जा सकता है। (१२।१८-१९)

२८. अनुकूलताके आनेपर मनमें जो प्रसन्नता होती है अर्थात् अनुकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती है, उसको 'सुख' कहते हैं।........प्रतिकूलताके आनेपर मनमें जो हलचल होती है अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती नहीं है, उसको 'दु:ख' कहते हैं। (१३।६)

२९. वास्तवमें स्वयं सुखी-दु:खी नहीं होता, प्रत्युत शरीरके साथ मिलकर अपनेको सुखी-दु:खी मान

लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल अविवेकपूर्वक की गयी मान्यतापर टिके हुए हैं। (१३।२१ परि.)

३०. सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है! (१५।१०)

३१. व्याख्यान देनेवाला व्यक्ति श्रोताओंको अपना मानने लग जाता है। किसीका भाई-बहन न हो, तो वह धर्मका भाई-बहन बना लेता है। किसीका पुत्र न हो, तो वह दूसरेका बालक गोद ले लेता है। इस तरह नये-नये सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर पाता दुःख ही है। (१५।१०)

३२. परमात्मा, जीवात्मा और संसार—इन तीनोंके विषयमें शास्त्रों और दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं; परन्तु जीवात्मा संसारके सम्बन्धसे महान् दुःख पाता है और परमात्माके सम्बन्धसे महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं। (१५।१०)

३३. सुख-दुःखरूप जो विकार होता है, वह मुख्यतासे जड़-अंशमें ही होता है। परन्तु तादात्म्य होनेसे उसका परिणाम चेतनपर होता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। (१६।५ मा.)

३४. सुखी वास्तवमें वही है, जिसपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता (गीता ५।२३)। (१६।१४ परि.)

३५. यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। (१६।१८ परि.)

३६. दूसरोंको दुःख देनेपर उनका (जिनको दुःख दिया गया है) तो वही नुकसान होता है, जो प्रारब्धसे होनेवाला है; परन्तु जो दुःख देते हैं, वे नया पाप करते हैं, जिसका फल नरक उन्हें भोगना ही पड़ता है। (१६।२० वि.)

३७. वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दुःखी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दुःखसे बच ही नहीं सकता। जबतक वह सुख भोगता रहेगा, तबतक वह प्रतिकूल परिस्थितियोंमें दुःखी होता ही रहेगा। (१८।१२ वि.)

३८. कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इसलिये उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इसलिये उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा दुःखी होना शुभाशुभ कर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। (१८।१२ वि.)

३९. सुख नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है। (१८।१२ वि.)

४०. संसारमें जितने प्राणी कैदमें पड़े हैं, जितने चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पड़े हैं, उसका कारण देखा जाय तो उन्होंने विषयोंका भोग किया है, उनसे सुख लिया है, इसीसे वे कैद, नरक आदि दुःख पा रहे हैं। (१८।३८)

४१. संसारसे विवेकपूर्वक विमुख होनेपर सात्त्विक सुख, भीतरसे वस्तुओंके निकलनेपर राजस सुख और मूढ़तासे निद्रा-आलस्यमें संसारको भूलनेपर तामस सुख होता है; परन्तु वास्तविक सुख तो प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। (१८।३९ वि.)

***

सेवा

१. वास्तवमें असली सेवा त्यागीके द्वारा ही होती है अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छा सर्वथा मिटनेसे ही असली सेवा होती है, अन्यथा नकली सेवा होती है। परन्तु उद्देश्य असली (सबके हितका) होनेसे नकली सेवा भी असलीमें बदल जाती है। (२।४४ टि.)

२. मनमें दूसरोंकी सेवा करनेकी, दूसरोंको सुख पहुँचानेकी धुन लग जाय तो अपने सुख-आरामका त्याग करनेकी शक्ति आ जाती है। दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव जितना तेज होगा, उतना ही अपने सुखकी इच्छाका त्याग होगा। (२।५२)

३. सेवा तो हमें सभीकी करनी है; परन्तु जिनकी हमारेपर जिम्मेवारी है, उन सम्बन्धियोंकी सेवा सबसे पहले करनी चाहिये। (३।११)

४. हमारे पास जो कुछ भी सामग्री—बल, योग्यता, पद, अधिकार, धन, सम्पत्ति आदि है, वह सब-की-सब हमें दूसरोंसे ही मिली है। इसलिये इनको दूसरोंकी ही सेवामें लगाना है। (३।१२)

५. वस्तुतः सेवा करनेवाला व्यक्ति सेव्यकी वस्तु ही सेव्यको देता है। जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है, वह उसके अपने लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है। (३।१२)

६. साधकोंके मनमें प्रायः ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि अगर हम संसारकी सेवा करेंगे तो उसमें हमारी आसक्ति हो जायगी और हम संसारमें फँस जायँगे! परन्तु भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि फँसनेका कारण सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी लेनेका भाव ही है। (३।१२)

७. अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंको कभी भी अपना तथा अपने लिये न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगानेसे इन पदार्थोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे तत्काल अपने सत्स्वरूपका बोध हो जाता है। (३।१३)

८. संसारके सभी सम्बन्धी एक-दूसरेकी सेवा (हित) करनेके लिये ही हैं। (३।२३-२४)

९. सांसारिक पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर कोई दान-पुण्य नहीं करना है, प्रत्युत उन पदार्थोंसे अपना पिण्ड छुड़ाना है। (३।२५ वि.)

१०. निष्कामभावपूर्वक संसारकी सेवा करना राग-द्वेषको मिटानेका अचूक उपाय है। अपने पास स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे लेकर माने हुए 'अहम्' तक जो कुछ है, उसे संसारकी ही सेवामें लगा देना है। कारण कि ये सब पदार्थ तत्त्वतः संसारसे अभिन्न हैं। इनको संसारसे भिन्न (अपना) मानना ही बन्धन है। (३।३४)

११. सेवा करनेका अर्थ है—सुख पहुँचाना। साधकका भाव **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** (किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो) होनेसे वह सभीको सुख पहुँचाता है अर्थात् सभीकी सेवा करता है।......सेवा करनेमें धनादि पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत सेवा-भावकी ही आवश्यकता है। (३।३४)

१२. सेवा वही कर सकता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं चाहता। सेवा करनेके लिये धनादि पदार्थोंकी चाह तो कामना है ही, सेवा करनेकी चाह भी कामना ही है; क्योंकि सेवाकी चाह होनेसे ही धनादि पदार्थोंकी कामना होती है। इसलिये अवसर प्राप्त हो और योग्यता हो तो सेवा

कर देनी चाहिये, पर सेवाकी कामना नहीं करनी चाहिये। (३। ३४ मा.)

१३. वास्तवमें सेवा भावसे होती है, वस्तुओंसे नहीं। वस्तुओंसे कर्म होते हैं, सेवा नहीं। अतः वस्तुओंको दे देना ही सेवा नहीं है। (३। ३४ मा.)

१४. सच्चे हृदयसे दूसरोंकी सेवा करनेसे, जिसकी वह सेवा करता है, उस (सेव्य)-के हृदयमें भी सेवाभाव जाग्रत् होता है—यह नियम है।......यदि सेव्यके हृदयमें सेवाभाव जाग्रत् न हो, तो साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवा करनेमें कोई त्रुटि (अपने लिये कुछ पाने या लेनेकी इच्छा) है। (३। ३४ मा.)

१५. किसीको भी दुःख न देनेका भाव होनेपर सेवाका आरम्भ हो जाता है। अतः साधकके अन्तःकरणमें 'किसीको भी दुःख न हो'—यह भाव निरन्तर रहना चाहिये। (३। ३७ वि.)

१६. मनुष्य सेवाके द्वारा पशु-पक्षीसे लेकर मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, सन्त-महात्मा और भगवान्तकको अपने वशमें कर सकता है। (४। २)

१७. कर्म-सामग्री और कर्म सदा दूसरोंके हितके लिये ही होते हैं, जिसे सेवा कहते हैं। दूसरोंकी ही वस्तु दूसरोंको मिल गयी तो यह सेवा कैसे? यह तो विवेक है। (४। १६)

१८. जैसे वर्षा बरसती है और उससे लोगोंका हित होता है; परन्तु उसमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं बरसती हूँ, मेरी वर्षा है, जिससे दूसरोंका हित होगा, दूसरोंको सुख होगा। ऐसे ही इन्द्रियों आदिके द्वारा होनेवाले हितमें भी अपनापन मालूम न दे। (५। ११)

१९. संसारमें माने हुए जितने भी सम्बन्ध हैं, सब केवल एक-दूसरेका हित या सेवा करनेके लिये ही हैं, अपने लिये नहीं। (७। ५)

२०. सेवा करनेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न देना श्रेष्ठ है। किसीको दुःख न देनेसे, किसीका भी अहित न करनेसे सेवा अपने-आप होने लगती है, करनी नहीं पड़ती। अपने-आप होनेवाली क्रियाका अभिमान नहीं होता और उसके फलकी इच्छा भी नहीं होती। अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेपर हमें वह वस्तु मिल जाती है, जो वास्तवमें हमारी है। (७। ५ परि.)

२१. शरीर, पदार्थ और क्रियासे जो सेवाकी जाती है, वह सीमित ही होती है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ मिलकर भी सीमित ही हैं। परन्तु सेवामें प्राणिमात्रके हितका भाव असीम होनेसे सेवा भी असीम हो जाती है।........असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें रति अर्थात् प्रीतिरूप असीम भावका होना आवश्यक है। (१२। ३-४)

२२. केवल दूसरेके लिये वस्तुओंको देना और शरीरसे सेवा कर देना ही सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरेका हित कैसे हो, उसको सुख कैसे मिले—इस भावसे कर्म करना ही सेवा है। अपनेको सेवक कहलानेका भाव भी मनमें नहीं रहना चाहिये। (१२। ३-४)

२३. सेवा तभी हो सकती है, जब सेवक जिसकी सेवा करता है, उसे अपनेसे अभिन्न (अपने शरीरकी तरह) मानता है और बदलेमें उससे कुछ भी लेना नहीं चाहता। (१२। ३-४)

२४. बुराईका त्याग होनेपर दूसरोंकी जो सेवा होती है, वह बड़े-से-बड़े दान-पुण्यसे भी नहीं हो सकती। इसलिये बुराईका त्याग भलाईका मूल है। (१२। ३-४ परि.)

२५. क्षर (शरीरादि)-को क्षर (संसार)-की ही सेवामें लगा दिया जाय—उसको संसाररूपी वाटिककी खाद बना दी जाय। (१५। १८ वि.)

२६. मनुष्यको शरीरादि नाशवान् पदार्थ अधिकार करने अथवा अपना माननेके लिये नहीं मिले हैं, प्रत्युत सेवा करनेके लिये ही मिले हैं। इन पदार्थोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेकी ही मनुष्यपर जिम्मेवारी है, अपना माननेकी बिलकुल जिम्मेवारी नहीं। (१५।१८ वि.)

२७. मालिककी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देना, मालिकके दैनिक कार्योंमें अनुकूलता उपस्थित कर देना आदि कार्य तो वेतन लेनेवाला नौकर भी कर सकता है और करता भी है। परन्तु उसमें 'क्रिया' की (कि इतना काम करना है) और समयकी (कि इतने घण्टे काम करना है) प्रधानता रहती है। इसलिये वह काम-धन्धा 'सेवा' नहीं बन पाता। यदि मालिकका वह काम-धन्धा आदरपूर्वक सेव्यबुद्धिसे, महत्त्वबुद्धिसे किया जाय तो वह 'सेवा' हो जाता है। (१८।४५ वि.)

२८. अगर व्यक्तियोंको भगवान्का स्वरूप मानकर कर्मोंसे और पदार्थोंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'— इसका अनुभव हो जायगा। (१८।४६ परि.)

२९. भगवद्भावसे किसी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्की ही सेवा होगी। अगर किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्का ही अनादर-तिरस्कार होगा—'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः**' (गीता १७।६)। (१८।४६ परि.)

❋❋❋

स्वभाव

१. पीछेके और वर्तमान जन्मके संस्कार, माता-पिताके संस्कार, वर्तमानका संग, शिक्षा, वातावरण, अध्ययन, उपासना, चिन्तन, क्रिया, भाव आदिके अनुसार स्वभाव बनता है। यह स्वभाव सभी मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न होता है और इसे निर्दोष बनानेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। (३।३३)

२. स्वभावमें मुख्य दोष प्राकृत पदार्थोंका राग ही है। जबतक स्वभावमें राग रहता है, तभीतक अशुद्ध कर्म होते हैं। (३।३३)

३. स्वभाव दो प्रकारका होता है—राग-द्वेषरहित (शुद्ध) और राग-द्वेषयुक्त (अशुद्ध)। स्वभावको मिटा तो नहीं सकते, पर उसे शुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरहित अवश्य बना सकते हैं। (३।३४)

४. जबतक स्वभावमें राग-द्वेष रहते हैं, तबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता। जबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता, तबतक जीव स्वभावके वशीभूत रहता है। (५।१४)

५. जिसका स्वभाव अच्छा बन गया है, जिसके भीतर सद्भाव हैं, वह किसी नीच योनिमें साँप, बिच्छू आदि नहीं बन सकता। कारण कि उसका स्वभाव साँप, बिच्छू आदि योनियोंके अनुरूप नहीं है और वह उन योनियोंके अनुरूप काम भी नहीं कर सकता। (६।४० टि.)

६. मनुष्यजन्ममें जिनका स्वभाव सेवा करनेका, जप-ध्यान करनेका रहा है और विचार अपना उद्धार करनेका रहा है, वे किसी कारणवश अन्तसमयमें योगभ्रष्ट हो जायँ तथा इस लोकमें पशु-पक्षी भी बन जायँ, तो भी उनका वह अच्छा स्वभाव और सत्संस्कार नष्ट नहीं होते। (६।४०)

७. व्यक्तिगत स्वभाव सबमें मुख्य होता है—'**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते**'। अतः व्यक्तिगत स्वभावको कोई छोड़ नहीं सकता—'**या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते**'। परन्तु इस स्वभावमें जो दोष है, उनको तो मनुष्य छोड़ ही सकता है। अगर उन दोषोंको मनुष्य छोड़ नहीं सकता,

तो फिर मनुष्यजन्मकी महिमा ही क्या हुई मनुष्य अपने स्वभावको निर्दोष, शुद्ध बनानेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। (७।२०)

८. जबतक मनुष्यके भीतर कामनापूर्तिका उद्देश्य रहता है, तबतक वह अपने स्वभावको सुधार नहीं सकता और तभीतक स्वभावकी प्रबलता और अपनेमें निर्बलता दीखती है। परन्तु जिसका उद्देश्य कामना मिटानेका हो जाता है, वह अपनी प्रकृति (स्वभाव)-का सुधार कर सकता है। (७।२०)

९. ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया, फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्‌के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्‌का त्याग नहीं कर पाता। (७।२८ परि.)

१०. यदि स्वभावमें राग-द्वेष है तो उस राग-द्वेषके वशीभूत होना अथवा न होना मनुष्यके हाथमें है। वह शास्त्र, सन्त तथा भगवान्‌का आश्रय लेकर अपने स्वभावको बदल सकता है। (८।४ टि.)

११. जिसका जैसा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे प्राय: वैसा ही चिन्तन होता है। (८।६)

१२. परमात्मासे विमुख होकर केवल अपने प्राणोंको रखनेकी अर्थात् सुखपूर्वक जीनेकी जो इच्छा होती है, वह आसुरी प्रकृति है। (९।१२)

१३. कामनाकी प्रधानतावालोंकी 'आसुरी', क्रोधकी प्रधानतावालोंकी 'राक्षसी' और मोह (मूढ़ता)-की प्रधानतावालोंकी 'मोहिनी' प्रकृति होती है। (९।१२)

१४. कई पशु-पक्षी, भूत-पिशाच, कीट-पतंग आदि सौम्य-प्रकृति-प्रधान होते हैं और कई क्रूर-प्रकृति-प्रधान होते हैं। इस तरह उनकी प्रकृति (स्वभाव)-में भेद उनकी अपनी बनाई हुई शुद्ध या अशुद्ध अहंताके कारण ही होते हैं। अत: उन योनियोंमें अपने-अपने कर्मोंका फलभोग होनेपर भी प्रकृतिके भेद वैसे ही बने रहते हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण योनियोंको और नरकोंको भोगनेके बाद किसी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे उनको मनुष्यशरीर प्राप्त हो भी जाता है, तो भी उनकी अहंतामें बैठे हुए काम-क्रोधादि दुर्भाव पहले-जैसे ही रहते हैं। इसी प्रकार जो स्वर्गप्राप्तिकी कामनासे यहाँ शुभ कर्म करते हैं और मरनेके बाद उन कर्मोंके अनुसार स्वर्गमें जाते हैं, वहाँ उनके कर्मोंका फलभोग तो हो जाता है, पर उनके स्वभावका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उनकी अहंतामें परिवर्तन नहीं होता। स्वभावको बदलनेका, शुद्ध बनानेका मौका तो मनुष्यशरीरमें ही है। (१६।२०)

१५. जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले (गीता ३।३४), चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले (गीता १८।६२)।.......शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है। (१८।१२ वि.)

१६. कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। (१८।१२ वि.)

१७. जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज कर्म करते हुए भी दोषी और पापी

नहीं बनता (गीता १८।४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। (१८।१२ वि.)

१८. सात्त्विक स्वभाव स्वतः उत्थानकी तरफ जाता है, राजस स्वभावमें उन्नति रुक जाती है और तामस स्वभाव स्वतः पतनकी तरफ जाता है। (१८।२५ परि.)

१९. अपने स्वभावका सुधार करके अपना उद्धार करनेमें प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है, सबल है, योग्य है, समर्थ है। स्वभावका सुधार करना असम्भव तो है ही नहीं, कठिन भी नहीं है। मनुष्यको मुक्तिका द्वार कहा गया है—***'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'*** (मानस ७।४३।४)। यदि स्वभावका सुधार करना असम्भव होता तो इसे मुक्तिका द्वार कैसे कहा जा सकता? अगर मनुष्य अपने स्वभावका सुधार न कर सके, तो फिर मनुष्यजीवनकी सार्थकता क्या हुई? (१८।४७ वि.)

२०. पूर्वजन्ममें जैसे कर्म और गुणोंकी वृत्तियाँ रही हैं, इस जन्ममें जैसे माता-पितासे पैदा हुए हैं अर्थात् माता-पिताके जैसे संस्कार रहे हैं, जन्मके बाद जैसा देखा-सुना है, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है और जैसे कर्म किये हैं—उन सबके मिलनेसे अपनी जो कर्म करनेकी एक आदत बनी है, उसका नाम 'स्वभाव' है। (१८।६०)

२१. मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभावको छोड़ तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेषसे रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। (१८।६० वि.)

२२. कर्मयोगमें राग-द्वेषके वशीभूत न होकर कार्य करनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता ३।३४) और भक्तियोगमें भगवान्‌के सर्वथा अर्पित होनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता १८।६२)। स्वभाव शुद्ध होनेसे बन्धनका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। (१८।६० वि.)

२३. स्वभाव कारणशरीरमें रहता है। वही स्वभाव सूक्ष्म और स्थूलशरीरमें प्रकट होता है। (१८।६१ टि.)

२४. शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध होनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है। (१८।६१)

***

स्वयं (स्वरूप)

१. जबतक सांसारिक भोग और संग्रहकी तरफ दृष्टि है, तबतक मनुष्यमें यह ताकत नहीं है कि वह अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि डाल सके। अगर किसी कारणसे, किसी खास विवेचनसे उधर दृष्टि चली भी जाय, तो उसका स्थायी रहना बड़ा कठिन है। (प्रा.)

२. साधकका स्वरूप सत्तामात्र है; अतः वास्तवमें वह शरीरी (शरीरवाला) नहीं है, प्रत्युत अशरीरी है।.......भगवान्‌ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे उस सत्तामात्र स्वरूपको 'शरीरी' (देही) नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। (२।११ परि.)

३. शरीर तो पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर स्वरूप (स्वयं)-की सत्ता पहले भी थी, बादमें भी रहेगी और वर्तमानमें है ही। (२।१२ परि.)

४. 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान तो सबको रहता है। जैसे, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-में अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, पर जगनेपर मनुष्य कहता है कि ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको

कुछ पता नहीं रहा, तो 'कुछ पता नहीं रहा'—इसका ज्ञान तो है ही। सोनेसे पहले मैं जो था, वही मैं जगनेके बाद हूँ, तो सुषुप्तिके समय भी मैं वही था—इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान अखण्डरूपसे निरन्तर रहता है। अपनी सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। (२।१३)

५. जीव एक रहता है, तभी तो वह अनेक योनियोंमें, अनेक लोकोंमें जाता है। जो अनेक योनियोंमें जाता है, वह स्वयं किसीके साथ लिप्त नहीं होता, कहीं नहीं फँसता। अगर वह लिप्त हो जाय, फँस जाय तो फिर चौरासी लाख योनियोंको कौन भोगेगा? स्वर्ग और नरकमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा? (२।१३ परि.)

६. जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। (२।१३ परि.)

७. स्वयंमें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला तो नहीं रहेंगे, पर स्वयं रहेगा; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर स्वयं रह जायगा। (२।१४ परि.)

८. जीवात्माकी स्थिति किसी एक शरीरमें नहीं है। वह किसी शरीरसे चिपका हुआ नहीं है। परन्तु इस असंगताका अनुभव न होनेसे ही जन्म-मरण हो रहा है। (२।१७ परि.)

९. विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा या स्वयंकी तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं। (२।१८ परि.)

१०. शरीरीमें कर्तापन नहीं है। जैसे कोई भी कारीगर कैसा ही चतुर क्यों न हो, पर किसी औजारके बिना वह कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही यह शरीरी शरीरके बिना स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। ....पर यह शरीरके साथ तादात्म्य करके, सम्बन्ध जोड़कर शरीरसे होनेवाली क्रियाओंमें अपनेको कर्ता मान लेता है। अगर यह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो यह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है। (२।१९)

११. शरीरमें छः विकार होते हैं—उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। यह शरीरी इन छहों विकारोंसे रहित है। (२।२०)

१२. शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। अबतक हम असंख्य शरीर धारण करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे........ऐसे ही यह शरीर छूटनेपर भी हम स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे। (२।२० परि.)

१३. वास्तवमें शरीरीको शरीरकी जरूरत ही नही है। शरीरके बिना भी शरीरी मौजसे रहता है। (२।२४ परि.)

१४. वास्तवमें यह स्वयं (चेतन स्वरूप) पुण्य-पापसे रहित है ही। केवल असत् पदार्थों—शरीरादिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही पुण्य-पाप लगते हैं। अगर यह असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़े, तो यह आकाशकी तरह निर्लिप्त रहेगा, इसको पुण्य-पाप नहीं लगेंगे। (२।५०)

१५. स्वयं आत्मामें कर्तापन नहीं है; परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे

वह प्रकृतिके परवश हो जाता है। इसी परवशताके कारण स्वयं अकर्ता होते हुए भी वह अपनेको कर्ता मानता रहता है। वस्तुत: आत्मामें कोई भी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। (३।५)

१६. कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाली साधारण क्रियाओंसे लेकर चिन्तन तथा समाधितक की समस्त क्रियाओंका हमारे स्वरूपके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ५।११)। परन्तु स्वरूपसे अनासक्त होते हुए भी यह जीवात्मा स्वयं आसक्ति करके संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। (३।७)

१७. समस्त क्रियाएँ जड़में और जड़के लिये ही होती हैं। चेतनमें और चेतनके लिये कभी कोई क्रिया नहीं होती। अत: 'करना' अपने लिये है ही नहीं, कभी हुआ नहीं और कभी हो सकता भी नहीं। हाँ, संसारसे मिले हुए इन शरीर आदि जड़ पदार्थोंको चेतन जितने अंशमें 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मान लेता है, उतने अंशमें उसका स्वभाव 'अपने लिये' करनेका हो जाता है। (३।९)

१८. वास्तविक तत्त्व (चेतन स्वरूप)-में प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही नहीं हैं। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंका निर्लिप्त प्रकाशक है। (३।१८ मा.)

१९. कर्म सदैव 'पर' (दूसरों)-के लिये होता है, 'स्व' के लिये नहीं। अत: दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका राग मिट जाता है और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। (३।१९)

२०. प्रापणीय वस्तु (परमात्मतत्त्व) नित्यप्राप्त है और स्वयं (स्वरूप) भी नित्य है, जबकि कर्म और कर्म-फल अनित्य अर्थात् उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला है। अनित्य (कर्म और फल)-का सम्बन्ध नित्य (स्वयं)-के साथ हो ही कैसे सकता है! कर्मका सम्बन्ध 'पर' (शरीर और संसार)-से है, 'स्व' से नहीं। कर्म सदैव 'पर' के द्वारा और 'पर' के लिये ही होता है। इसलिये अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। (३।२२)

२१. स्वयं (चेतन स्वरूप)-में करना और न करना—दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि वह इन दोनोंसे परे है। वह अक्रिय और सबका प्रकाशक है।........करना और न करना वहाँ होता है, जहाँ 'अहम्' (मैं) रहता है। (३।२७)

२२. आजतक देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक शरीरों (योनियों)-में जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी 'कर्म' स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी 'शरीर' स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और पदार्थ (शरीर)-का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है। (३।२७ परि.)

२३. शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं और 'स्वयं' इनसे सर्वथा असम्बद्ध, निर्लिप्त है। अत: इनमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता 'स्वयं' कैसे हो सकता है? (३।२८)

२४. पुरुष (चेतन)-में विजातीय प्रकृति (जड़)-का जो आकर्षण प्रतीत होता है, उसमें भी वास्तवमें प्रकृतिका अंश ही प्रकृतिकी ओर आकर्षित होता है। करने और भोगनेकी क्रिया प्रकृतिमें ही है, पुरुषमें नहीं। (३।२८ मा.)

२५. पुरुषमें प्रकृतिकी परिवर्तनरूप क्रिया या विकार नहीं है; परन्तु उसमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता तो है ही। (३।२८ मा.)

२६. अपनी सत्ता (होनापन) अर्थात् अपना स्वरूप चेतन, निर्विकार और सत्-चित्-आनन्दरूप है। जब वह जड़ (प्रकृतिजन्य शरीर)- के साथ तादात्म्य कर लेता है, तब 'अहम्' उत्पन्न होता है

और स्वरूप 'कर्ता' बन जाता है। (३।४२ मा.)

२७. 'स्वयं' (स्वरूप)-में अनन्त बल है। उसकी सत्ता और बलको पाकर ही बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ सत्तावान् एवं बलवान् होते हैं। परन्तु जड़से सम्बन्ध जोड़नेके कारण वह अपने बलको भूल रहा है और अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मान रहा है। (३।४३)

२८. चेतन अत्यन्त महान् है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। परन्तु अपरा प्रकृतिके एक अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्य अपनेको अत्यन्त छोटा (एकदेशीय) देखता है। (३।४३ परि.)

२९. एक मार्मिक बात है कि कर्म-सामग्रीके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता; जैसे—कितना ही बड़ा लेखक क्यों न हो, स्याही, कलम और कागजके बिना वह कुछ भी नहीं लिख सकता। अत: जब कर्म-सामग्रीके बिना कुछ किया नहीं जा सकता, तब यह विधान मानना ही पड़ेगा कि अपने लिये कुछ करना नहीं है। (४।१६)

३०. चेतनका जड़से तादात्म्य होनेके कारण ही उसे 'जीवात्मा' कहते हैं। (४।२५)

३१. अपनी (स्वयंकी) सत्ता स्वतन्त्र है, किसी पदार्थ, व्यक्ति, क्रियाके अधीन नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें जब हम संसारको भूल जाते हैं, तब भी अपनी सत्ता बनी रहती है; जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें हम प्राणी, पदार्थके बिना रह सकते हैं। (५।३)

३२. स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतमें था और न भविष्यमें ही होगा।.....क्रियाशील प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—किसी भी शरीरके साथ जब स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब स्वयं कर्म न करते हुए भी उन शरीरोंसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता हुए बिना रह नहीं सकता। (५।९)

३३. स्वयंका शरीरके साथ तादात्म्य होनेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुलमिल जानेपर भी और अपनेको 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेनेपर भी स्वयंमें कभी कर्तृत्व आता ही नहीं और न कभी आ ही सकता है। किन्तु प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके यह स्वयं अपनेमें कर्तृत्व मान लेता है; क्योंकि इसमें मानने और न माननेकी सामर्थ्य है, स्वतन्त्रता है। (५।९)

३४. सुखी-दु:खी होना अपनेमें माननेपर भी अर्थात् सुखके समय सुखी और दु:खके समय दु:खी—ऐसी मान्यता अपनेमें करनेपर भी पुरुष स्वयं अपने स्वरूपसे निर्लिप्त और सुख-दु:खका प्रकाशकमात्र ही रहता है। (५।९)

३५. प्रकृतिसे सम्बन्धके बिना स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता। कारण कि जिन करणोंसे कर्म होते हैं, वे करण प्रकृतिके ही हैं।....योग्यता, सामर्थ्य और करण—ये तीनों प्रकृतिमें ही हैं और प्रकृतिके सम्बन्धसे ही अपनेमें प्रतीत होते हैं। (५।९ वि.)

३६. कर्तापन प्रकृतिके सम्बन्धसे है, इसलिये अपनेको कर्ता मानना 'परधर्म' है। स्वरूपमें कर्तापन नहीं है, इसलिये अपनेको अकर्ता मानना 'स्वधर्म' है। (५।९ वि.)

३७. सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। अत: वह किसी भी कालमें कर्ता नहीं है। उस कालातीत और अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। (५।८-९ परि.)

३८. वास्तवमें चिन्मय सत्तामात्रमें न करना है, न होना है! स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। (५।८-९ परि.)

३९. अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्‌की सत्ता नहीं है। अतः 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। (५।८-९ परि.)

४०. शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ आदि। क्रिया तो होती है शरीरमें, पर मान लेते हैं अपनी। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है, वह करने और न करने—दोनोंसे रहित है (गीता ३।१८), इसलिये शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी सत्तामात्र अपने स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिए कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। (५।८-९ परि.)

४१. सूर्य भगवान् विहित या निषिद्ध किसी भी क्रियाके प्रेरक नहीं होते। उनसे सबको प्रकाश मिलता है, पर उस प्रकाशका कोई सदुपयोग करे या दुरुपयोग, इसमें सूर्य भगवान्‌की कोई प्रेरणा नहीं है। यदि उनकी प्रेरणा होती तो पाप या पुण्य-कर्मोंका भागी भी उन्हींको होना पड़ता। ऐसे ही चेतन तत्त्वसे प्रकृतिको सत्ता और शक्ति तो प्राप्त होती है, पर वह किसी क्रियाका प्रेरक नहीं होता। (५।१३)

४२. जीव स्वरूपसे अकर्ता तथा सुख-दुःखसे रहित है। केवल अपनी मूर्खताके कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है। (५।१५)

४३. स्वरूपका ज्ञान स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भाव नहीं रहता। यह ज्ञान करण-निरपेक्ष होता है अर्थात् इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी करणकी अपेक्षा नहीं होती। (५।२०)

४४. अपनेमें अपने सिवाय दूसरेकी सत्ता है ही नहीं। (६।६)

४५. दूसरोंके आचरणोंपर दृष्टि रहनेसे जिस दृष्टिसे अपना कल्याण होता है, वह दृष्टि बंद हो जाती है और अँधेरा हो जाता है। इसलिये दूसरोंके श्रेष्ठ और निकृष्ट आचरणोंपर दृष्टि न रहकर उनका जो वास्तविक स्वरूप है, उसपर दृष्टि रहनी चाहिए। (६।९)

४६. अपने द्वारा अपनेमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति होती है। (६।२०)

४७. आत्मतत्त्व परसंवेद्य नही है, प्रत्युत स्वसंवेद्य है। (६।२० परि.)

४८. स्वयंका अखण्ड सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। (६।२१ परि.)

४९. यह तो स्वतः साक्षात् परमात्माका अंश है। केवल स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीररूप प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही यह 'जीव' बना है। (७।५)

५०. तीनों लोकों और चौदह भुवनोंमें जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबका स्वरूप शुद्ध है, निर्मल है, प्रकृतिसे असम्बद्ध है। अनन्त जन्मोंतक अनन्त क्रियाओं और शरीरोंके साथ एकता करनेपर भी उनकी कभी एकता हो ही नहीं सकती और अनन्त जन्मोंतक अपने स्वरूपका बोध न होनेपर भी वे अपने स्वरूपसे कभी अलग नहीं हो सकते। (७।२९)

५१. जो बार-बार उत्पन्न और लीन होता है, वह संसार है और जो वही रहता है (जो पहले सर्गावस्थामें

था), वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता है, जो परमात्माका साक्षात् अंश है। ब्रह्माजीके कितने ही रात-दिन बीत जायँ, पर जीव स्वयं वही-का-वही रहता है। (८।१९ परि.)

५२. चिन्मय सत्ता (चितिशक्ति) अर्थात् स्वयंमें स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् जड़ताको स्वीकार करनेसे ही वह जन्मता-मरता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। यदि वह इस सामर्थ्यका दुरुपयोग न करे तो उसका जन्म-मरण हो ही नहीं सकता। अत: जीवका खास पुरुषार्थ है—जड़ताको स्वीकार न करना अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित होना अथवा अपने अंशी भगवान्‌के शरण होना। (८।१९ परि.)

५३. जड़तामें अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थितिमें परिवर्तन होता है, अपनेमें (अपने होनेपनमें) कभी परिवर्तन नहीं होता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। परन्तु ऐसा अनुभव होते हुए भी मनुष्य सुखासक्तिके कारण जड़तासे बँधा रहता है, जिससे उसको अपने सहज स्वरूपका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत वह पशु-पक्षी आदिकी तरह अपने स्वरूपको भूला रहता है। (८।१९ परि.)

५४. जैसे कोई चलती हुई गाड़ीमें बैठकर चल पड़े, ऐसे ही परिवर्तनशील संसारको पकड़कर जीव भी परिवर्तनशील बन गया—अनेक योनियोंमें भटकने लग गया! (८।२० परि.)

५५. हम सभी परमात्माके अंश हैं, परमात्माकी जातिके हैं, परमात्माके साथी हैं और परमात्माके धामके वासी हैं। हम सभी इस संसारमें आये हैं; हम संसारके नहीं हैं।........हम चाहे स्वर्गमें जायँ, चाहे नरकोंमें जायँ, चाहे चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, चाहे मनुष्ययोनिमें जायँ, तो भी हमारा परमात्मासे वियोग नहीं होता, परमात्माका साथ नहीं छूटता। परमात्मा सभी योनियोंमें हमारे साथ रहते हैं। (९।३)

५६. हम यहाँके, जन्म-मृत्युवाले संसारके नहीं हैं। यह हमारा देश नहीं है। हम इस देशके नहीं हैं। यहाँकी वस्तुएँ हमारी नहीं हैं। हम इन वस्तुओंके नहीं हैं। हमारे ये कुटुम्बी नहीं हैं। हम इन कुटुम्बियोंके नहीं हैं। हम तो केवल भगवान्‌के हैं और भगवान् ही हमारे हैं। (९।३)

५७. परा प्रकृति अर्थात् स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र (स्वस्थ) है। विजातीय अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह परतन्त्र (प्रकृतिस्थ) हुआ है, अन्यथा वह परतन्त्र हो सकता ही नहीं। (९।८ परि.)

५८. परमात्माका अंश होनेसे स्वयं अविनाशी है, चेतन है, निर्विकार है। परन्तु प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ मैं-मेरापनका सम्बन्ध जोड़कर, उनके परवश होकर इसको जन्मना-मरना पड़ता है अर्थात् नये-नये शरीर धारण करने और छोड़ने पड़ते हैं। (९।१०)

५९. वास्तवमें अपने स्वरूपमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन न है, न हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। केवल परिवर्तनशील संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् तादात्म्य, ममता और कामना करनेसे ही संसारका परिवर्तन अपनेमें होता हुआ प्रतीत होता है। (९।१०)

६०. मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति नहीं हो सकती। कारण कि मन-बुद्धि अपने साथ निरन्तर नहीं रहते, सुषुप्तिमें हमें उनके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उस स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति

स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। (९।३० परि.)

६१. यह जीव जब पापात्मा नहीं बना था, तब भी पवित्र था और जब पापात्मा बन गया, तब भी वैसा ही पवित्र था। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे जीव सदा ही पवित्र है। केवल संसारके सम्बन्धसे वह पापात्मा बना था। संसारका सम्बन्ध छूटते ही वह ज्यों-का-त्यों पवित्र रह गया। (९।३१)

६२. जीवमात्र परमात्माका अंश होनेसे तत्त्वतः निर्दोष है। संसारकी आसक्तिके कारण ही उसमें आगन्तुक दोष आ जाते हैं। (९।३१)

६३. भगवान्‌के अंश इस जीवमें कालापन अर्थात् अपवित्रता भगवान्‌से विमुख होनेसे ही आती है। अगर यह भगवान्‌के सम्मुख हो जाय, तो इसकी वह अपवित्रता सर्वथा मिट जाती है और यह महान् पवित्र हो जाता है तथा दुनियामें चमक उठता है। इसमें इतनी पवित्रता आ जाती है कि भगवान् भी इसे अपना मुकुटमणि बना लेते हैं! (९।३२)

६४. जो भक्ति या मुक्ति चाहता है, वह स्वयं होता है, शरीर नहीं।.......जबतक शरीरके साथ तादात्म्य रहता है, तबतक वह न भक्तिका और न ज्ञानका ही अधिकारी होता है तथा न सम्पूर्ण शंकाओंका समाधान ही कर सकता है। (९।३२ मा.)

६५. एक स्वयंका भगवान्‌में लगना होता है और एक चित्तको भगवान्‌में लगाना होता है। जहाँ 'मैं भगवान्‌का हूँ' ऐसे स्वयं भगवान्‌में लग जाता है, वहाँ चित्त, बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान्‌में लग जाते हैं।.....कारण कि करण कर्ताके ही अधीन होते हैं। कर्ता स्वयं जहाँ लगता है, करण भी वहीं लगते हैं। (१०।९)

६६. इन्द्रियोंको देखनेवाली इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन है। मनको देखनेवाला मन नहीं है, बुद्धि है। बुद्धिको देखनेवाली बुद्धि नहीं है, अहम् है। अहम्‌को देखनेवाला अहम् नहीं है, स्वयं है। स्वयंको देखनेवाला स्वयं ही है। (१०।१५ परि.)

६७. मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नही है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है। (१०।४१ परि.)

६८. ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है! तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है। (१०।४१ परि.)

६९. यह जीवात्मा परमात्मा और संसारके बीचका है। यह स्वरूपसे तो साक्षात् परमात्माका अंश है और प्रकृतिके अंशको इसने पकड़ा है। (११।३६)

७०. जैसे नेत्रोंकी दृष्टि आपसमें नहीं टकराती अथवा व्यापक होनेपर भी शब्द परस्पर नहीं टकराते, ऐसे ही (द्वैतमतके अनुसार) सम्पूर्ण जगत्‌में समानरूपसे व्याप्त होनेपर भी निरवयव होनेसे परमात्मा और जीवात्माकी सर्वव्यापकता आपसमें नहीं टकराती। (१२।३-४ वि.)

७१. जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेक रूपसे) जो 'जीव' है, वही देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एक रूपसे) 'ब्रह्म' है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। (१२।३-४ परि.)

७२. कभी न बदलनेवाले 'स्वयम्' और 'भगवान्' दोनों एक जातिके हैं, जबकि निरन्तर बदलनेवाले 'शरीर' और 'संसार' दोनों एक जातिके हैं।........यह नियम है कि 'संसार' और 'मैं'—दोनोंमेंसे किसी एकका भी ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर दूसरेके स्वरूपका ज्ञान अपने-आप हो जाता है। (१२।८ वि.)

७३. चेतन और अविनाशी स्वरूप (आत्मा)-को ही 'स्वयं', 'अहम्' का आधार, वास्तविक 'मैं', 'मैं' का प्रकाशक, आधार आदि नामोंसे कहा जाता है। (१२।८ टि.)

७४. वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता-ममतासे रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी सबके लिये निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। (१२।१३-१४ परि.)

७५. भगवान्का परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंके साथ समान सम्बन्ध है, पर जीव (परा)-का सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है। कारण कि जीव अपरा प्रकृतिसे उत्कृष्ट है और भगवान्का अंश है। इसलिये जीवका सम्बन्ध भगवान्के साथ है। (१२।१३-१४ परि.)

७६. जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्का अंश जीव जब असत्-जड़-दु:खरूप संसारसे कुछ आशा रखता है, तब वह भगवान्को नहीं सुहाता, प्यारा नहीं लगता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। (१२।१३-१४ परि.)

७७. स्वयं परमात्माका अंश एवं चेतन है, सबसे महान् है। परन्तु जब वह जड़ (दृश्य) पदार्थोंसे अपनी महत्ता मानने लगता है (जैसे, 'मैं धनी हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ' आदि), तब वास्तवमें वह अपनी महत्ता घटाता ही है। इतना ही नहीं, अपनी महान् बेइज्जती करता है; क्योंकि अगर धन, विद्या आदिसे वह अपनेको बड़ा मानता है, तो धन, विद्या आदि ही बड़े हुए। उसका अपना महत्त्व तो कुछ रहा ही नहीं! (१३।१)

७८. एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेकी दृष्टिसे) क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी और करणके सम्बन्धसे कर्ता कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है। (१३।१ परि.)

७९. परमात्माका स्वरूप अथवा उसका ही अंश होनेके ही कारण जीवात्मा स्वयं निर्दोष है—***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** (मानस ७।११७।१)। यही कारण है कि जीवात्माको दु:ख और दोष अच्छे नहीं लगते; क्योंकि वे इसके सजातीय नहीं हैं। जीव अपने द्वारा ही पैदा किये दोषोंके कारण सदा दु:ख पाता रहता है। (१३।८)

८०. हमारा (स्वरूपका) सम्बन्ध शरीर और अन्त:करणके साथ कभी हुआ ही नहीं; क्योंकि शरीर और अन्त:करण प्रकृतिका कार्य है और स्वरूप सदा ही प्रकृतिसे अतीत है। (१३।१०)

८१. शरीर-संसारके साथ स्वयंकी एकता कभी हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी

नहीं। परमात्मासे स्वयं कभी अलग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। (१३।१५ परि.)

८२. सुख-दु:खरूप जो विकार होता है, वह जड़-अंशमें ही होता है, पर जड़से तादात्म्य होनेके कारण उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है अर्थात् जड़के सम्बन्धसे सुख-दु:खरूप विकारको चेतन अपनेमें मान लेता है कि 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दु:खी हूँ'।..... विकृतिमात्र जड़में ही होती है, चेतनमें नहीं। अत: वास्तवमें सुखी-दु:खी 'होना' चेतनका धर्म नहीं है, प्रत्युत जड़के संगसे अपनेको सुखी-दु:खी 'मानना' ज्ञाता चेतनका स्वभाव है। (१३।२०)

८३. पुरुष ही अहम्‌को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है। (१३।२० परि.)

८४. वास्तवमें पुरुष प्रकृतिस्थ अथवा शरीरस्थ नहीं है। अपनेको स्वस्थ न माननेसे अर्थात् 'स्व' में अपनी स्थितिका अनुभव न करनेसे ही वह अपनेको शरीरस्थ मानता है। (१३।२१)

८५. यह प्रकृतिमें भी स्थित हो सकता है और अपने स्वरूपमें भी। अन्तर इतना ही है कि प्रकृतिमें स्थित होनेमें तो यह परतन्त्र है और स्वरूपमें स्थित होनेमें यह स्वाभाविक स्वतन्त्र है। बन्धनमें पड़ना इसका अस्वाभाविक है और मुक्त होना इसका स्वाभाविक है। इसलिये बन्धन इसको सुहाता नहीं और मुक्त होना इसको सुहाता है। (१३।२१)

८६. परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञमें यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है, उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसको यह स्वतन्त्रता भगवान्‌ने ही दी है। परन्तु उसने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया अर्थात् भगवान्‌के साथ सम्बन्ध न मानकर संसारके साथ सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता १३।२१)। (१३।२६ परि.)

८७. सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि निरन्तर बह रही है, पर स्वयं (चिन्मय सत्ता) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन और विनाश देश, काल आदिमें होता है, स्वयंमें नहीं। (१३।२७ परि.)

८८. शरीर तो प्रकृतिका कार्य होनेसे सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है और स्वयं परमात्माका अंश होनेसे सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। स्वयं परमात्मासे कभी अलग हो सकता ही नहीं। शरीरके साथ एकात्मता माननेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुल-मिल जानेपर भी, शरीरको ही अपना स्वरूप माननेपर भी उसकी निर्लिप्तता कभी नष्ट नहीं होती, वह स्वरूपसे सदा ही निर्लिप्त रहता है। (१३।३१)

८९. स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं हैं—यह स्वत: बात सिद्ध है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! (१३।३१ परि.)

९०. चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है।.......चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित है अर्थात् वह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। (१३।३२ परि.)

९१. करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार

हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि)-के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। (१३।३३ परि.)

९२. शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। (१३।३३ परि.)

९३. प्रत्येक प्राणीमें स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही परमात्मा विद्यमान हैं (गीता १३।२)। (१४।४)

९४. तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है। दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा संज्ञा होती है। दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर द्रष्टा संज्ञारहित रहता है। भूल यह होती है कि दृश्यको अपनेमें आरोपित करके वह 'मैं कामी हूँ', 'मैं क्रोधी हूँ' आदि मान लेता है। (१४।१३ टि.)

९५. ध्यान देनेकी बात है कि जिस प्रकृतिसे ये गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृतिके साथ भी स्वयंका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, फिर गुणोंके साथ तो उसका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है? (१४।२०)

९६. स्वयं (स्वरूप) तो स्वतः असंग रहता है। इस असंग स्वरूपका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म नहीं होता, तो मृत्यु भी नहीं होती। कारण कि जिसका जन्म होता है, उसीकी मृत्यु होती है तथा उसीकी वृद्धावस्था भी होती है। (१४।२०)

९७. नाशवान् चीजको अपनी माननेसे ही यह जीव संसारका गुलाम, अपने स्वरूपसे च्युत और भगवान्‌से विमुख हुआ है। यदि वह नाशवान् चीजको अपनी न माने (जो कि अपनी नहीं है), तो संसारकी गुलामी छूट जायगी, अपने स्वरूपका बोध हो जायगा और भगवान्‌को अपना माननेसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। (१५।२)

९८. संसारसे सम्बन्ध होनेपर मनुष्य अपनेको संसारकी तरह क्रियाशील (आने-जानेवाला) देखने लगता है। पर जब वह संसारसे दृष्टि हटाकर अपने स्वरूपको देखता है, तो उसको पता लगता है कि मैं स्वयं तो ज्यों-का-त्यों ही हूँ। (१५।५)

९९. चेतन जीवात्मा भी परमात्माका ही अंश होनेके कारण 'स्वयं प्रकाशस्वरूप' है; अतः उसको भी जड़ पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थोंका उपयोग (भगवान्‌के नाते दूसरोंकी सेवा करके) केवल जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें ही है। (१५।६)

१००. हम भगवान्‌के अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है।........यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें और लोकोंमें हमारा घूमना, भटकना तभी बंद होगा, जब हम अपने असली घर पहुँच जायँगे। (१५।६ परि.)

१०१. आत्मा परमात्माका अंश है; परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदिके साथ अपनी एकता मानकर वह 'जीव' हो गया है—'**जीवभूतः**।' उसका यह जीवपना बनावटी है, वास्तविक

नहीं। (१५।७)

१०२. जीव जितना ही नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देता है, उतना ही वह पतनकी तरफ जाता है और जितना ही अविनाशी परमात्माको महत्त्व देता है, उतना ही वह ऊँचा उठता है। कारण कि जीव परमात्माका ही अंश है। (१५।७)

१०३. जीव जिसका अंश है, उस सर्वोपरि परमात्माको प्राप्त करनेसे ही वह बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है कि देवतालोग भी उसका आदर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोकमें आये। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं! (१५।७)

१०४. जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें मेरा और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। (१५।७ परि.)

१०५. जीव ब्रह्म (निर्गुण)-का अंश नहीं है, प्रत्युत ईश्वर (सगुण)-का अंश है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस ७।११७।१)। कारण कि ब्रह्म चिन्मय सत्तामात्र है; अत: उसमें अंश-अंशीभाव हो सकता ही नहीं। जीवकी ब्रह्मसे एकता (साधर्म्य) है अर्थात् अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है। शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जीव है और शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्म है। (१५।७ परि.)

१०६. शरीरसे होनेवाले पुरुषार्थमें तो 'क्रिया' मुख्य है, जो केवल संसारके लिये ही होती है; क्योंकि शरीर संसारका अंश है। परन्तु स्वयंसे होनेवाले पुरुषार्थमें 'भाव' मुख्य है। इसलिये बुराईरहित होना, असंग होना, भगवान्‌को अपना मानना—ये स्वयंके पुरुषार्थ हैं।......मैं बुराईरहित हो जाऊँ, मैं असंग हो जाऊँ, मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊँ—ऐसी आवश्यकताका अनुभव करना भी पुरुषार्थ है। (१५।७ परि.)

१०७. शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमारेसे दूर-से-दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई चीज है तो वह परमात्मा है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण मनुष्यको उलटा दीखता है अर्थात् शरीर तो नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है और परमात्मा अप्राप्त! (१५।७ परि.)

१०८. जबतक यह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तबतक भगवान् कोई भी सम्बन्ध टिकने नहीं देते, तोड़ते ही रहते हैं। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह संसारका सम्बन्ध स्थायी रख सकता ही नहीं। (१५।८ परि.)

१०९. जीवात्मा जिस समय स्थूलशरीरसे निकलकर (सूक्ष्म और कारण-शरीरसहित) जाता है, दूसरे शरीरको प्राप्त होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओंमें गुणोंसे लिप्त दीखनेपर भी वास्तवमें वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न 'उत्क्रमण' है, न 'स्थिति' है और न 'भोक्तापन' ही है। (१५।१०)

११०. अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? (१५।१० परि.)

१११. किसीसे सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोड़नेमें जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है। (१५।११)

११२. स्वरूपसे जीवात्मा सदा-सर्वदा निर्विकार ही है; परन्तु भूलसे प्रकृति और उसके कार्य शरीरादिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण उसकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है, नहीं तो (अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है। (१५।१६)

११३. नदीके प्रवाहकी तरह शरीर निरन्तर ही बहता रहता है, जब कि अक्षर (जीवात्मा) नदीमें स्थित शिला (चट्टान)-की तरह सदा अचल और असंग रहता है। (१५।१८ वि.)

११४. क्षरसे अतीत और उत्तम होनेपर भी अक्षरने क्षरसे अपना सम्बन्ध मान लिया—इससे बढ़कर और कोई दोष, भूल या गलती है ही नहीं। (१५।१८ वि.)

११५. साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे अपना स्वरूप कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं। केवल वृत्तियोंके अशुद्ध होनेसे ही उसका यथार्थ अनुभव नहीं होता। (१६।१)

११६. सत्-स्वरूप होकर भी यह असत्‌को क्यों चाहता है? कारण कि इसने नष्ट होनेवाले असत् शरीरादिको 'मैं' तथा 'मेरा' मान लिया है और उनमें आसक्त हो गया है। (१६।५ मा.)

११७. सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंके द्वारा ही होती हैं। वे क्रियाएँ चाहे समष्टि हों, चाहे व्यष्टि हों; परन्तु उन क्रियाओंका कर्ता 'स्वयं' नहीं है। (१८।१४)

११८. यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है तो बार-बार जन्मता-मरता और दुःख पाता रहता है, पर जब यह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें हो जाता है, तब यह भगवत्स्वरूप बन जाता है और चमक उठता है तथा संसारमात्रका कल्याण करनेवाला हो जाता है। (१८।६४)

११९. भगवान्‌का जीवमात्रपर अत्यधिक स्नेह है। अपना ही अंश होनेसे कोई भी जीव भगवान्‌को अप्रिय नहीं है। भगवान् जीवोंको चाहे चौरासी लाख योनियोंमें भेजें, चाहे नरकोंमें भेजें, उनका उद्देश्य जीवोंको पवित्र करनेका ही होता है। जीवोंके प्रति भगवान्‌का जो यह कृपापूर्ण विधान है, यह भगवान्‌के प्यारका ही द्योतक है। (१८।६५)

१२०. स्वरूप निष्काम है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और भगवान्‌का है। स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखतासे ही जीव सकाम, बद्ध और सांसारिक होता है। ऐसे स्वरूपकी स्मृति वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तिसे स्वरूपकी स्मृति जाग्रत् होना सम्भव नहीं है। स्मृति तभी जाग्रत् होगी, जब अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होगा। (१८।७३)

***

हिन्दूधर्म

१. हमारी सनातन वैदिक संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि कोई भी कार्य करना होता है तो वह धर्मको सामने रखकर ही होता है। युद्ध-जैसा कार्य भी धर्मभूमि—तीर्थभूमिमें ही करते हैं, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका उद्धार हो जाय, कल्याण हो जाय। (१।१)

२. हिन्दू-संस्कृतिका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यका कल्याण करना है। (३।१२)

३. मनुष्यके पास शरीर, योग्यता, पद, अधिकार, विद्या, बल आदि जो कुछ है, वह सब मिला

हुआ है और बिछुड़नेवाला है। इसलिये वह अपना और अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी सेवाके लिये है। इस बातमें हमारी भारतीय संस्कृतिका पूरा सिद्धान्त आ जाता है। (३।१३ परि.)

४. हिन्दूधर्म किसी मनुष्यके द्वारा चलाया हुआ नहीं है अर्थात् यह किसी मानवीय बुद्धिकी उपज नहीं है। यह तो विभिन्न ऋषियोंद्वारा किया गया अन्वेषण है, खोज है। खोज उसीकी होती है, जो पहलेसे ही मौजूद हो। हिन्दूधर्म अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। जैसे भगवान् शाश्वत (सनातन) हैं, ऐसे ही हिन्दूधर्म भी शाश्वत है।......भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं, इसको बनानेके लिये, उत्पन्न करनेके लिये नहीं। (१४।२७ टि.)

५. वास्तवमें अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी सनातन धर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनको भी हिन्दूधर्मकी ही देन मानना चाहिये। (१४।२७ टि.)

६. प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिन्दूधर्ममें किया गया है, उतना दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलता। हिन्दूधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं। (१४।२७ टि.)

१. 'मैं' (अहम्)-के सम्बन्धसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्)-का सम्बन्ध न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' अर्थात् चिन्मय सत्तामात्र ही हमारा स्वरूप है, शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। (२।१२ परि.)

२. 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है। (२।१६ परि.)

३. मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान आदि तो अलग-अलग हुए, पर इन सबमें 'है' एक ही रहा। इसी तरह 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ' आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' अथवा 'है' एक ही रहा। (२।१७ परि.)

४. हम कहते हैं कि 'शरीर है' तो परिवर्तन शरीरमें होता है, 'है' (शरीरी)-में नहीं होता। (२।२३ परि.)

५. जो 'है' में स्थित है, वह 'है' और 'नहीं'—दोनोंको जानता है, पर जो 'नहीं' में स्थित है, वह 'नहीं' को भी यथार्थरूपसे अर्थात् 'नहीं'-रूपसे नहीं जान सकता, फिर वह 'है' को कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। उसमें जाननेकी सामर्थ्य ही नहीं है। 'है' को जाननेवालेका तो 'नहीं' को माननेवालेके साथ विरोध नहीं होता, पर 'नहीं' को माननेवालेका 'है' को जाननेवालेके साथ विरोध होता है। (२।६९ परि.)

६. जो 'है', वह तो है ही और जो 'नहीं' है, वह है ही नहीं। 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे मानते हुए 'है' को 'है'-रूपसे मान लेना श्रद्धा है, जिससे नित्यसिद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। (४।३९ वि.)

७. जो संसारकी उत्पत्तिके पहले भी रहता है, संसारकी (उत्पन्न होकर होनेवाली) स्थितिमें भी रहता है और संसारके नष्ट होनेके बाद भी रहता है, वह तत्त्व 'है' नामसे कहा जाता है। (४।३९ वि.)

८. परमात्मतत्त्व 'है'-रूप और संसार 'नहीं'-रूप है। एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूप देखनेपर शुद्ध 'है' दीखता है। कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ वृत्ति-रूप 'नहीं' भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूप देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा। (६।२३ परि.)

९. साधक मैं, तू, यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। (६।२५ परि.)

१०. जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है? (९।४-५ परि.)

११. 'मैं' का सम्बन्ध होनेसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। कारण कि 'है' ही 'मैं' के साथ सम्बन्ध होनेसे 'हूँ' कहा जाता है। अतः वास्तवमें क्षेत्रज्ञ ('हूँ')-की परमात्मा ('है')-के साथ एकता है। (१३।२)

१२. भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे। (१३।२१ परि.)

१३. यह संसार 'नहीं' होते हुए भी 'है'-रूपसे दीखता है। वास्तवमें एक परमात्मतत्त्व ही 'है'-रूपसे विद्यमान है। (१३।२८)

१४. 'परमात्मा है' और 'मैं (स्वयं) हूँ'—इन दोनोंमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मसत्ता विद्यमान है। 'मैं' के साथ होनेसे ही 'है' का 'हूँ' में परिवर्तन हुआ है। यदि 'मैं'-रूप एकदेशीय स्थितिको सर्वदेशीय 'है' में विलीन कर दें, तो 'है' ही रह जायगा, 'हूँ' नहीं रहेगा। (१५।४)

१५. 'मैं'-रूपमें मानी हुई अहंताका त्याग होनेपर 'हूँ'-रूप विकारी सत्ताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और योगीको 'है'-रूप स्वतःसिद्ध सत्तामें अपनी स्थितिका अनुभव हो जाता है। (१५।११)

१६. देश-काल आदिकी अपेक्षासे कहे जानेवाले 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—इन चारोंके मूलमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मतत्त्व समानरूपसे विद्यमान है, जो इन चारोंका प्रकाशक और आधार है। (१५।११ मा.)

१७. ये विकार तभीतक हैं, जबतक साधक 'हूँ' को देखता (मानता) है, 'है' को नहीं। इस 'हूँ' के स्थानपर 'है' को देखनेपर कोई विकार नहीं रहता; क्योंकि 'है' में किंचिन्मात्र भी विकार नहीं है। (१५।११ मा.)

१८. जिस प्रकार समुद्र और लहरें दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार 'है' और 'हूँ' दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। परन्तु जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र और

लहरें—ये दोनों ही नहीं हैं (वास्तवमें एक ही जल तत्त्व है), ऐसे ही परमात्मतत्त्व ('है')-में 'हूँ' और 'है'—ये दोनों ही नहीं हैं। (१५।११ मा.)

१९. 'नहीं' के द्वारा 'नहीं' को ही देखा जा सकता है, 'है' को नहीं।........'नहीं' की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी 'है' की सत्तासे ही उसकी सत्ता दीखती है। 'है' ही 'नहीं' का प्रकाशक और आधार है। (१५।११ मा.)

२०. व्यक्ति, वस्तु आदिमें जो 'है'-पन दीखता है, वह उन व्यक्ति, वस्तु आदिका नहीं है, प्रत्युत सबमें परिपूर्ण परमात्माका ही है। (१८।२०)

२१. जो प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, वह वास्तवमें 'नहीं' है। पर जो 'नहीं' को प्रकाशित करनेवाला तथा उसका आधार है, वह वास्तवमें 'है' तत्त्व है। उसी तत्त्वको 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। (१८।३९)

***

प्रकीर्ण

१. मनुष्यमात्रको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वह अपने घरोंमें, मुहल्लोंमें, गाँवोंमें, प्रान्तोंमें, देशोंमें, सम्प्रदायोंमें द्वैधीभाव अर्थात् ये अपने हैं, ये दूसरे हैं—ऐसा भाव न रखे। कारण कि द्वैधीभावसे आपसमें प्रेम, स्नेह नहीं होता, प्रत्युत कलह होती है। (१।१)

२. संसारमें प्राय: तीन बातोंको लेकर लड़ाई होती है—भूमि, धन और स्त्री। (१।१)

३. जो स्वयं छोटा होता है, वही ऊँचे स्थानपर नियुक्त होनेसे बड़ा माना जाता है। अत: जो ऊँचे स्थानके कारण अपनेको बड़ा मानता है, वह स्वयं वास्तवमें छोटा ही होता है। परन्तु जो स्वयं बड़ा होता है, वह जहाँ भी रहता है, उसके कारण वह स्थान भी बड़ा माना जाता है। (१।१४)

४. किसी भी कार्यके आरम्भमें मनमें जितना अधिक उत्साह (हर्ष) होता है, वह उत्साह उस कार्यको उतना ही सिद्ध करनेवाला होता है। परन्तु अगर कार्यके आरम्भमें ही उत्साह भंग हो जाता है, मनमें संकल्प-विकल्प ठीक नहीं होते, तो उस कार्यका परिणाम अच्छा नहीं होता। (१।३१)

५. जो मनुष्य अपने सद्विचारोंका निरादर करता है, वह शास्त्रोंकी, गुरुजनोंकी और सिद्धान्तोंकी अच्छी-अच्छी बातोंको सुनकर भी उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपने सद्विचारोंका बार-बार निरादर, तिरस्कार करनेसे सद्विचारोंकी सृष्टि बन्द हो जाती है। (१।४५)

६. मृत्यु और जन्मके समय बहुत ज्यादा कष्ट होता है। उस कष्टके कारण बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं रहती। जैसे लकवा मार जानेपर, अधिक वृद्धावस्था होनेपर बुद्धिमें पहले-जैसा ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही मृत्युकालमें तथा जन्मकालमें बहुत बड़ा धक्का लगनेपर पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं रहता। परन्तु जिसकी मृत्युमें ऐसा कष्ट नही होता अर्थात् शरीरकी अवस्थान्तरकी प्राप्तिकी तरह अनायास ही देहान्तरकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति रह सकती है। (२।१३)

७. **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'**—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! (२।१६ परि.)

८. जिसमें अन्त:करण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं होतीं, उसमें शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण होते हैं। शास्त्र और सन्त-महापुरुष उन्हींके लिये प्रमाण होते हैं, जो श्रद्धालु हैं। (२।१८)

९. अपनेको शरीरमें रखनेसे 'अहंता' अर्थात् 'मैं'-पन पैदा हो गया और शरीरको अपनेमें रखनेसे 'ममता' अर्थात् 'मेरा'-पन पैदा हो गया। (२।१८)

१०. जाल दो प्रकारका है—संसारी और शास्त्रीय। संसारके मोहरूपी दलदलमें फँस जाना संसारी जालमें फँसना है और शास्त्रोंके, सम्प्रदायोंके द्वैत-अद्वैत आदि अनेक मत-मतान्तरोंमें उलझ जाना शास्त्रीय जालमें फँसना है। संसारी जाल तो उलझे हुए छटाँक सूतके समान है और शास्त्रीय जाल उलझे हुए सौ मन सूतके समान है। (२।५३ टि.)

११. सम्पूर्ण शास्त्र, सम्प्रदाय आदिमें जीव, संसार और परमात्मा—इन तीनोंका ही अलग-अलग रूपोंसे वर्णन किया गया है। इसमें विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर जीव मैं हूँ—इसमें सब एकमत हैं; और संसारका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर संसारको छोड़ना है—इसमें सब एकमत हैं; और परमात्माका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर उसको प्राप्त करना है—इसमें सब एकमत हैं। (२।५३)

१२. भगवान्‌के परायण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान्‌में ही महत्त्वबुद्धि हो कि भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ; संसार मेरा नहीं है और मैं संसारका नहीं हूँ। (२।६१)

१३. सबका पालन करनेवाले भगवान्‌की असीम कृपासे जीवन-निर्वाहकी सामग्री समस्त प्राणियोंको समानरूपसे मिली हुई है।.........चाहे प्रारब्धसे मानो, चाहे भगवत्कृपासे, मनुष्यके जीवन-निर्वाहकी सामग्री उसको मिलती ही है। (३।१२)

१४. 'अपने लिये' कर्म करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है और अपने कर्तव्यसे च्युत होनेपर ही राष्ट्रमें अकाल, महामारी, मृत्यु आदि महान् कष्ट होते हैं। (३।१३)

१५. 'देने' के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने' के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है। 'देने' का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने' का भाव पतन करनेवाला होता है। (३।२१)

१६. अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त, कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है, जिससे दूसरोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। (३।२१ वि.)

१७. 'फलकी इच्छा रखकर (अपने लिये) कर्म करनेसे (फल भोगनेके लिये) बार-बार जन्म लेना पड़ता है' आदि...... इस प्रकारके उपदेशोंसे कामनावाले पुरुषोंका कर्मफलपर विश्वास नहीं रहता। फलस्वरूप उनकी (फलमें) आसक्ति तो छूटती नहीं, शुभ-कर्म जरूर छूट जाते हैं। (३।२६)

१८. अगर किसी व्यक्तिको (उसकी उन्नतिके लिये) कोई शिक्षा देनी हो, कोई बात समझानी हो, तो उस व्यक्तिकी निन्दा या अपमान न करके उसके गुणोंकी प्रशंसा करे। गुणोंकी प्रशंसा करते हुए आदरपूर्वक उसे जो शिक्षा दी जायगी, उस शिक्षाका उसपर विशेष असर पड़ेगा। (३।२६)

१९. आकर्षण, प्रवृत्ति और प्रवृत्तिकी सिद्धि सजातीयतामें ही होती है। विजातीय वस्तुओंमें न तो आकर्षण होता है, न प्रवृत्ति होती है और न प्रवृत्तिकी सिद्धि ही होती है। (३।२८ मा.)

२०. कर्मोंको चाहे संसारके अर्पण कर दे, चाहे प्रकृतिके अर्पण कर दे और चाहे भगवान्‌के अर्पण कर दे—तीनोंका एक ही नतीजा होगा; क्योंकि संसार प्रकृतिका कार्य है और भगवान् प्रकृतिके स्वामी हैं। (३।३० वि.)

२१. भूलसे अपने कारण किसीको दुःख हो भी जाय तो उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये। वह क्षमा

न करे तो भी कोई डर नहीं। कारण कि सच्चे हृदयसे क्षमा माँगनेवालेकी क्षमा भगवान्‌की ओरसे स्वतः होती है। (३।३७ वि.)

२२. शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत 'काम' से होता है। प्रारब्धसे (फलभोगके लिये) कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध कर्म नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका फल भोगनेके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत ही नहीं है। (३।३७ परि.)

२३. वास्तवमें धन उतना बाधक नहीं है, जितनी बाधक उसकी कामना है। धनकी कामना चाहे धनीमें हो या निर्धनमें, दोनोंको वह परमात्मप्राप्तिसे वंचित रखती है। (३।३९)

२४. वहम तो यह होता है कि लाभ बढ़ गया, पर वास्तवमें घाटा ही बढ़ा है। जितना धन मिलता है, उतनी ही दरिद्रता (धनकी भूख) बढ़ती है। वास्तवमें दरिद्रता उसकी मिटती है, जिसे धनकी भूख नहीं है। (३।३९)

२५. निर्वाहमात्रके रुपयोंकी अपेक्षा उनका संग्रह अधिक पतन करनेवाला है और संग्रहकी अपेक्षा भी रुपयोंकी गिनती महान् पतन करनेवाली है। (३।४१)

२६. जहाँसे जो बात कही जाती है, वहाँसे वह परम्परासे जितनी दूर चली जाती है, उतना ही उसमें स्वतः अन्तर पड़ता चला जाता है—यह नियम है। (४।२)

२७. आदेश या उपदेश दास अथवा शिष्यको ही दिया जाता है, सखाको नहीं। अर्जुन जब भगवान्‌के शरण हुए, तभी भगवान्‌का उपदेश आरम्भ हुआ। जो बात सखासे भी नहीं कही जाती, वह बात भी शरणागत शिष्यके सामने प्रकट कर दी जाती है। (४।३)

२८. सेवा करनेके लिये तो सब अपने हैं, पर लेनेके लिये कोई अपना नहीं है। संसारकी तो बात ही क्या है, भगवान् भी लेनेके लिये अपने नहीं हैं अर्थात् भगवान्‌से भी कुछ नहीं लेना है, प्रत्युत अपने-आपको ही भगवान्‌के समर्पित करना है। कारण कि जो वस्तु हमें चाहिये और हमारे हितकी है, वह भगवान्‌ने हमें पहलेसे ही बिना माँगे दे रखी है; और ज्यादा दे रखी है, कम नहीं। (४।१४)

२९. जिस संशयात्मा मनुष्यमें न तो ज्ञान (विवेक) है और न श्रद्धा ही है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है, उसका पतन हो जाता है। (४।४० परि.)

३०. सिनेमा देखनेसे चरित्र, समय, नेत्र-शक्ति और धन—इन चारोंका नाश होता है। (५।२)

३१. पराजित व्यक्ति ही दूसरेको पराजित करना चाहता है, दूसरेको अपने अधीन बनाना चाहता है। वास्तवमें अपनेको पराजित किये बिना कोई दूसरेको पराजित कर ही नहीं सकता। (५।१९)

३२. संकल्प न तो अपने स्वरूपका बोध होने देता है, न दूसरोंकी सेवा करने देता है, न भगवान्‌में प्रेम होने देता है, न भगवान्‌में मन लगने देता है, न अपने नजदीकके कुटुम्बियोंके अनुकूल ही बनने देता है। तात्पर्य है कि अपना संकल्प रखनेसे न अपना हित होता है, न संसारका हित होता है, न कुटुम्बियोंकी कोई सेवा होती है, न भगवान्‌की प्राप्ति होती है और न अपने स्वरूपका बोध ही होता है। (६।४)

३३. दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे, अपनेको ही उपदेश दे। आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने। (६।५ परि.)

३४. वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शत्रुके द्वारा हमारा भला ही होता है। वह हमारा बुरा कर ही नहीं सकता। कारण कि वह वस्तुओंतक ही पहुँचता है, स्वयंतक पहुँचता ही नहीं। अतः नाशवान्के नाशके सिवाय और वह कर ही क्या सकता है? नाशवान्के नाशसे हमारा भला ही होगा। वास्तवमें हमारा नुकसान हमारा भाव बिगड़नेसे ही होता है। (६।६ परि.)

३५. संसारमें आचरणोंकी ही मुख्यता है, आचरणोंका ही असर पड़ता है, आचरणोंसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है, आचरणोंसे ही श्रद्धा-अश्रद्धा होती है, स्वाभाविक दृष्टि आचरणोंपर ही पड़ती है और आचरणोंसे ही सद्भाव-दुर्भाव पैदा होते हैं। (६।९)

३६. प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। (६।२३ परि.)

३७. सबमें आत्मदर्शन अथवा सबमें भगवद्दर्शन करना ही ध्यानयोगका अन्तिम फल है। ज्ञानके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें आत्माको और भक्तिके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें भगवान्को देखते हैं। (६।३४ परि.)

३८. संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' किसी आचार्यका दर्शन, मत नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं। (७।५ परि.)

३९. जब भगवान्की तरफ रुचि हो जाय, वही पवित्र दिन है, वही निर्मल समय है और वही सम्पत्ति है। जब भगवान्की तरफ रुचि नहीं होती, वही काला दिन है, वही विपत्ति है। (७।१६)

४०. संसारकी रचना करनेमें भगवान्के पास अपने सिवाय कोई सामग्री नहीं थी, वे तो स्वयं संसारके रूपसे प्रकट हुए हैं। इसलिये यह सब वासुदेव ही है। (७।१९)

४१. कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि अनेक तरहके योगी हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है, पर उनको भगवान् अत्यन्त दुर्लभ नहीं बताते हैं, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही अत्यन्त दुर्लभ बताते हैं। (७।१९ परि.)

४२. भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी जीव नित्य-निरन्तर भगवान्में ही रहते हैं, भगवान्से कभी अलग हो ही नहीं सकते। भगवान्में भी यह ताकत नहीं है कि वे जीवोंसे अलग हो जायँ! अतः प्राणी कहीं भी रहें, वे कभी भी भगवान्की दृष्टिसे ओझल नहीं हो सकते। (७।२६)

४३. अपने एक निश्चयसे जो शुद्धि होती है, पवित्रता आती है, वह यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओंसे नहीं आती। कारण कि 'हमें तो एक भगवान्की तरफ ही चलना है', यह निश्चय स्वयंमें होता है और यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ बाहरसे होती हैं। (७।२८)

४४. परमात्माकी तरफ चलना है, संसारको छोड़ना है और हमें चलना है अर्थात् 'हमें संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होना है'—यही सम्पूर्ण दर्शनोंका सार है। (७।२८)

४५. मात्र शरीर (संसार) भी एक है और मात्र शरीरी (जीव) भी एक है तथा अपरा और परा—ये दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं। (७।३० अ.सा.)

४६. मृत्युकालमें हम जैसा चाहें, वैसा चिन्तन नहीं कर सकते, प्रत्युत हमारे भीतर जैसी वासना होगी,

वैसा ही चिन्तन स्वत: होगा और उसके अनुसार ही गति होगी। (८।६ परि.)

४७. मरनेवाले अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही ऊँच-नीच गतियोंमें जाते हैं, वे चाहे दिनमें मरें, चाहे रातमें; चाहे शुक्लपक्षमें मरें, चाहे कृष्णपक्षमें; चाहे उत्तरायणमें मरें, चाहे दक्षिणायनमें—इसका कोई नियम नहीं है। (८।२५ वि.)

४८. हम सभी परमात्माके अंश हैं, परमात्माकी जातिके हैं, परमात्माके साथी हैं और परमात्माके धामके वासी हैं। हम सभी इस संसारमें आये हैं; हम संसारके नहीं हैं। (९।३ वि.)

४९. भगवान्से विमुख हुए मनुष्य शास्त्रविहित कितने ही शुभ कर्म करें, पर अन्तमें वे सभी व्यर्थ हो जायँगे। (९।१२)

५०. मनुष्य जिस किसीका भी पूजन करे, वह तत्त्वसे भगवान्का ही पूजन होता है। परन्तु पूजकको लाभ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार ही होता है। (९।२३)

५१. भूत-प्रेतोंको अपना इष्ट मानकर उनकी उपासना करना ही पतनका कारण है। उनके उद्धारके लिये श्राद्ध-तर्पण करना अर्थात् उनको पिण्ड-जल देना कोई दोषकी बात नहीं है। (९।२५ वि.)

५२. निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि होनेसे कोई निषिद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती; क्योंकि कामनाके कारण ही निषिद्ध क्रिया होती है (गीता ३।३६-३७)। (९।२५ परि.)

५३. संसार (शरीर) किसीके भी साथ कभी रह नहीं सकता तथा कोई भी संसारके साथ कभी रह नहीं सकता, और परमात्मा किसीसे भी कभी अलग हो नहीं सकते और कोई भी परमात्मासे कभी अलग हो नहीं सकता—यह वास्तविकता है। (१०।३)

५४. यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्तमें जो तत्त्व रहता है, वही तत्त्व उसके मध्यमें भी रहता है (चाहे दीखे या न दीखे) अर्थात् जो वस्तु जिस तत्त्वसे उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तुके आदि, मध्य और अन्तमें (सब समयमें) वही तत्त्व रहता है। (१०।२०)

५५. यद्यपि जिस किसीमें जो भी विशेषता है, वह परमात्माकी है तथापि जिनसे हमें लाभ हुआ है अथवा हो रहा है, उनके हम जरूर कृतज्ञ बनें, उनकी सेवा करें। परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानकर वहाँ फँस न जायँ—यह सावधानी रखें। (१०।४१)

५६. सन्तोंसे ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, संजय और कुन्ती—ये चारों भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको विशेषतासे जाननेवाले थे। (११।२४)

५७. जो बड़े आदमी होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको साक्षात् नामसे नहीं पुकारा जाता। उनके लिये तो 'आप', 'महाराज' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। (११।४१)

५८. जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती है। प्रेममें प्रेमास्पदके संगकी तथा श्रद्धामें आज्ञापालनकी मुख्यता रहती है। (१२।२)

५९. वास्तवमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे सन्मार्गपर चलनेके लिये ही हैं; किन्तु संसारसे रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये मार्गच्युत हो जाती हैं। (१२।१४)

६०. सांसारिक दक्षता (चतुराई) वास्तवमें दक्षता नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्षता होना कलंक ही है; क्योंकि इससे अन्त:करणमें जड़ पदार्थोंका आदर बढ़ता है, जो मनुष्यके पतनका कारण होता है। (१२।१६)

६१. दृश्य पदार्थ (शरीर), देखनेकी शक्ति (नेत्र, मन, बुद्धि) और देखनेवाला (जीवात्मा)—इन तीनोंमें गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी तात्त्विक एकता है। कारण कि तात्त्विक एकताके बिना देखनेका आकर्षण, देखनेकी सामर्थ्य और देखनेकी प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती। (१३।१)

६२. यदि सत्त्वगुणको अपना मानकर उसमें रमण न करे और भगवान्‌की सन्मुखता रहे तो सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्‌के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंको चला जायगा। (१४।१४ परि.)

६३. पीपल, आँवला और तुलसी—इनकी भगवद्भावपूर्वक पूजा करनेसे वह भगवान्‌की पूजा हो जाती है। (१५।१)

६४. वेदोंके अध्ययनमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता नहीं। वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो गयी है, वही वास्तवमें वेदवेत्ता (वेदोंके तात्पर्यको अनुभवमें लानेवाला) है। (१५।१)

६५. हमें पता लगे या न लगे, हम जिन पदार्थोंकी आवश्यकता समझते हैं, जिनमें कोई विशेषता या महत्त्व देखते हैं या जिनकी हम गरज रखते हैं, वे (धन, विद्या आदि) पदार्थ हमसे बड़े और हम उनसे तुच्छ हो ही गये। पदार्थोंके मिलनेमें जो अपना महत्त्व समझता है, वह वास्तवमें तुच्छ ही है, चाहे उसे पदार्थ मिले या न मिले। (१५।७ वि.)

६६. जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना और जो अपना है, उसको अपना न मानना—यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्गमें उन्नति नहीं होती। (१५।८)

६७. प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा—न तो स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न नपुंसक ही हैं। (१५।१६)

६८. किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक तथा बुद्धि श्रद्धापूर्वक लगती है। (१५।२० टि.)

६९. यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यरूपसे प्राप्त की हुई और अपने बल (पुरुषार्थ)-से उपार्जित की हुई चीज स्वाभाविक नहीं होती, प्रत्युत कृत्रिम होती है। (१६।५ मा.)

७०. दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, शरीरके आराम, मान-आदरके लिये करना जड़ता है। (१६।५ परि.)

७१. पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी, वृक्ष, लता आदि जितने भी जंगम-स्थावर प्राणी हैं, उन सभीमें दैवी और आसुरी-सम्पत्तिवाले प्राणी होते हैं। मनुष्यको उन सबकी रक्षा करनी ही चाहिये; क्योंकि सबकी रक्षाके लिये, सबका प्रबन्ध करनेके लिये ही यह मनुष्य बनाया गया है। जो सात्त्विक पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी आदि हैं, उनकी तो विशेषतासे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि उनकी रक्षासे हमारेमें दैवी-सम्पत्ति बढ़ती है। (१६।६)

७२. ऊँचे लोकोंमें अथवा नरकोंमें जानेमें पदार्थ और क्रिया मुख्य कारण नहीं हैं, प्रत्युत भाव मुख्य कारण है। भावका विशेष मूल्य है। जैसा भाव होता है, वैसी क्रिया अपने-आप होती है। (१६।१६ परि.)

७३. संसारके भोग-पदार्थोंका संग्रह, मान, बड़ाई, आराम आदि जो अच्छे दीखते हैं, उनमें जो महत्त्वबुद्धि या आकर्षण है, बस, यही मनुष्यको नरकोंकी तरफ ले जानेवाला है। (१६।२१)

७४. निष्कामभावसे किये गये शास्त्रविहित नारायणबलि, गयाश्राद्ध आदि प्रेतकर्मोंको तामस नहीं मानना

चाहिये; क्योंकि ये तो मृत प्राणीकी सद्‌गतिके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म हैं, जिन्हें मरे हुए प्राणीके लिये शास्त्रके आज्ञानुसार हरेकको करना चाहिये। (१७।४)

७५. हमारे जो पितर हैं, वे दूसरोंके लिये भूत हैं और दूसरेके जो पितर हैं, वे हमारे लिये भूत हैं। पितरोंका पूजन करना तामस नहीं है, पर भूतोंका पूजन करना तामस है। (१७।४ परि.)

७६. शास्त्र, सत्संग, विवेचन, वार्तालाप, कहानी, पुस्तक, व्रत, तीर्थ, व्यक्ति आदि जो-जो भी सामने आयेंगे, उनमें जो सात्त्विक होगा, वह सात्त्विक मनुष्यको, जो राजस होगा, वह राजस मनुष्यको और जो तामस होगा, वह तामस मनुष्यको प्रिय लगेगा। (१७।७)

७७. अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इन चारोंके दानमें पात्र-कुपात्र आदिका विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इनमें केवल दूसरेकी आवश्यकताको ही देखना चाहिये। (१७।२२ वि.)

७८. सबसे बड़ी शुद्धि (दोष-निवृत्ति) होती है—'मैं तो केवल भगवान्‌का ही हूँ', इस प्रकार अहंता-परिवर्तनपूर्वक भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य बनानेसे। इससे जितनी शुद्धि होती है, उतनी कर्मोंसे नहीं होती। (१७।२२ वि.)

७९. इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है। (१८।१२ टि.)

८०. कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परन्तु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युञ्जय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो। (१८।१२ वि.)

८१. संग, शास्त्र और विचार—इन तीनोंसे अच्छे या बुरे संस्कारोंको बल मिलता है, जिससे नये कर्म बनते हैं। (१८।१४ परि.)

८२. अपना युद्ध करनेका विचार भी नहीं है, कोई स्वार्थ भी नहीं है, पर परिस्थितिवशात् केवल कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुआ है, वह 'धर्ममय युद्ध' है। (१८।४३ टि.)

८३. आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्संग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्यजन्मका उद्देश्य सिद्ध हो सके। (१८।४४)

८४. प्रकृतिके परवश हुए मनुष्यका तो 'करना' भी कर्म है और 'न करना' भी कर्म है। (१८।५९)

८५. आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोष नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतका खण्डन करना, उनके मतसे घृणा करना ही दोष है। (१८।६७ टि.)

८६. आजकल मनुष्योंमें पारमार्थिक बातोंको जाननेकी जो विशेष व्याकुलता नहीं दिखायी देती, उसका कारण है कि वे धन, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, भोग, ऐश्वर्य आदि क्षणिक सुखोंको लेकर सन्तोष करते रहते हैं। इससे उनकी (वास्तविकताको जाननेकी) व्याकुलता दब जाती है। (१८।७६)

***

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

संजीवनी-कोश

१. विषयानुक्रमणिका
२. साधक-संजीवनीमें आयीं गीता-सम्बन्धी मुख्य बातें
३. साधक-संजीवनीमें आयीं व्याकरण-सम्बन्धी बातें
४. साधक-संजीवनीमें आयीं कहानियाँ
५. उद्धृत श्लोकानुक्रमणिका
६. हिन्दी पद्यानुक्रमणिका
७. नामानुक्रमणिका
८. पारिभाषिक शब्दावली (साधक-संजीवनीके अनुसार)

विषयानुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

उ

ऋ

ए

क

ख

ग

च

ज

त

द

न

प

ब

भ

म

य

व

श

ह

***

साधक-संजीवनीमें आयीं गीता-सम्बन्धी मुख्य बातें

१. गीतामें भक्तिकी विशेषता—न. नि.; १८।५५ वि.
२. गीतामें आये विलक्षण श्लोक—न. नि.
३. गीताका बिना पुस्तक उलटा पाठ करनेसे शान्ति—प्रा.
४. गीतामें करणसापेक्ष शैलीवाले श्लोक—प्रा.
५. गीतामें ज्ञानयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—२।१५
६. गीतामें 'तस्मात्' पदका प्रयोग—२।१८ टि.
७. गीतामें कर्मयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—२।७१
८. गीतामें भगवान्‌के अज, अव्यय और ईश्वर—इन तीनों रूपोंको जानने और न जाननेकी बात—४। ६ टि.
९. गीतामें मुख्य निवृत्तिपरक श्लोक—४।२१
१०. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका मुख्य श्लोक—४।२३
११. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे सम्पूर्ण पापोंका नाश बतानेवाले श्लोक—४।२३ परि.; ७।१९; १६।५
१२. गीतामें कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्मप्राप्ति बतानेवाले श्लोक—५।५ परि.
१३. गीतामें सभी साधनोंकी कसौटी बतानेवाला श्लोक—६।२२
१४. गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—६।२८
१५. गीतामें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग—७।१९ परि., टि.; ८।१५
१६. गीतामें केवल भक्तके लिये प्रयुक्त शब्द—७।१९ परि., टि.
१७. गीतामें सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी उपासनाका वर्णन—७।३० टि.
१८. गीतामें परमात्माके विषयमें आये भिन्न-भिन्न वचनोंका तात्पर्य—८।४ वि.
१९. गीताके एक ही श्लोकमें सबसे अधिक (पाँच) सम्बोधन—१०।१५
२०. गीतामें एक निश्चयकी महिमा—१०।३६
२१. गीतामें आयीं कुल विभूतियोंकी गणना—१०।४० परि.
२२. गीतामें 'माम्' पदका प्रयोग—१०।४० परि.
२३. गीतामें भगवान्‌द्वारा कथित सबसे लम्बा (तिहत्तर श्लोकोंका) प्रकरण—१२।२ से १४।२० तक
२४. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगमें निर्मम-निरहंकार होनेकी बात—२।७१; ७।५; १२।१३ और १८।५३
२५. गीतामें एक ही परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन—१३।१२ परि.
२६. गीतामें विभूति-वर्णन—१५।१५ वि.
२७. गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (प्रकृति, जीव और परमात्मा)-का एक साथ वर्णन—१५।१६ टि.
२८. गीतामें क्षर (जगत्), अक्षर (जीव) और पुरुषोत्तम (परमात्मा)-का तीनों लिंगोंमें वर्णन—१५।१६ टि.; ७। १९ परि.
२९. गीतामें दैवी-सम्पत्तिका वर्णन—१६।६
३०. गीतामें 'सत्त्व-रज-तम' के वर्णनमें व्यतिक्रम—१८।७—९

३१. गीतामें कई रीतियोंसे प्रकृतिद्वारा होनेवाली क्रियाओंका वर्णन—१८।१४ टि.
३२. गीतामें तीनों योगोंमें भगवत्प्रेम—१८।५५ वि.
३३. गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व—१८। ६२
३४. गीतामें आये भक्तिपरक श्लोक—१८।६३ टि.
३५. गीताके तीसरे अध्यायमें कर्तव्य-पालनकी आवश्यकता बतानेवाले श्लोक—१८।६६ टि.
३६. गीतामें अनन्यभक्तिकी महिमा—१८।६६
३७. गीतामें भगवान्‌के लिये तीन बार 'अच्युत' सम्बोधन देनेका अभिप्राय—१८।७३

साधक-संजीवनीमें आयीं
व्याकरण-सम्बन्धी बातें

❋❋❋

'साधक-संजीवनी' में मूल गीताके पाठभेद—

१. **'यन्मनोऽनुविधीयते'** (२।६७)— अन्य गीतापाठमें **'यन्मनोऽनु विधीयते'** ऐसा पाठ मिलता है।

२. **'प्रतिजानीहि'** (९।३१)—अन्य गीतापाठमें **'प्रति जानीहि'** ऐसा पाठ मिलता है।

३. **'शठोऽनैष्कृतिकः'** (१८।२८)—अन्य गीतापाठमें **'शठो नैष्कृतिकः'** ऐसा पाठ मिलता है।

४. **'य इदं परमम्'** (१८।६८)—अन्य गीतापाठमें **'य इमं परमम्'** ऐसा पाठ मिलता है।

साधक-संजीवनीमें आयीं कहानियाँ

१. त्वष्टाद्वारा इन्द्रका वध करनेके लिये यज्ञ करना—२।४० टि.
२. ब्रह्माजीके द्वारा तीन 'द' (दमन, दान, दया)-का उपदेश (बृहदारण्यकोपनिषद्)— ३।१४
३. वर्षा न होनेपर किसान-बालकोंका हल चलाना और परिणामस्वरूप वर्षा होना—३।१४
४. फजीती और बदमाश—३।३९ वि.
५. प्रज्ञाचक्षु सन्तका मन्दिर जाना—६।४४
६. ध्रुवकी कथा—७।१६
७. एक वैरागी बाबाद्वारा सोनेकी मूर्ति बेचना—७।१९
८. संतको चोर समझकर लाठी मारना—७।१९
९. एक साधु और गोपियोंमें वार्ता—७।१९
१०. चौरासीका चक्कर (द्वार आनेपर सिरपर खुजली आना)—९।३
११. नामदेवजीका घी लेकर कुत्तेके पीछे भागना—९।२४ टि.
१२. नामदेवजीके द्वारा प्रेतका उद्धार—९।२५ टि.
१३. कर्णपिशाचिनीकी उपासनासे दुर्गति—९।२५ वि.
१४. भावपूर्वक लगाये हुए भोगको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं—९।२६ वि.
१५. सत्यकामका गुरुके आज्ञापालनसे कल्याण—१३।२५ परि.
१६. भगवान्‌द्वारा यक्षरूपसे इन्द्रका अभिमान दूर करना—१५।१२ परि.
१७. अतिथि-सत्कार करनेसे कपोत-कपोतीका कल्याण (महाभारत)—१६।६ टि.
१८. धनसे जीवन नहीं चलता—१६।११
१९. एक सुनारकी कहानी (पापका फल भोगना ही पड़ता है)—१८।१२ टि.
२०. श्यामलाल और रामलालकी कहानी (फौजदारी और दीवानी कोर्ट)—१८।१२ वि.
२१. धर्मका पालन सुख पानेकी इच्छासे नहीं किया जाता—१८।१२ टि.
२२. बनिया और चमार (पाप भगवान्‌के अर्पित नहीं होते)—१८।१२ वि.
२३. वेदव्यासजीके द्वारा कलियुगको, स्त्रियोंको तथा शूद्रोंको श्रेष्ठ बताना—१८।४४
२४. विभीषणके प्रति भगवान् श्रीरामकी शरणागतवत्सलता—१८।६६
२५. माँ इधर क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी?—१८।६६ टि.
२६. वृक्षकी महिमा है या लताकी? इसका हनुमान्‌जी द्वारा उत्तर—१८।६६ वि.
२७. एक प्रज्ञाचक्षु सन्तकी घटना—१८।६६ वि.
२८. बकरीद्वारा सिंहकी शरण लेना—१८।६६ वि.
२९. कुलटा स्त्री और मौलवी—१८।६६ वि.
३०. भगवान्‌का 'फनन्य' भक्त—१८।६६ वि.
३१. एक अनभिज्ञ बालकका व्याख्यान—१८।७०
३२. गीता पासमें रखनेसे चुड़ैलसे छुटकारा—१८।७१

***

उद्‌धृत श्लोकानुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

ओ

क

ख

ग

च

ज

त

द

ध

न

प

ब

भ

म

श

स

ह

✻✻✻

हिन्दी पद्यानुक्रमणिका

छ

ज

त

द

ध

न

स

ह

नामानुक्रमणिका

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह

पारिभाषिक शब्दावली

(साधक-संजीवनीके अनुसार)

अक्षौहिणी सेना—एक अक्षौहिणी सेनामें २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सैनिक होते हैं। (१।३ टि.)

अन्न—प्राणोंको धारण करनेके लिये जो खाया जाता है, वह 'अन्न' कहलाता है। (३। १४)

अभिमान—अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव होना। (१६।४)

अमर्ष—किसीके उत्कर्ष (उन्नति)-को सहन न करना। (१२।१५)

अर्पण—आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। (९।२७ परि.)

असुर—जो प्राणोंको बनाये रखना चाहते हैं, प्राणोंमें ही जिनकी रति है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोग—**'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः।'** (१६।५)

अहंकृति—शरीरके साथ तादात्म्य माननेसे शरीरकी क्रियाको लेकर 'मैं करता हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न होना 'अहंकृति' है। (१८।१७)

अहंस्फूर्ति—गाढ़ नींदसे उठते ही सबसे पहले मनुष्यको अपने होनेपन (सत्तामात्र)- का भान होता है, इसको 'अहंस्फूर्ति' कहते हैं। (१८।१७)

अहिंसा—(१) मन वाणी और शरीरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। (१३।७)

(२) शरीर, मन, वाणी, भाव आदिके द्वारा किसीका भी किसी प्रकारसे अनिष्ट न करनेको तथा अनिष्ट न चाहना। (१६।२)

आततायी—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार हुआ, धनको हरनेवाला, जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छः आततायी कहलाते हैं। (१।३६)

आधि और व्याधि—मनकी चिन्ता 'आधि' (मानसिक रोग) है और शरीरका रोग 'व्याधि' (शारीरिक रोग) है। आधि भी दो तरहकी होती है—१. पागलपन और २. चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि। (७।१६ टि.; १८।१२)

आर्जव—शरीर, वाणी, आदिके व्यवहारमें सरलता हो और मनमें छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हों अर्थात् सीधा-सादापन हो, उसका नाम 'आर्जव' है। (१८।४२)

आसक्ति—अपने स्वरूपसे विजातीय (जड़) पदार्थोंके प्रति आकर्षण। (३।१९)

ईश्वर—'ईश्वर' शब्द सगुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—शासन करनेवाला। (१५।१७)

उदासीन—उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपातसे रहित। (१२।१६)

उद्वेग—मनका एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जाना। (१२।१५)

ऋषि—**'ऋष्'** धातुका अर्थ है—ज्ञान। उस ज्ञान (विवेक)-को महत्त्व देनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं। (५।२५)

करण—पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दस 'बहिःकरण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्तःकरण'

हैं। (१८।१४)

कर्तव्य—(१) कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको कर सकते हैं और जिसको अवश्य करना चाहिये। (३।१९)

(२) केवल दूसरोंके हितके लिये किया जानेवाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जो कर्म अपने लिये किया जाता है, वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्ममात्र होता है। (४।३१)

काम—(१) वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। (३।३७ परि.)

(२) नाशवान् संसारमें थोड़ी भी महत्त्वबुद्धिका होना 'काम' है। (३।३९)

कामना—अप्राप्तको प्राप्त करनेकी चाह 'कामना' है। अन्त:करणमें जो अनेक सूक्ष्म कामनाएँ दबी रहती हैं, उनको **'वासना'** कहते हैं। वस्तुओंकी आवश्यकता प्रतीत होना **'स्पृहा'** है। वस्तुमें उत्तमता और प्रियता दीखना **'आसक्ति'** है। वस्तु मिलनेकी सम्भावना रखना **'आशा'** है। और अधिक वस्तु मिल जाय—यह **'लोभ'** या **'तृष्णा'** है। वस्तुकी इच्छा अधिक बढ़नेपर **'याचना'** होती है। ये सभी **'काम'** के ही रूप हैं। (३।३९)

कारक पुरुष—जो महापुरुष भगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं और भगवद्धाममें विराजते हैं, वे 'कारक पुरुष' कहलाते हैं। (४।८ टि.)

कूटस्थ—जो कूट (अहरन)-की तरह स्थित रहता है—**'कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थ:।'** (६।८)

क्षण—कमलके पत्तेपर सूई मारी जाय तो सूईके दूसरी तरफ निकलनेमें तीन क्षण लगते हैं—पहले क्षणमें स्पर्श, दूसरे क्षणमें छेदन और तीसरे क्षणमें पार निकलना। (१५।१ टि.)

क्षमा—बिना कारण अपराध करनेवालेको दण्ड देनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराध सह लेना और उसको माफ कर देना। (१६।३)

गति—इसके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। (७।१८ परि.)

चेतन और जड़—जो अपनेको तथा दूसरेको भी जाने, वह 'चेतन' है और जो अपनेको तथा दूसरेको भी नहीं जाने, वह 'जड़' है। (७।२० टि.)

जगत्—जो परिवर्तनशील है, उसको जगत् कहते हैं—**'गच्छतीति जगत्।'** (७।६)

जाति—'जाति' शब्द **'जनि प्रादुर्भावे'** धातुसे बनता है, जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो 'कृति' शब्द होता है, जो **'डुकृञ् करणे'** धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है। (४।१४ परि.)

तप—भूख-प्यास, सरदी-गरमी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर इस तपमें भूख-प्यास आदिको जानकर सहते हैं। वास्तवमें साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना 'तप' है। (१६।१)

दम—(१) इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना। (४।३३)

(२) जिस इन्द्रियसे जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रियको जब जहाँसे हटाना चाहें, तब वहाँसे हटा लें—इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करना 'दम' है। (१८।४२)

दम्भ—मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि प्राप्त करनेके लिये, अपनी वैसी स्थिति न होनेपर भी वैसी

स्थिति दिखानेका नाम 'दम्भ' है। (१६।४)

दया—(१) दूसरोंको दु:खी देखकर उनका दु:ख दूर करनेकी भावना। (१६।२)

(२) भक्तलोग भगवान्‌की दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। मात्र मनुष्योंको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है। (१६।२)

दर्प (घमण्ड)—धन-वैभव, जमीन-जायदाद, मकान-परिवार आदि ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव होना। (१६।४)

दान—लोकदृष्टिमें जिन वस्तुओंको अपना माना जाता है, उन वस्तुओंको सत्पात्रका तथा देश, काल, परिस्थिति आदिका विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरोंको वितीर्ण कर देना। (१६।१)

द्वन्द्व—एक ही विषयमें एक ही वस्तुमें दो भाव कर लेना। (१।४५ टि.)

धर्म—(१) 'धर्म' नाम दो बातोंका है—(क) दान करना, प्याऊ लगाना, अन्नक्षेत्र खोलना आदि परोपकारके कार्य करना और (ख) वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना। (२।४०)

(२) धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है। (२।३९ परि.)

धृति (धैर्य)—(१) किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें विचलित न होकर अपनी स्थितिमें कायम रहनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। (१६।३)

(२) बुद्धिके निश्चयको, विचारको दृढ़तासे ठीक तरह रखनेवाली और अपने लक्ष्यसे विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्तिका नाम 'धृति' है। (१८।२९)

(३) अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। (१८।३३)

नैष्कर्म्य—जिस स्थितिमें मनुष्यके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते, उस स्थितिको 'निष्कर्मता' कहते हैं। (३।४)

पण्डित—सत्-असत्-विवेकवती बुद्धिका नाम 'पण्डा' है। वह 'पण्डा' जिनकी विकसित हो गयी है, वे 'पण्डित' हैं। (२।११)

परमात्मा—'परमात्मा' शब्द निर्गुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवोंकी आत्मा। (१५।१७)

परलोक—मरनेके बाद जो जन्म होता है, वह चाहे मृत्युलोकमें हो, चाहे किसी अन्य लोकमें हो, चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी योनिविशेषमें हो, वह सब 'परलोक' ही है। (१६।८ टि.)

परिग्रह—ममता-आसक्तिपूर्वक अपने सुखभोग और आरामके लिये धनादि पदार्थोंका संग्रह करना। (४।५)

पिशुनता (चुगली)—किसीके दोषको दूसरेके आगे प्रकट करके दूसरोंमें उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना। (१६।२)

प्रकृति—जिसमें अच्छी रीतिसे क्रियाशीलता हो, उसको 'प्रकृति' कहते हैं—'**प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः।**' (१८।११)

प्रमाद—(१) करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको करना। (१४।७)

(२) बीड़ी-सिगरेट, ताश-चौपड़, खेल-तमाशे आदि कार्योंमें लगना। (१४। १३)

भय—इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। (१२। १५)

भूत-प्रेत—जो भूतयोनिमें चले गये हैं, उन्हें 'भूत' कहते हैं और जो मर गये हैं, उन्हें 'प्रेत' कहते हैं। (१७। ४)

भोग—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय, शरीरका आराम, मान और नामकी बड़ाई—इन (आठों)-के द्वारा सुख लेनेका नाम 'भोग' है। (२। ४४)

मद—हमारे पास इतनी विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि है—इस बातको लेकर नशा-सा आ जाना 'मद' है। (१६। १०)

महात्मा—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा। (७। १९ परि.)

महारथी—जो शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंमें प्रवीण है और युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, वह वीर पुरुष 'महारथी' कहलाता है। (१। ६)

मान-बड़ाई—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह 'मान' का सुख है। नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह 'बड़ाई' का सुख है। (१८। १२)

मार्दव—बिना कारण दुःख देनेवालों और वैर रखनेवालोंके प्रति भी अन्तःकरणमें कठोरताका भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलताका रहना। (१६। २)

मोह—शरीरमें अहंता और ममता करना तथा शरीर-सम्बन्धी माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र, वस्तु, पदार्थ आदिमें ममता करना 'मोह' है। (२। ५२)

यक्ष-राक्षस—'यक्ष' में धन-संग्रहकी मुख्यता और 'राक्षस' में दूसरोंका नाश करनेकी मुख्यता होती है। (१७। ४)

यज्ञ—(१) गीताके अनुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। (३। ९)

(२) निष्कामभावपूर्वक किये जानेवाले लौकिक और शास्त्रीय सभी विहित कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। (३। १४)

यज्ञशेष—यज्ञकी सिद्धिके बाद स्वतः अवशिष्ट रहनेवाला 'योग' अपने लिये होता है। यह योग (समता) ही यज्ञशेष है। (३। १३)

यज्ञार्थ कर्म—दूसरोंको सुख पहुँचाने तथा उनका हित करनेके लिये जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ कर्म हैं। (३। ९)

यत्न—भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चैनसे न रहा जाय, 'यत्न' कहलाती है। (१५। ११)

योग—(१)—१. '**युजिर् योगे**'—समरूप परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्ध, २. '**युज् समाधौ**'—चित्तकी स्थिरता अर्थात् समाधिमें स्थिति, और ३. '**युज् संयमने**'—संयमन, सामर्थ्य, प्रभाव। (प्रा.)

(२) जीवका भगवान्‌के साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसका नाम 'योग' है। (१८। ७५)

योगक्षेम—(१) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। (२। ४५ टि.; ९। २२)

(२) 'योग' नाम भगवान्‌के साथ सम्बन्धका है और 'क्षेम' नाम जीवके कल्याणका है। (९। २२)

राग—संसारके पदार्थोंका मनपर जो रंग चढ़ जाता है, उसको राग कहते हैं। (२। ५६)

लज्जा—शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें संकोच होना। (१६।२)

लोक—(१) इसके तीन अर्थ होते हैं—१. मनुष्यलोक आदि लोक, २. उन लोकोंको रहनेवाले प्राणी, और ३. शास्त्र (वेदोंके अतिरिक्त सब शास्त्र)। (३।२०)

(२) जिनके साथ जीवकी तात्त्विक एकता अथवा स्वरूपकी एकता नहीं है, ऐसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रका नाम 'लोक' है। (१५।७)

वर्णसंकर—पुरुष और स्त्री—दोनों अलग-अलग वर्णके होनेपर उनसे जो सन्तान पैदा होती है, वह 'वर्णसंकर' कहलाती है। [परस्परविरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो बनता है, उसको 'संकर' कहते हैं।] (१।४१)

व्यभिचार—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। (१८।३३ परि.)

शम—(१) मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना। (४। ३३)

(२) मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाय और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय—इस प्रकार मनके निग्रहको 'शम' कहते हैं। (१८।४२)

श्रद्धा—(१) ईश्वर, शास्त्र आदिपर पूज्यभावपूर्वक प्रत्यक्षसे भी अधिक विश्वास करना। (४।३३)

(२) जिसे हम अपने अनुभवसे नहीं जानते, पर पूर्वके स्वाभाविक संस्कारोंसे, शास्त्रोंसे, सन्त-महात्माओंसे सुनकर पूज्यभावसहित विश्वास कर लेते हैं, उसका नाम 'श्रद्धा' है। (१७। ३ मा.)

सत्य—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे जैसा सुना, देखा, पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम—वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना। (१६।२)

संकल्प—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर मनमें जो तरह-तरहकी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दीखती है, वह स्फुरणा 'संकल्प'का रूप धारण कर लेती है। (६।२४)

संन्यास—अच्छी तरहसे रखनेका नाम 'संन्यास' है—'**सम्यक् न्यासः संन्यासः।**' तात्पर्य है कि प्रकृतिकी चीज सर्वथा प्रकृतिमें देने (छोड़ देने) और विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' है। (१८।१)

सुहृद् और मित्र—जो माताकी तरह ही, पर ममतारहित होकर बिना किसी कारणके सबका हित चाहनेके और हित करनेके स्वभाववाला होता है, उसको 'सुहृद्' कहते हैं और जो उपकारके बदले उपकार करनेवाला होता है, उसको 'मित्र' कहते हैं। (६।९)

स्पृहा—(१) शरीरके निर्वाहमात्रके लिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी जो आवश्यकता दीखती है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये प्राप्त और अप्राप्त वस्तु आदिकी जो जरूरत दीखती है, उसका नाम 'स्पृहा' है। (२।७१)

(२) जीवन-धारणमात्रके लिये जिनकी विशेष जरूरत होती है, उन चीजोंकी सूक्ष्म इच्छाका नाम 'स्पृहा' है। (१८।४९)

स्वाध्याय—अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये भगवन्नामका जप और गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदिके पठन-पाठनका नाम 'स्वाध्याय' है। वास्तवमें तो '**स्वस्य अध्यायः (अध्ययनम्) स्वाध्यायः**'

के अनुसार अपनी वृत्तियोंका, अपनी स्थितिका ठीक तरहसे अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। (१६।१)

स्वाभिमान—दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे 'अभिमान' होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे 'स्वाभिमान' होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ। अभिमान होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर स्वाभिमान होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। (१७।३ परि.)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
साधन करनेके लिये
साधकको और कहीं जानेकी,
किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं है,
केवल एक पुस्तक
‘साधक-संजीवनी’
पासमें रखे। अन्य पुस्तककी
उम्रभर जरूरत नहीं !
—परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा
५.५.२०००, सायं ४, ऋषिकेश में
दिये प्रवचन से।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
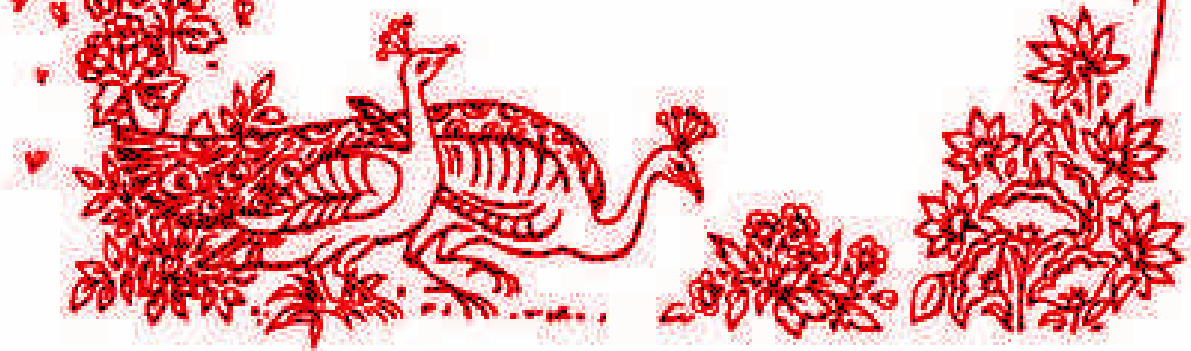
परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित

'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. **संजीवनी-सुधा**—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक।
२. **सीमाके भीतर असीम प्रकाश**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
३. **बिन्दुमें सिन्धु**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
४. **नये रास्ते, नयी दिशाएँ**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
५. **अनन्तकी ओर**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
६. **स्वातिकी बूँदें**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
७. **अनुभव-वाणी**—चुने हुए अनमोल वचन। अँग्रेजी-भाषान्तरसहित।
८. **सहज गीता** (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये 'साधक-संजीवनी' के अनुसार गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ।
९. **हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं** (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्भुत वर्णन।
१०. **कृपामयी भगवद्गीता** (गुजरातीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणताका वर्णन।
११. **लक्ष्य अब दूर नहीं** (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन।
१२. **सहज समाधि भली** (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन।
१३. **अपने प्रभुको पहचानें**—भगवान्‌के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन।
१४. **एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा** (क्या करें, क्या न करें)
१५. **विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी**—प० श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित।
१६. **गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य**
१७. **क्या करें, क्या न करें ?**—आचार-व्यवहार संबंधी शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह।
१८. **भवन-भास्कर** (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें।
१९. **सुखपूर्वक जीनेकी कला**—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर।
२०. **क्या आप ईश्वरको मानते हैं ?**—साधकोंके लिये चेतावनी।
२१. **बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता** (अर्थसहित)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं।
२२. **ग्लोब गीता**—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता।

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com